अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड १-३

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

ओ३म्

सौजन्य से :- स्वामी [illegible] [illegible] पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट, पानीपत

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड १-३]

भाष्यकार–

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क

जि० सोनीपत– १३१००१

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य–

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक–
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क
(सोनीपत, हरियाणा)

द्वितीय वार– ५०० प्रति
फाल्गुन, सं॰ २०६२,
मार्च, सन् २००६

मूल्य– १००.००

मुद्रक–
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

प्रकाशकीय वक्तव्य

वेदविद्याविशारद स्वर्गीय पण्डित श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड की अनुपम कृति अथर्ववेदभाष्य के अन्तिम भाग (काण्ड १-३) का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९९२ में किया गया था। इस वेदभाष्य के जो-जो भाग समाप्त हो जाते हैं, उनका पुनः प्रकाशन जनता के सहयोग से श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा किया जाता है। अन्तिम भाग समाप्त हो गया था, इसलिए उसका पुनः प्रकाशन 'श्री रामदेव धींगड़ा पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट (पानीपत)' के सात्त्विक सहयोग से किया जा रहा है जिसका संक्षिप्त परिचय अग्रिम पृष्ठ पर दिया जा रहा है। हम उक्त ट्रस्ट का, इस सात्त्विक सहयोग के लिए, हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

चौधरी प्रतापसिंह ने अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के भाष्य का प्रकाशन १९७५ में रा॰ ब॰ चौ॰ नारायणसिंह प्रतापसिंह ट्रस्ट करनाल से किया था। सन् १९८६ में चौ॰ प्रतापसिंह के असामयिक निधन और उनके उत्तराधिकारी पुत्र की इस कार्य में अरुचि के कारण इस महत्त्वपूर्ण कार्य में कुछ बाधा उपस्थित हुई। उस समय आर्य जनता से आर्थिक सहयोग की अभ्यर्थना की गई। परन्तु स्वल्प आर्थिक सहयोग ही प्राप्त हो सका। फलस्वरूप रामलाल कपूर ट्रस्ट ने अपने साधनों से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। साधनों के सीमित होने के कारण ट्रस्ट ने सीमित प्रतियाँ ही छापीं। समय-समय पर भाष्य-भागों के समाप्त होने पर जनता के आर्थिक सहयोग से उनका प्रकाशन पुनः किया जाता रहा है। आशा है, आर्यजनता 'श्री रामदेव धींगड़ा ट्रस्ट' के समान आगे आकर इस महत्त्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन में सहयोग देती रहेगी। उक्त ट्रस्ट के अधिकारियों से भी निवेदन किया जाता है कि इसी उदारता के साथ आगे भी ट्रस्ट के प्रकाशन कार्य में सहयोग देते रहेंगे।

राधा प्रेस, गांधी नगर, दिल्ली के स्वामी श्री बंशीवल्लभ शर्मा हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सहयोग से उत्तम छपाई हो सकी। श्री रमेश आर्य पुस्तक-बन्धनालय के सत्सहयोग से उत्तम साज-सज्जा और जिल्द तैयार हुई, एतदर्थ उनका धन्यवाद।

रामलाल कपूर ट्रस्ट परिसर, | विजयपाल विद्यावारिधि
रेवली, सोनीपत, | १० मार्च सन् २००६
फाल्गुन शुक्ल एकादशी, सं॰ २०६२

रामदेव धींगड़ा पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट

श्री रामदेव धींगड़ा पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट के संस्थापक श्री रामदेव धींगड़ा अविभाजित भारत में जन्मे एवं जीवन में व्यावसायिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार की जीवनशैली का उन्होंने अनुभव किया। वे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे आदि में विना भेदभाव के वेद के उपदेश सुनाया करते थे। गांधीवादी विचारधारा को अपनाने वाले श्री रामदेव जी न केवल एक विद्वान् एवं सरल जीवन जीने वाले थे, अपितु उनका आचरण उन मेघों के समान था जो संसार से जल लेकर उसका सर्वत्र वितरण करते हैं, इसी लिए अपनी सम्पूर्ण सम्पदा स्वसुखार्थ व्यय न करके उसकी परिणति एक ट्रस्ट के रूप में की जो वेदज्ञान का प्रचार एवं गरीब तथा अनाथों की सहायता कर सके।

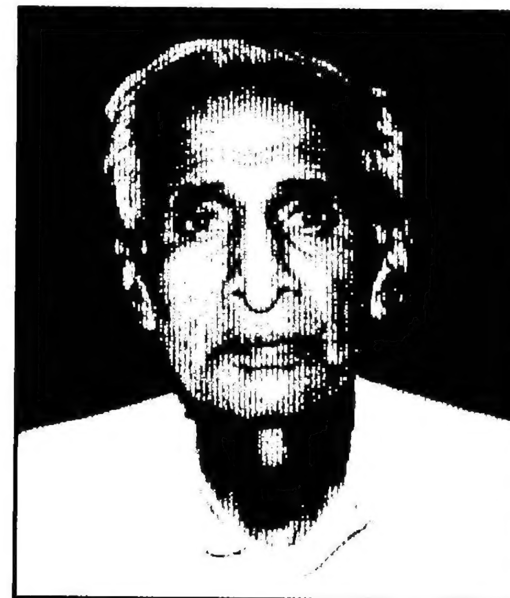
इस ट्रस्ट के संस्थापक सचिव श्री ठाकुरदास बत्रा जो व्यक्तिगत जीवन में विद्वच्चञ्चरीक, यति, स्वाध्यायशील एवं उपासक होने के साथ-साथ उदारमना दानी भी थे उन्होंने न केवल अपने अभिन्न मित्र श्री रामदेव जी को ट्रस्ट की स्थापना की प्रेरणा दी अपितु ट्रस्ट की स्थापना के पूर्व एवं पश्चात् इसके संविधान के निर्माण में, विद्वज्जनों से ट्रस्ट की कार्यकारिणी को सुशोभित करने में, माननीय न्यायालय से अनुमति प्राप्त कर रामदेव जी की सम्पत्ति को ट्रस्ट में जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इन उपर्युक्त महाशयों के पदचिह्नों पर चलते हुए ट्रस्ट इससे पूर्व 'अमरता की ओर' एवं 'गीता में सदाचार' दो पुष्पों को जनता को समर्पित कर चुका है। साथ ही अनेक प्रतिभाशाली छात्रों, विधवाओं, अनाथों को विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान कर चुका है तथा कर रहा है। ट्रस्ट के वर्त्तमान में अधिकारी और सदस्य निम्नलिखित हैं–

सचिव– रामदेव धींगड़ा पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट,
७८, सुखदेव नगर, पानीपत। दूरभाष– ४००६६८७।



स्व० स्वामी रामदेव धींगड़ा
संस्थापक रामदेव धींगड़ा पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)



स्व० ठाकुरदास बत्रा

भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यालंकार का संक्षिप्त परिचय

अथर्ववेद के प्रस्तुत भाष्य के रचयिता पण्डितप्रवर श्रद्धेय श्री विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका विद्याध्ययन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की गंगापार की तपःस्थली में हुआ था, जहाँ उन्होंने महात्मा मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी) के सांनिध्य में व्रत साधना करते हुए विविध विद्याओं का उपार्जन किया था। गुरुकुल कांगड़ी के सर्वप्रथम स्नातक थे पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, जो दोनों ही गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुन्शीराम जी के सुपुत्र थे तथा संवत् १९६८ (सन् १९१२) में स्नातक बने। आगामी वर्ष कोई स्नातक नहीं बना। उसके बाद संवत् १९७० (सन् १९१४) में जो पाँच स्नातक बने, उन्हीं में पं० विश्वनाथ विद्यालंकार भी थे। इस प्रकार वे गुरुकुल के प्रथम परिपक्व फलों में से थे। वेदों का पाण्डित्य प्राप्त करने में स्वामी दयानन्द सरस्वती को गुरु मानकर उनके ग्रन्थों से तथा उनके वेदभाष्य से सहायता लेकर किये गये उनके अपने परिश्रम का ही अधिक योगदान था, क्योंकि उस समय स्वामी दयानन्द की पद्धति से वेद पढ़ानेवाले विद्वान् उपलब्ध नहीं थे। वेदों के अतिरिक्त श्री पण्डित जी भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्र, रसायनशास्त्र, खगोल ज्योतिष, आंग्लभाषा आदि के भी अच्छे विद्वान् थे। पूज्य पण्डित जी का एक संक्षिप्त परिचय उन्हीं के शब्दों में, जो उन्होंने स्वयं कुछ पंक्तियों में लिखा था, नीचे दिया जा रहा है।

"मेरे पिता वजीराबाद, जिला गुजरांवाला (जो सम्प्रति पाकिस्तान में है) के निवासी थे। उनका नाम था लाला प्रीतमदास। इन दिनों देश भर में आर्यसमाज द्वारा गुरुकुलसम्बन्धी प्रचार से तथा गुरुकुल शिक्षा पद्धति के पक्ष में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी जी आदि के विचारों से प्रेरणा पाकर मेरे पिताजी ने श्री मुन्शीराम जी को मुझे गुरुकुल भेजने का वचन दे दिया। मैं उस समय लगभग ९ वर्ष का था। प्रारम्भ में वैदिक पाठशाला गुजरांवाला में मुझे प्रविष्ट कराया गया। यह वैदिक पाठशाला गुरुकुल का प्रारम्भिक बीज था और इसके संचालक श्री मुन्शीराम जी थे। स्व० श्री पं० गंगादत्त जी व्याकरणाचार्य वैदिक पाठशाला के आचार्य थे। इस

पाठशाला में भावी गुरुकुल ब्रह्मचारी भी रहते थे तथा अन्य उच्च आयुओं के विद्यार्थी भी। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारियों को शेष विद्यार्थियों से पृथक् गुजरांवाला की एक कोठी में ले आया गया। इस काल में स्व० पं० विष्णुमित्र जी ब्रह्मचारियों के आचार्य रहे। यहीं से ब्रह्मचारी श्री आचार्य पं० गंगादत्त जी तथा श्री पं० विष्णुमित्र जी समेत श्री मुन्शीराम जी की अध्यक्षता में गुरुकुल कांगड़ी पहुँचे।"

"सन् १९१४ में मैं स्नातक हुआ और लगभग दो-तीन मास बाद मुझे गुरुकुल में प्रोफेसर रूप में नियुक्त कर दिया गया। प्रारम्भ में मैं दर्शनशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के पढ़ाने में नियुक्त हुआ। उस समय गुरुकुल में वेद पढ़ाने का कोई विशेष प्रबन्ध न था। दर्शन पढ़ाते हुए तर्कशास्त्र में मेरी रुचि न रही, इसलिये महात्मा मुन्शीराम जी तथा प्रो० रामदेव जी की प्रेरणा से मैंने वेद पढ़ाने का कार्य स्वगत कर लिया। आचार्य रामदेव जी के आचार्यतत्व-काल में लगभग १५ वर्ष उपाचार्यरूप में रहा, परन्तु कतिपय विषयों में मतभेद हो जाने पर त्यागपत्र दे दिया।"

"वैदिक साहित्य के लेखनकार्य में मेरी रुचि सन् १९४२ के पश्चात् हुई जबकि मैं गुरुकुल की सेवा से मुक्त हुआ। सर्वप्रथम मैंने 'वैदिक गृहस्थाश्रम' पुस्तक लिखी। राजाधिराज उमेदसिंह जी के राज्यारोहण-काल में मुझे राजाधिराज जी ने आमन्त्रित किया और राजसूय पद्धति के अनुसार राजसूय यज्ञ कराया और 'वैदिक गृहस्थाश्रम' के प्रकाशनार्थ उन्होंने मुझे तीन हजार रुपये देने का वचन दिया। उस राशि द्वारा पुस्तक देहरादून में सन् १९४७ में प्रकाशित की गई।"

"पंजाब-विभाजन के पश्चात् लाहौर में सर्वस्व का नुकसान हो जाने पर देहरादून में आ बसा। सन् १९७३ तक मैंने और कोई साहित्य-ग्रन्थ न लिखा, क्योंकि उसके प्रकाशनार्थ धन मेरे पास न था। सन् १९२३-२४ के लगभग अजमेर में रहकर परोपकारिणी सभा के तत्त्वावधान में ऋग्वेद के संशोधित मूल पाठ को तैयार किया और मथुरा-शताब्दी के निमित्त महर्षि दयानन्द की पुस्तकों के दो संस्कृत संस्करण तैयार कर परोपकारिणी सभा को दे दिये, जिन्हें मथुरा-शताब्दी के लिये प्रकाशित कर दिया गया।"

"सन् १९५६-५७ में लगभग दो वर्ष मैं आर्य सार्वदेशिक वाटिका में अनुसंधान का कार्य करता रहा। 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक का प्रकाशन तथा महर्षि के ऋग्वेदभाष्य के सुगम संस्करण के रूप में लगभग एक हजार मन्त्रों का भाष्य परोपकारिणी सभा को दिया।"

"सन् १९७३ के लगभग रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी चौधरी

करनाल द्वारा आर्थिक सहायता से सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य, अथर्ववेद-परिचय, यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा ग्रन्थ छपे। अथर्ववेद-भाष्य के चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं, ५वाँ खण्ड लिख रहा हूँ। 'शतपथब्राह्मण और अग्निचयन-समीक्षा' ग्रन्थ छप रहा है और प्रत्येक वर्ष एक नया ग्रन्थ लिखकर प्रकाशनार्थ भेज देता हूँ। इस सब पर व्यय रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी कर रहे हैं। अथर्ववेद के बाकी काण्डों पर भाष्य चल रहा है। लिखना अब शनैः शनैः ही होता है। स्वास्थ्य प्रायः सहायक नहीं रहा।"

जब पूज्य पण्डित जी ने आत्मपरिचय की उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं, तब तक अथर्ववेदभाष्य के अन्तिम चार खण्ड (अर्थात् काण्ड ११ से २० तक) ही प्रकाशित हुए थे, तथा पाँचवाँ खण्ड (अर्थात् काण्ड ९ और १० का भाष्य) चल रहा था। परन्तु अब पूज्य पण्डित जी के दृढ़ संकल्प तथा अध्यवसाय से प्रस्तुत खण्ड के साथ सम्पूर्ण अथर्ववेद का भाष्य पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। प्रबल अस्वास्थ्य तथा लिखते हुए हाथ काँपने की दशा में भी मान्य पण्डित जी भाष्य पूर्ण कर सके, यह पाठकों के लिये वरदान ही है। समझा यह जा रहा था कि प्रथम खण्ड का भाष्य नहीं हो पाया है, क्योंकि आदरणीय पण्डितजी के देहावसान के पश्चात् द्वितीय-तृतीय काण्ड का भाष्य तो मिल गया था, किन्तु प्रथम काण्ड का भाष्य उपलब्ध नहीं हो पा रहा था। परन्तु पण्डित जी की सुपुत्री श्रीमती इन्दिरा जी से हमारा सम्पर्क निरन्तर बना रहा तथा पण्डित जी के कागजों की छानबीन भी होती रही। परिणामतः प्रथम काण्ड का भाष्य भी उपलब्ध हो गया तथा हमने (श्री मनमोहन कुमार आर्य ने) प्रकाशनार्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ को उसकी पाण्डुलिपि पहुँचा दी। काण्ड द्वितीय-तृतीय के भाष्य की पाण्डुलिपि उससे पूर्व ही स्वयं बहालगढ़ जाकर दे आये थे।

पू० पण्डित जी के अपने सम्बन्ध में लिखे गए एक त्रुटित हस्तलेख से ज्ञात होता है कि उनका जन्म मार्च सन् १८८९ में हुआ था। आपके पिता श्री प्रीतमदास आर्य गुजरांवाला में आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के दर्शन किए थे। आर्य-समाज के सिद्धान्तों में दृढ़ता के कारण ही उन्होंने अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया था। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यालंकार परीक्षा सन् १९१४ में पं० विश्वनाथ जी ने प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की थी। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र में पृथक्-पृथक् तथा सर्वयोग में भी प्रथम रहने के कारण आपको चार सुवर्णपदक एवं कई रजतपदक प्राप्त हुए थे। सन् १९१४ में ही गुरुकुल

कांगड़ी विश्वविद्यालय में उपाध्याय पद पर नियुक्त होकर निरन्तर २८ वर्षों तक सफल अध्यापन करते हुए मार्च सन् १९४२ में वहाँ से सेवानिवृत हुए। सेवाकाल में आपका कार्य केवल पढ़ाना ही नहीं था, अपितु उपाचार्य होने के नाते छात्रों के व्रतपालन एवं चहुँमुखी विकास का भी आप उत्तर-दायित्व सम्भालते थे। समय-समय पर आप छात्रों की साहित्य संजीवनी आदि सभाओं में विविध विषयों पर भाषण देकर भी उनका ज्ञानवर्द्धन करते थे। विदेशों से जो छात्र या विद्वान् अपने ज्ञानवर्धनार्थ गुरुकुल आते थे, उनका भी वैदिक संस्कृति के विषय में मार्गदर्शन आप करते थे तथा वे गुरुकुल से पर्याप्त प्रभावित होकर स्वदेश लौटते थे।

वैदिक विषयों पर ग्रन्थलेखन प्रोफेसर विश्वनाथ जी ने गुरुकुल में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, यद्यपि इनके अधिकतर ग्रन्थ सेवा-निवृत्ति के पश्चात् लिखे गये। गुरुकुल में शिक्षक रहते हुए आपने वैदिक पशुयज्ञमीमांसा, वैदिक जीवन तथा सन्ध्या-रहस्य नामक पुस्तकें लिखी थीं। इनमें से प्रथम पुस्तक में आपने अनेक वैदिक एवं महाभारत, रामायण आदि के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि यज्ञों में पशुहिंसा वेदानु-मोदित नहीं है। द्वितीय पुस्तक में वेदमन्त्रों द्वारा वैदिक जीवन की झांकी प्रस्तुत की गयी है। यह मथुरा-शताब्दी पर प्रकाशित हुई थी। तृतीय पुस्तक में भूमिकासहित सन्ध्या के मन्त्रों की व्याख्या है, जिसकी एक विशेषता यह है कि व्याख्या में खगोल ज्योतिष का पर्याप्त उपयोग किया गया है। सेवानिवृत्ति के उपरान्त आपने जो ग्रन्थ लिखे, उनमें सामवेद और अथर्ववेद इन दो वेदों का भाष्य उल्लेखनीय है। इनका सामवेदभाष्य अध्यात्मपरक है तथा अब तक विद्वानों द्वारा हिन्दी में जो भी अनुवाद या भाष्य लिखे गये हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेदभाष्य इन्होंने उल्टे क्रम से आरम्भ किया था। सर्वप्रथम २०वें काण्ड का भाष्य किया, तदनन्तर १९, १८, १७ आदि के क्रम से इतर काण्डों का। उल्टे क्रम से भाष्य करने में यह हेतु रहा प्रतीत होता है कि अन्त के काण्डों में रहस्यमय स्थल अधिक हैं, यथा २०वें काण्ड में कुन्ताप सूक्त, १९वें काण्ड में मणिबन्धन सूक्त, १८वें काण्ड में पितृमेध-सूक्त एवं १५वें काण्ड में व्रात्य-सूक्त। १४वें काण्ड के दोनों सूक्त विवाह-सूक्त हैं, जिन पर आपने विशेष मनन-मन्थन किया हुआ था। एवं रहस्यमय, उलझन-भरे तथा विवादास्पद सूक्तों का भाष्य पहले पाठकों के सम्मुख रख देने का प्रलोभन उल्टे क्रम से भाष्य करने में विशेष प्रेरक रहा है। पण्डित जी ने इस अथर्ववेदभाष्य में अपने खगोल ज्योतिष, निरुक्त, गणित, भौतिक विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि के ज्ञान का पर्याप्त प्रयोग किया है, जिससे कई सूक्तों का रहस्य नवीनरूप में प्रस्फुटित करने में आप समर्थ हुए हैं। भाष्यशैली अत्यन्त सुबोध है। पण्डित जी का एक प्रौढ़ ग्रन्थ 'शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा' है, जिसमें शतपथ के जटिल अग्निचयन-प्रकरण की मीमांसा की गयी है। इसी कोटि का एक ग्रन्थ 'यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा' है। इससे आपके यजुर्वेद के सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन का परिचय मिलता है। आपकी कतिपय अन्य पुस्तकें वैदिक गृहस्थाश्रम, बालसत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभूमिका का सरल अध्ययन, ऋग्वेद-परिचय, -अथर्ववेद-परिचय तथा वीर माता का उपदेश हैं।

अपने प्रगाढ़ वैदिक वैदुष्य तथा अमर साहित्य साधना के कारण पूज्य पण्डित जी को कई संस्थाओं ने सम्मानित तथा पुरस्कृत करके स्वयं को सौभाग्यशाली माना है। पण्डित जी की मातृ-संस्था गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने अपनी सर्वोच्च पूजोपाधि 'विद्यामार्तण्ड' से आपको सत्कृत किया। आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई ने सन् १९८७ में आपको २१ सहस्र रुपयों की राशि, रजत-ट्राफी, उत्तरीय एवं प्रशस्तिपत्र अर्पित कर अपने वेदवेदांग-पुरस्कार से सम्मानित किया। इनके अतिरिक्त आप सन् १९७९ में गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार तथा सन् १९८३ में पण्डित गोवर्धन-शास्त्री पुरस्कार से भी आदृत हो चुके हैं। उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी भी आपको अथर्ववेदभाष्य आदि पर पुरस्कृत कर चुकी है। पण्डित जी की आयु के शत वर्ष पूर्ण होने पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से उसके प्रधान श्री वीरेन्द्र जी ने कन्या गुरुकुल देहरादून में एक आयोजन करके आपको सम्मानित किया था। इसी प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री धर्मेन्द्रसिंह आर्य द्वारा गठित समिति की ओर से भी आप समादृत हो चुके हैं।

आदरणीय पण्डित जी के अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय रायसाहिब स्व० चौधरी प्रतापसिंह जी, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ तथा महा-महोध्याय पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक को है। रायसाहिब द्वारा आर्थिक सहायता की निश्चिन्तता यदि पण्डित जी को न होती तो प्रकाशन के संदिग्ध होने के कारण वे ग्रन्थलेखन में भी प्रवृत्त न होते। रामलाल कपूर ट्रस्ट तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पण्डित जी के ग्रन्थों के प्रकाशन में पूर्ण रुचि ली। रायसाहिब के दिवंगत हो जाने पश्चात् यह समस्या थी कि अथर्ववेद के शेष छः काण्ड कैसे प्रकाशित होंगे। किन्तु अर्थाभाव से ग्रस्त होने पर भी श्री मीमांसक जी की प्रेरणा से उक्त ट्रस्ट ने शेष काण्डों के प्रकाशन का भार वहन किया।

पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार जी का जीवन अत्यन्त, सादगी तथा तपस्या से व्यतीत हुआ। उनका स्वभाव अति सरल था। आगन्तुकों के

सत्कार में उन्हें आनन्द आता था। गिरे हुए स्वास्थ्य में भी पत्रों का उत्तर अवश्य देते थे। सम्मत्यर्थ कोई लेखक उनके पास पुस्तकें भेजते थे तो उन पर सम्मति लिखना भी नहीं भूलते थे। गुरुकुल कांगड़ी के प्रायः सभी पुराने स्नातक उनके शिष्य हैं। अपने शिष्यों के प्रति सदा उनके मन में वात्सल्य रहा। शिष्यों की उन्नति देख वे सदा प्रसन्न होते थे तथा उन्हें उत्साहित किया करते थे।

श्रीयुत पण्डित जी ने १०३ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त की। अन्तिम समय तक लेखन-कार्य करते रहे। ११ मार्च १९९१ को उन्होंने इहलोक-लीला संवरण की। उनकी शवयात्रा में देहरादून तथा गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के अनेक गणमान्य व्यक्ति सम्मिलित थे।

पण्डित जी की धर्मपत्नी श्रीमती कुन्ती देवी का जन्म सन् १८९८ में क्वेटा में एक आर्यसमाजी परिवार में हुआ था। वे कन्या महाविद्यालय जालन्धर की प्रथम छात्राओं में थीं। पण्डित जी को सब कार्यों में सदा उनका सहयोग प्राप्त होता रहा। पण्डित जी के देहावसान के समय से ही वे अस्वस्थ चल रही थीं। १५ अप्रैल १९९२ को ९४ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हो गयीं। उन्होंने चार पुत्रों एवं तीन पुत्रियों को जन्म दिया था। चार पुत्रों के नाम क्रमशः डॉ० प्रेमनाथ, श्री राजेन्द्रनाथ, श्री सोमनाथ तथा श्री रवीन्द्रनाथ हैं, तीन पुत्रियाँ हैं श्रीमती कमला डबराल, श्रीमती विमला बहल और श्रीमती इन्दिरा खन्ना। डॉ० प्रेमनाथ पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में दर्शन विभाग के अध्यक्ष थे, वे सन् १९७५ में दिवंगत हो गये। श्री रवीन्द्रनाथ खन्ना बी० एस० एफ० में डिप्टी कमांडेंट थे। वे भी सम्प्रति इस लोक में नहीं हैं। इस समय शेष दोनों पुत्र एवं तीनों पुत्रियाँ विद्यमान हैं। पण्डित विश्वनाथ जी अपनी धर्मपत्नी सहित सबसे छोटी पुत्री श्रीमती इन्दिरा खन्ना के पास ६१, कांवली रोड, देहरादून में रहते रहे, जो पूर्ण मनोयोग से उनकी सेवा करती रहीं। अधिकांश लेखन-कार्य पण्डित जी ने वहीं किया। इस प्रकार पण्डित जी के लेखन-कार्य का श्रेय उनकी पुत्री श्रमती इन्दिरा जी एवं उनके परिवार को भी जाता है।

पं० विश्वनाथ विद्यालंकार जी ने जिस अमूल्य वैदिक साहित्य की रचना की है, उसके कारण उनका नाम सदा अमर रहेगा। उस साहित्य को पढ़कर उनके अनेक मानस पुत्र जन्म लेते रहेंगे।

मनमोहन कुमार आर्य
१९६, दो, चुक्खूवाला, देहरादून

रामनाथ वेदालंकार
वेद मन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार

सूक्तानुसार विषय-सूची

---

१. वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः (सायण) मन्त्र १।
२. परमेश्वर को भेषज भी कहा है। यथा—"भेषजमसि भेषजम्" (यजु० ३।५९)।

१. "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥" (यजु० ३।५९)

तृतीय काण्ड

१. शरव्या = शर + वेञ्, "तन्तुसन्ताने" (भ्वादिः), सन्तान अर्थात् सन्तति अर्थ अभिप्रेत है। अथवा व्येञ् संवरणे (भ्वादिः)। तथा "शरूणां हिंसकानाम् आयुधानां संहतिः शरव्या (सायण)।

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड १-३]

प्रथम काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

(१-४) । अथर्वा । वाचस्पतिः । अनुष्टुप्;
४ चतुष्पदा विराट् उरो बृहती ।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥

(ये) जो (त्रिषप्ताः) तीन या सात (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परियन्ति) सब ओर गति कर रहे हैं, (वाचस्पतिः) वाग्मी आचार्य (तेषाम् बला) उन त्रिषप्तों के बल (मे) मेरी (तन्वः) तनू अर्थात् शरीर के मध्य (अद्य[1]) आज से (दधातु) स्थापित करे ।

[विश्वा=विश्वानि । बला=बलानि । तन्वः=तनू के मध्य अर्थात् शरीर में । त्रिषप्ताः=तीन या सात । तीन हैं मूल प्रकृति के तीन अवयव, सत्त्व, रजस् और तमस् । सप्त हैं प्रकृति-विकृति उभय रूप, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएँ । त्रिषप्ताः=अन्यपदार्थे बहुव्रीहौ डच् समासान्तः (सायण) । अन्य पदार्थ है विकल्प "त्रयो वा सप्त वा" इत्येवं रूपः ।]

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

(वाचस्पते) हे वेदवाणी के वाग्मी आचार्य ! (पुनः एहि) बार-बार तू आया कर, (देवेन मनसा सह) दिव्य मन के साथ अर्थात् अनुग्रह बुद्धि के साथ । (वसोष्पते) हे वसुओं के स्वामिन् आचार्य ! (नि रमय) मेरे चित्त में तू नितरां रमण कर, (श्रुतम्) आप द्वारा श्रुत किया वेद (मयि) मुझमें (अस्तु) विद्यमान रहे, (मयि अस्तु एव) मुझमें विद्यमान ही रहे, मैं उसे भूल न जाऊँ, विस्मृत न करूँ ।

---

१. अद्यप्रभृति, आज से, जबकि मैं युवावस्था का हो गया हूँ और त्रिषप्त तत्त्वों के ज्ञान-ग्रहण के योग्य हो गया हूँ ।

[मन्त्र १ में वाचस्पति पद द्वारा वाग्मी आचार्य से अभ्यर्थना की है। मन्त्र २ आदि से भी वाचस्पति पद द्वारा वाणी के विद्वान् मनुष्य, आचार्य का वर्णन हुआ है। वह जब आश्रम में निरीक्षणार्थ ब्रह्मचारियों के पास जाय तो उससे कहा है कि तू दिव्य बुद्धि अर्थात् अनुग्रह बुद्धि के साथ आया कर, हम पर अनुग्रह करने के लिये आया कर—यह आश्रमवासी प्रत्येक ब्रह्मचारी कहता है या आचार्य से प्रार्थना करता है। आचार्य वसोष्पति है। राज्य द्वारा या दान द्वारा जो वसु प्राप्त हुआ है, उसका स्वामी आचार्य ही है, उसकी इच्छानुसार ही आश्रम में न्याय होता है।]

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

(इह एव) इस आश्रम में ही (अभि वितनु) मेरे सम्मुख विस्तारपूर्वक [हे आचार्य!] तू (उभे) दोनों अर्थात् अभ्युदय तथा निश्रेयस कह दे, (इव) जैसेकि (ज्यया) धनुष् की डोरी द्वारा (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष्-कोटियों अर्थात् प्रान्तों को परस्पर के अभिमुख किया जाता है। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का रक्षक आचार्य (नियच्छतु) नियमपूर्वक मुझे प्रदान करे (श्रुतम्) वेदविद्या। (मयि श्रुतम्) मुझमें प्राप्त "श्रुत" (मयि) मुझमें (अस्तु एव) विद्यमान ही हो, अर्थात् मैं उसे विस्मृत न करूँ, न भूलूँ।

[यच्छतु="दा" को यच्छ आदेश।]

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥४॥

(वाचस्पतिः) वेदवाणी का विद्वान् आचार्य (उपहूतः) श्रद्धापूर्वक आहूत हुआ है, (वाचस्पतिः) वेदवाणी का विद्वान् आचार्य (अस्मान्) हम ब्रह्मचारियों को (उपह्वयताम्) प्रेमपूर्वक अपने पास आहूत करे [वेद के पठन-पाठन के लिये], ताकि (श्रुतेन) वेद के (संगमेमहि) साथ हमारा संगम रहे, (श्रुतेन) वेद के श्रवण से (मा वि राधिषि) हम वियुक्त न हों।

[अस्मान् द्वारा ब्रह्मचारियों का अनेकत्व सूचित हुआ है। मा वि राधिषि=वि+राध संसिद्धौ, माङि लुङ्(सायण), (स्वादिः)। यह प्रत्येक ब्रह्मचारी कहता है।]

सूक्त २

(१-४)। अथर्वा। चन्द्रमाः, पर्जन्यः। अनुष्टुभः
३ त्रिपदा विराट् नामा गायत्री।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥

(विद्म) हम जानते हैं, (शरस्य) शर के (पितरम्) पिता को (पर्जन्यम्) अर्थात् पर्जन्य को, (भूरिधायसम्) जोकि बहुतों का धारण-पोषण करता है। (विद्म उ) और हम (सु) अच्छे प्रकार जानते हैं (अस्य) इस शर की (मातरम्) माता (पृथिवीम्) पृथिवी को (भूरिवर्पसम्) जोकि बहुत रूपोंवाली है।

[पर्जन्यम्=पालयिता चासौ जन्यः, जनहितकारी च मेघः। भूरिधायसम्=भूरि+धा(धारण-पोषण-कर्त्ता)+युक् (आतो युक् चिण्कृतोः)+कर्तरि असुन्। भूरिवर्पसम्=भूरि+वर्पस् है रूपनाम (निघं० ३।७)। अथवा शर=आत्मा, "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा" (मुण्डक० २।२।४)। सूक्त आध्यात्मिकार्थक भी है। मन्त्र में पर्जन्य, शर तथा भूरिधायसम्, परमेश्वरार्थक भी हैं। इस प्रकार सूक्त १ और २ में विषय-साम्य हो जाता है। पर्जन्यम्=पृ पालने+जन्यम्।]

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥२॥

(ज्याके) हे ह्रस्व ज्या! (नः) हमारी ओर (परि) सर्वथा (नम) तू प्रह्वीभूत हो जा, (तन्वम्) निज तनू को (अश्मानम्) पत्थर सदृश दृढ़ (आकृधि) कर ले। (वीडुः) दृढ़ हुआ तू हे शर! [जीवात्मन्!] (अरातीः) मेरी अदान-भावनाओं को (द्वेषांसि) तथा द्वेषभावनाओं को (वरीयः) दूरतर प्रदेश में (अप आकृधि) अपगत कर दे। जबकि इन्द्रियाँ विषयों की ओर न जाकर, जीवात्मा की ओर हो जाती हैं, तब।

[ज्या=जिह्वा ज्या भवति (अथर्व० ५।१८।८)। जिह्वा काय में ह्रस्वा है, छोटी-सी है (ह्रस्वे, कः)। जिह्वा को कहा है कि तू सुदृढ़ होकर हमारे प्रति प्रह्वीभूत हो जा, झुक जा, ताकि हमारा उद्देश्य पूरा हो सके, मन्त्र के भावों के कथन में। यह कथन मन्त्र के उत्तरार्ध में हुआ है। यद्यपि अथर्व० ५।१८।८ में ब्राह्मण की जिह्वा को ज्या कहा है। परन्तु सूक्त में भी यतः "शर" द्वारा आत्मा का वर्णन है, जोकि ब्राह्मण की आत्मा का सूचक है। निघण्टु में भी जिह्वा को वाक् कहा है (१।११)।]

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥

(गावः) इन्द्रियाँ (यत्) जो (वृक्षम्) छेदनीय शरीर को (परिषस्वजानाः) सब ओर आलिङ्गन करती हुईं, (अनु स्फुरम्) निज स्फूर्ति के अनुसार (ऋभुम्) उरु भासमान[1] (शरम्) शर अर्थात् जीवात्मा की (अर्चन्ति) अर्चना करती हैं, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (शरुम् दिद्युम्) हिंस्र पापरूपी वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) पृथक् कर दे ।

[दिद्युद् वज्रनाम (निघं० २।२०) । अभिप्राय यह कि इन्द्रियाँ जब निज स्फूतियाँ अर्थात् संचरण करती हुईं जीवात्मा की अर्चना करती हैं, उसे निज पूज्य करती हैं, तब परमेश्वर पापरूपी हिंस्र वज्र को हमसे पृथक् कर देता है, हटा देता है । गावः=गौः इन्द्रियम् (उणा० २।६८; दयानन्द) । वृक्षम्=वृश्च्यते इति, ओव्रश्चू छेदने (तुदादिः), छेदनीय शरीर है, विनाशी शरीर । वृक्ष पद के नानार्थ हैं—(१) प्रकृति, यथा "किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (यजु० १७।२०) । (२) "वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद् गौः ।" (ऋ० १०।२७।२२)—वृक्षेवृक्षे=धनुषि धनुषि (निरुक्त २।१।६) । (३) वृक्षम्=वृक्षविकारं धनुर्दण्डम् (सायण) ।]

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

(यथा) जैसे (द्याम् च पृथिवीम् च) द्यौः और पृथिवी के (अन्तः) अन्तराल में (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) स्थित होता है, (एव) इसी प्रकार (रोगम् च आस्रावम् च) रोग और आस्राव के (अन्तः) अन्तराल में (मुञ्जः इत्) मूञ्ज ही (तिष्ठतु) स्थित हो ।

[अभिप्राय यह कि जैसे द्यौः और पृथिवी के मध्य में सूर्य स्थित है, वैसे रोग अर्थात् मूत्रकृच्छ्र में, और आस्राव अर्थात् मूत्र के स्रवण में, मुञ्ज ही स्थित है, अर्थात् रोग और आस्राव का परस्पर सम्बन्ध मुञ्ज के साथ है, मुञ्ज ही रोग का नाश कर, आस्राव उत्पन्न कर देता है । मुञ्ज का काढ़ा या इसका अन्य आयुर्वेदिक योग अच्छा मूत्रस्रावी है, तभी "इत्" अर्थात् 'ही' का प्रयोग हुआ है ।]

१. जीवात्मा भासमान है, प्रकाशस्वरूप है, तभी वह इन्द्रियों और बुद्धि को प्रकाशित करता है । जो स्वयं प्रकाशमान नहीं वह अन्यों को प्रकाशित नहीं कर सकता ।

सूक्त ३

(१-९) । अथर्वा । पर्जन्यमित्रादि देवताः । अनुष्टुम्;
१-५ पथ्या पंक्तिः ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु
बालिति ॥१॥

(शरस्य पितरम्) शर के पिता अर्थात् उत्पादक (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों शक्तियों की वर्षा करने की शक्तिवाले (पर्जन्यम्) पालक और जनहितकारी मेघ को (विद्म) हम सब जानते हैं, (तेन) उस द्वारा (ते तन्वे) तेरी तनू के लिये (शम्) सुख (करम्) मैं करता हूँ, (ते) तेरा (निषेचनम्) मूत्रसेचन (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हो (ते) तेरा मूत्र (बहिः) बाहर (अस्तु) हो, (बालिति) अर्थात् वारिरूप, जल अर्थात् मूत्र जल ।

[वाल्=वार्, वाः अर्थात् जल । रलयोरभेदः । वाः=वारि, जल (अथर्व० ३।१३।३) । प्रकरणानुसार मूत्ररूप जल । पर्जन्य=पालक तथा जनहितकारी मेघ, पृ पालने ।

यह "मूत्रकृच्छ्र" रोग है, मूत्र निरुद्ध हुआ-हुआ है, जिसे कि निषेचनम् और बहिः द्वारा निर्दिष्ट किया है । अन्तरिक्ष में पर्जन्य की स्थिति होने पर वायुनिष्ठ जल नासिका द्वारा फेफड़ों में संचरित होकर रक्त में मिल जाता है । इससे मूत्र अधिक होकर मूत्रकृच्छ्र रोग का निवारण करता है ।

वाल् इति, वाल् शब्द करता हुआ । यह अर्थ सायणाचार्य के अनुसार है । परन्तु यह अर्थ अनुभव-गम्य नहीं, इसलिये सायणाचार्य ने लिखा है कि "मन्त्रसामर्थ्याद् विविधं शब्दं कुर्वत्", अर्थात् मन्त्र के सामर्थ्य से विविध शब्द करता हुआ हुआ, "त्वरया शरीरात् निर्गच्छतु", अर्थात् "शीघ्रता से शरीर से निकले" । इस अर्थ से सन्तुष्ट न होकर सायणाचार्य ने "बल प्राणने" द्वारा "अस्य रोगार्तस्य जीवहेतोः मूत्रं बहिरस्तु" भी कहा है । यह विवरण मैंने इसलिये लिखा है कि मन्त्र ९ तक में इसकी पुनरुक्ति हुई है, इन सब मन्त्रों में बार-बार इस विषय का कथन न करना पड़े । वस्तुतः "बालिति" पद का अभिप्राय है "वारितिः वाः (वारि+इति) यथा "तस्माद् वार्नाम वो हितम्" (अथर्व० ३।१३।३), अर्थात् इसलिये तुम्हारा नाम "वाः" अर्थात् "वारि" हुआ है । "वाल्" इति में वर्ण विकार हुए हैं, "बाल्=वार्=वाः" अर्थात् तेरा मूत्र-जल बाहर हो ।

सायणाचार्य ने "शर" का अर्थ किया है "हिंसक-वाण" । जोकि समग्र

सूक्त में अनुपपन्न है। जीवात्मरहित शरीर मृत है, और शरीर-रहित जीवात्मा को रोग और मूत्रस्राव नहीं हो सकते। अतः "शरो ह्यात्मा" के अनुसार शरीर-विशिष्ट-जीवात्मा अर्थ ही समग्र सूक्त में उपपन्न हो सकता है। वालिति=वार् इति (रलयोरभेदः)।]

विद्मा शरस्यं पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥२॥

(शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों प्रकार से सुखों की वर्षा करनेवाले, (शरस्य पितरम्) शरीर विशिष्ट जीवात्मा के (मित्रम्) मित्रवत् हितकारी "दिन" को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस दिन द्वारा (ते तन्वे) तेरी तनू के लिये [इत्यादि पूर्ववत्]। ["मैत्रं वा अहः, वारुणी[1] रात्रिः[2]" (तै० ब्रा० १।७।२०, १-२)। दिन का प्रकाश वस्तुतः विविध सुखों की वर्षा करता है।]

विद्मा शरस्यं पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥३॥

[वरुणम्=वृणोति तमसा (सायण), शेष पूर्ववत्। सूर्यास्त, तमस् द्वारा, आवरण करता है, और रात्री के सुखों की वर्षा करता है, प्रदान करता है।]

विद्मा शरस्यं पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥४॥

[चन्द्रम्=चदि आह्लादने दीप्तौ च (भ्वादिः)। चन्द्र का प्रकाश आह्लादकारी तथा शीतल होने के कारण सुखों की वर्षा करता है, प्रदान करता है। शेष पूर्ववत्।]

विद्मा शरस्यं पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥५॥

१. मन्त्र २–४ में दिन-काल तथा रात्रिकाल का और उनके देवताओं वरुण और चन्द्र का भी वर्णन हुआ है।

२. रात्री दीर्घशयन प्रदान द्वारा तनू पर सुखवर्षा करती है।

सूर्यम्=सूर्य तो सौर-जगत् का राजा है। इसके नियन्त्रण में सब ग्रह, उपग्रह हैं। इन पर सूर्य निज ताप और प्रकाश की वर्षा द्वारा सुखों की वर्षा कर रहा है, प्रदान कर रहा है। सूर्य तो इतना प्रतापी है कि उसके प्रकाश में, असंख्य तारागणों वाले द्युलोक का प्रकाश भी विलुप्त हो जाता है। शेषार्थ पूर्ववत्।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥६॥

(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) आन्तों में, और (गवीन्योः) दो मूत्र नाड़ियों में, (यत्) जो (वस्तौ अधि) मूत्र के आवास स्थान में (संश्रितम्) एकत्रित हुआ, आश्रय पाया हुआ है, (एव=एवम्) इस प्रकार (ते) तेरा (सर्वकम् मूत्रम्) सब मूत्रयुक्त हो जाय (बहिः) आन्त्र आदि से बाहर हो जाय, (बालिति) अथ पूर्ववत्।

["आन्त्रेषु=उदरान्तर्गतेषु पुरीतत्सु (उदर के अन्दर फैली आन्तों में)। गवीन्योः=आन्तों से निकले मूत्र को मूत्राशय में प्राप्ति के साधन, दो पार्श्वों में स्थित नाड़ियाँ। वस्ति=धनुराकारमूत्राशय" (सायणाचार्य के अनुसार)। एव=एवम्=इसी प्रकार; अर्थात् जैसेकि पूर्वोक्त "मुच्यताम्" कहा है तद्वत् मुक्त हो जाय, मूत्र बाहर निकल जाय।]

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥७॥

(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्रसेचक-मूत्रनाल का (भिनद्मि[1]) मैं [शल्य-चिकित्सक] भेदन करता हूँ, (इव) जैसेकि (वेशन्त्याः) तलाब के जलों का (वर्त्रम्) मार्ग भिन्न किया जाता है, विदारित किया जाता है।

["वर्त्रम्=वर्तते प्रवहति जलम् अत्रेति वर्त्रो मार्गः। वेशन्त्याः=शिन्ति तिष्ठन्ति अस्मिन् आपः इति वेशन्तः पल्वम्, तत्र भवाः आपः वेशन्त्याः" (सायण)। शेष पूर्ववत्।]

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥८॥

(उदधेः समुद्रस्य इव) उदक की निधिरूप समुद्र के सदृश (ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्राशय मार्ग (विषितम्) खुल गया है। (एव=एवम्) इस

१. "लोहशलाकया" (सायण)। इसे Catheter कहते हैं।

प्रकार (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र (मुच्यताम्) विमुक्त अर्थात् प्रस्रवित हो जाय, (बहिः) मूत्राशय से बाहर हो जाय, (बालिति सर्वकम्), अर्थ पूर्ववत् ।

[जैसे कि समुद्र का उदक, खाड़ी रूप में, समुद्र से पृथक् हो जाता है, वैसे तेरा मूत्र वस्ति के मार्ग, अर्थात् द्वार से बाहर हो जाय । समुद्रस्य= समुद्र दो प्रकार के हैं, पार्थिव समुद्र और अन्तरिक्षस्थ समुद्र । अन्तरिक्ष में जल वाष्परूप में रहता है, और वर्षाकाल में मेघरूप में । "स उत्तरस्मादधरं[1] समुद्रम्" (ऋ० १०।९८।५) में उत्तर-समुद्र का वर्णन हुआ है । उत्तर समुद्र =ऊर्ध्वा दिक् का समुद्र । विषितम्=वि+षिञ् बन्धने (स्वादिः)+क्तः ।]

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९॥

(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुर्धारी से (अवसृष्टा) छोड़ी गई (इषुका) इषु (परापतत्) परे जा गिरती है, (एवा=एवम्) इस प्रकार (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र (मुच्यताम्) विमुक्त हो जाय, प्रस्रवित हो जाय, (बहिः) मूत्राशय से बाहर हो जाय, (बालिति सर्वकम्), अर्थ पूर्ववत् ।

सूक्त ४

(१-४) । सिन्धुद्वीपः[2] । आपो देवता । १-३ गायत्री; ४ पंक्तिः ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चन्तीर्मधुना पयः ॥१॥

(अध्वरीयताम्[3]) अहिंसा की कामना करनेवालों की (अम्बयः) माताओं के सदृश,(जामयः) तथा बहिनों के सदृश, आपः [जल] (अध्वभिः) नाना मार्गों द्वारा (यन्ति) गति करती हैं, (मधुना) मधु के साथ (पयः) जल को (पृञ्चन्तीः) सम्पृक्त करती हुईं ।

[मन्त्र का देवता है आपः, स्त्रीलिङ्गी । अतः आपः को अम्बयः तथा जामयः कहा है । अम्बि शब्द भी वेद में माता के लिये प्रयुक्त होता है, यथा "अम्बितमे नदीतमे" (ऋ० २।४१।१६) । माताएँ निज पयः अर्थात्

१. तथा निरुक्त (२।३।११) ।

२. सिन्धुद्वीपः—यह नाम काल्पनिक है । विनियोगकर्त्ता को सूक्त का वास्तविक ऋषिनाम अज्ञात है । सूक्त के मन्त्र (३) में सिन्धु पद देखकर "सिन्धुद्वीपः" नाम कल्पित किया गया प्रतीत होता है ।

३. "ध्वरतिः हिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः" । निरुक्त (१।३।८) ।

दुग्ध को माधुर्य से सम्पृक्त कर शिशुओं को पिलाती हैं । इसी प्रकार व्यापी आपः, सामुद्रिक-पयः अर्थात् जल को भी मधुर बनाकर हमें पिलाती हैं । सामुद्रिक जल नमकीन होता है । वाष्पीभवन द्वारा वह जल नमकरहित होकर, उड़कर अन्तरिक्ष में पहुँचता है, और वहाँ से मधुर जल वर्षा रूप में लौटकर आता है, जोकि हमारे लिये पेय होता है ।

जामयः अर्थात् बहिनें भी भाइयों के लिये हितकारिणी होती हैं, इसी प्रकार मधुर हुए आपः भी अहिंसा चाहनेवालों के लिये हितकारी हो जाते हैं । मन्त्र में इन मधुर आपः द्वारा जलचिकित्सा का विधान हुआ है । अध्वभिः=समुद्र की स्थिति भूमण्डल के नाना स्थानों में है । इन नाना स्थानों से नाना मार्गों द्वारा आपः अन्तरिक्ष में वाष्पीभूत होकर जाते हैं, "ऊर्ध्वाभिः यन्ति" ।]

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२॥

(अमूः) वे (याः) जो आपः (उप सूर्ये) सूर्य में उपस्थित हैं, (वा) अथवा (याभिः) जिन भूमिष्ठ आपः के (सह) साथ (सूर्यः) सूर्य [राशियों द्वारा] उपस्थित है (ताः) वे द्विविध आपः (नः) हमारे (अध्वरम्) अहिंसा-कर्म की (हिन्वन्तु) वृद्धि करें । अहिंसाकर्म=जलचिकित्सा द्वारा शरीर को हिंसारहित करना । हिन्वन्तु=हि वृद्धौ (स्वादिः) ।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥३॥

(देवीः अपः) द्योतमान अर्थात् शुद्ध जल का (उपह्वये) उस स्थान के समीप मैं आह्वान करता हूँ, (यत्र) जिस स्थान में (नः गावः पिबन्ति) हमारी गौएँ जल पीती हैं, अर्थात् (सिन्धुभ्यः) स्यन्दनशील नदियों से (कर्त्वम्) काटा गया (हविः) उदक ।

[कर्त्वम्=कृती छेदने (तुदादिः)+वः (उणा० १।१५५) । हविः उदकनाम (निघं० १।१२) । मन्त्रोक्ति नहरों के एञ्जीनियर की है, जोकि प्रवाहित नदियों से जल काटकर गोशाला तक पहुँचाता है ।]

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥४॥

(अप्सु अन्तः) जलों के अन्दर (अमृतम्) न मरने अर्थात् दीर्घायुष्य-

कारी गुण है। (अप्सु भेषजम्) जलों में रोगनिवारक शक्ति है। (उत) तथा (अपाम्) जलों की (प्रशस्तिभिः) प्रशस्त शक्तियों के द्वारा (अश्वाः) अश्वों के सदृश (वाजिनः) बलवाले हे पुरुषो! (भवथ) तुम होओ, (गावः) गौओं के सदृश हे महिलाओ! तुम (वाजिनीः) दुग्धान्नवाली (भवथ) होओ।

[(वाजिनः) बलवाले, वाजः बलनाम (निघं० २।९)। वाज+इनिः। (वाजिनीः) वाजः अन्ननाम (निघं० २।७), अर्थात् दुग्धान्नवाली। जलों की प्रशस्त शक्तियों द्वारा जलचिकित्सा निर्दिष्ट हुई है।]

सूक्त ५

(१-४)। सिन्धुद्वीपः। आपो देवता। १—३ गायत्री; ४ पंक्तिः।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥

(आपः) हे व्याप्त अर्थात् विस्तृत जलो! (मयोभुवः) सुखोत्पादक (हि) निश्चय से (ष्ठाः) तुम हो, (ताः) वे तुम (नः) हमें (ऊर्जे) बल के लिए (दधातन) परिपुष्ट करो। (महे रणाय चक्षसे) तथा महारमणीय दृष्टि के लिये परिपुष्ट करो, या होओ।

[आपः=आप्लृ व्याप्तौ (स्वादिः) अर्थात् विस्तृत [शुद्ध] जल। विस्तृत जल=(अथर्व० १।६।४)। ऊर्जे=ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)। मयः सुखनाम (निघं० ३।६) दधातन=डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। जलचिकित्सा द्वारा दृष्टि रमणीय होती है।]

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥२॥

[हे आपः!] (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः रसः) अतिकल्याण-कारी रस है, (तस्य भाजयत) उसका भागी बनाओ, (इह) इस जीवन में (नः) हमें। (इव) जैसेकि (उशतीः) कामनावाली (मातरः) माताएँ [पुत्रों को निज दुग्धरस का भागी करती हैं, दूध पिलाती हैं]।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥

(तस्मै) उस रस के लिये [हे आपः] (वः) तुम्हें (अरम्) पर्याप्त रूप में (गमाम) हम प्राप्त होते हैं, (यस्य) जिस रस की (क्षयाय) स्थिति के लिये (जिन्वथ) तुम जीवित हो। (आपः) हे जलो! (नः) हमें (जनयथ च) जननशक्ति भी प्रदान करो।

[जनयथ=जिवि धातु जीवनार्थक भी प्रतीत होती है। क्षयाय=क्षि निवासे (तुदादिः)।]

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम् ॥४॥

(वार्याणाम्) निवारणीय रोगों की (ईशानाः) अधीश्वरी, अर्थात् नियन्त्रित करनेवाली तथा (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (क्षयन्तीः) रोगों का क्षय करनेवाली (अपः) जलों को (भेषजम्) औषधरूप में (याचामि) मैं याचित करता हूँ चाहता हूँ [या अपों से[1] भेषज की मैं याचना करता हूँ]।

[चर्षणयः मनुष्यनाम (निघं० २।३)।]

सूक्त ६

(१-४)। सिन्धुद्वीपः (अथर्वाकृतिः)। १-३ गायत्री; ४ पथ्यापंक्तिः।

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१॥

(देवीः=देव्यः) दिव्यगुणोंवाले (आपः) जल (नः शम्) हमारे लिये शान्तिदायक, (अभिष्टये) अभीष्ट सुख के लिये, (पीतये) तथा पीने के लिये (भवन्तु) हों। (शम्) प्राप्त रोगों के शमन के लिये (योः) तथा भविष्य में आनेवाले रोगों के भय को पृथक् करने के लिये (नः) हमारी ओर (अभिस्रवन्तु) प्रवाहित हों।

[योः=यु अमिश्रणे (अदादिः), अमिश्रणम्=पृथक्करणम्। योः=यु+डोस् (औणादिक प्रत्यय) शं योः="शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" निरुक्त (४।३।२१)।]

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥२॥

(सोमः) जगदुत्पादक या चन्द्रवत् या जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) कहा है कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (विश्वानि

---

१. यथा गां दोग्धि पयः।

भेषजा = भेषजानि) सब औषधें हैं, (च) तथा (अग्निम्) उनमें अग्नि है, (विश्वशंभुवम्) जो कि सब रोगों का शमन करती है।

[जलों में सब रोगों को शान्त करने की शक्ति है, और इनमें वैद्युताग्नि[1] भी है, जोकि सब रोगों को शान्त कर देती है। सोमः = षु प्रसवे (भ्वादिः)।]

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥

(आपः) हे जलो ! (मम तन्वे) मेरी तनू के लिये (वरूथम्) रोग-निवारक (भेषजम्) औषध (पृणीत) पूरित करो, (च) और औषध प्रदान करो (ज्योक्) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देखने के लिये। दीर्घकाल तक जीवित रहने के लिए।

[दो प्रकार के औषध का कथन हुआ है, शारीरिक रोगनिवारक तथा दृष्टिशक्ति-प्रदायक। पृणीत = पॄ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः), पूरित और पालित करना अर्थात् स्थिर बनाए रखना। दृशे = द्रष्टुम्।]

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा
नः सन्तु वार्षिकीः ॥४॥

(नः) हमें (धन्वन्याः) मरुभूमि के (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों; (सन्तु) हों (अनूप्याः) जलप्राय प्रदेश के जल (शम् उ) शान्तिदायक तथा सुखदायक। (नः) हमें (खनित्रिमाः) खनन द्वारा उद्भूत कूपजल (शम्) शान्तिदायक तथा सुखकारक हों। (शम् उ) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों, (याः) जोकि (कुम्भे आभृताः) कुम्भ में धारित हैं। (नः) हमें (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों, (वार्षिकीः) वर्षा के आपः अर्थात् जल।

प्रथम अनुवाक समाप्त।

१. विद्युदग्नि द्वारा रोगों को शान्त करने का निर्देश हुआ है। जलों से विद्युत् पैदा होती है।

अनुवाक २

सूक्त ७

(१-७)। चातनः। अनुष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्।

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (स्तुवानम्) यातना के प्रशंसक, (किमीदिनम्) किम्-इदानीम् इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले, (यातुधानम्) यातना के निधि रूप को (आवह) बाँध कर [मन्त्र ७] यहाँ ला।[1] (देव) हे दिव्यगुणी अग्रणी ! (त्वम्, हि) तू निश्चय से (वन्दितः) हम प्रजाओं द्वारा अभिवादित है, (दस्योः) उपक्षयकारी यातुधान का (हन्ता बभूविथ) हननकर्ता हुआ है।

[समग्र सूक्त के अनुसार अग्नि यज्ञियाग्नि नहीं, अपितु अग्रणी है। अग्रणी-प्रधानमन्त्री, यह अगले मन्त्रों द्वारा स्पष्ट हो जायगा।]

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥२॥

(परमेष्ठिन्) परम अर्थात् श्रेष्ठ स्थान अर्थात् पद पर स्थित, (जातवेदः) राष्ट्र में उत्पन्न तत्त्वों के जाननेवाले, या जातप्रज्ञ, (तनूवशिन्) निजतनू को वश में रखनेवाले (अग्ने) हे अग्रणी ! (तौलस्य आज्यस्य) मापे-तौले घृत का (प्राशान) प्राशन किया कर (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूतों को (विलापय) विलापयुक्त कर या रुला।

१. राष्ट्रिय-न्यायालय में अपराध पर निर्णय करने के लिये राष्ट्रिय सभा का वर्णन हुआ है। यथा "धर्माय सभाचरम् (३०।६)। राष्ट्रिय-न्यायालय की भावना नई नहीं। यजुर्वेद ३०।१०-में "मर्यादायै प्रश्नविवाकम्" द्वारा राष्ट्रिय मर्यादा के लिये प्राड्विवाक का वर्णन हुआ है और ३०।१८ में "सभास्थानुम्" द्वारा सभा अर्थात् न्यायाधीशों की सभा में स्थिर रहनेवाले "मुख्य सभाधीश" का वर्णन हुआ है। महीधर ने "प्रश्नविवाकम्" का अर्थ किया है "कृतान् प्रश्नान् यो विविनक्ति", ३०।१८ में "सभास्थानुम्" का अर्थ किया है स्थिरता सभायां स्थिरम्। धर्माय सभाचरम् का अभिप्राय है राष्ट्रधर्म की स्थिति के लिये सभाचर अर्थात् न्यायसभा में विचरण करनेवाला मुख्य न्यायाधीश।

[मापे-तौले आज्य का प्रतिदिन सेवन करने से शरीर स्वस्थ तथा सशक्त रहता है, शक्ति प्रदान भी करता है।]

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥३॥

(यातुधानाः) यातनाओं के निधिभूत, (अत्त्रिणः) माँसभक्षी, तथा (ये) जो (किमीदिनः) किम् इदानीम् इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले हैं, वे (विलपन्तु) विलाप करें, रोएँ। (अथ) तदनन्तर (अग्ने) हे अग्रणी! तू (इन्द्रः च) और इन्द्र अर्थात् सम्राट् तुम दोनों, (नः) हम द्वारा प्रस्तुत (हविः) हवि के रूप में पवित्र अन्न को (प्रति हर्यतम्) चाहो, उसकी कामना करो।

[मन्त्र में हविः द्वारा राष्ट्रशासन को यज्ञ कहा है, इसलिए अग्नि अर्थात् राष्ट्राग्रणी और इन्द्र अर्थात् सम्राट् को दिये जानेवाले भोजन को हविः कहा है। यातुधान पर-राष्ट्रियगुप्तचर हैं, भेद लेनेवाले]।

इन्द्रः=इन्द्रश्च सम्राट् (यजुः० ८।३७)।]

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्।
ब्रवीतु सर्वो यातुमान् अयमस्मीत्येत्य ॥४॥

(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (पूर्वः) प्रथम (आरभताम्) [यातुधानों का पकड़ना] आरम्भ करे, (बाहुमान् इन्द्रः) सशक्त बाहुओंवाला सम्राट् (प्रनुदतु) उन्हें प्रेरित करे [न्यायालय में जाने के लिये] (सर्वः यातुमान्) सब यातुधानों में से प्रत्येक (एत्य) [न्यायालय] पहुँच कर (ब्रवीतु) कहे (अयमस्मि इति) कि यह मैं हूँ।

[नुदतु=णुद प्रेरणे (तुदादिः)। बाहुमान् द्वारा प्रतीत होता है कि इन्द्र मनुष्य है, जिसकी कि बाहुएँ हैं। अतः अग्नि भी मनुष्य है, जोकि इन्द्र का सहचारी है।]

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आ यन्तु प्रब्रुवाणा
उपेदम् ॥५॥

(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ [अग्रणी] (ते) तेरी (वीर्यम्) वीरता या शक्ति को (पश्याम) हम [प्रजाजन] देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के निरीक्षक! (नः) हमें (यातुधानान्) यातनाओं की निधियों को (ब्रूहि) कहिये, उनके सम्बन्ध में परिचय दीजिये। (त्वया) तूने (पुरस्तात्) पहले से ही (सर्वे) सब यातुधान (परितप्ताः) पूर्णरूप से संतप्त कर दिये हैं, (ते) वे (इदम्) इस न्यायालय में (उप आयन्तु) उपस्थित हों (प्रब्रुवाणाः) अपनी-अपनी उपस्थिति को कहते हुए।

[यातनाओं की निधियाँ हैं, यातुधान।]

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६॥

(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ अग्रणी! (आरभस्व) तू निज कार्य प्रारम्भ कर, (अस्माकार्थाय) हमारे प्रयोजन के लिए (जज्ञिषे) प्रजा से तू उत्पन्न हुआ है [अग्रणीरूप में प्रकट हुआ है] (नः अग्ने) हे हमारे अग्रणी! (दूतः भूत्वा) यातुधानों का उपतापी होकर (यातुधानान्) यातुधानों को (विलापय) नष्ट कर या विलापवाले कर, शोकित कर।

[दूतः=टुदु उपतापे (स्वादिः)।]

त्वमग्ने यातुधानान् उपबद्धाँ इहा वह।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥७॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (त्वम्) तू (यातुधानान्) यातना के निधिभूत मनुष्यों को (उपबद्धान्) लगभग बाँधे हुओं को (इह) यहाँ अर्थात् न्यायालय में (आ वह) प्राप्त कर, (अथ) तदनन्तर (इन्द्रः) सम्राट् (वज्रेण) वज्रसदृश दृढ़ तलवार द्वारा (शीर्षाणि) इनके सिरों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट दे।

[प्रथम, अग्रणी यातुधानों को, न्यायालय में, बाँधे हुओं को पहुँचाए। ये लगभग बँधे हुए होने चाहिएँ, हाथ-पैर आदि बँधे हुए। न्यायालय में, अपराधानुसार दण्डविधान हो जाने पर सम्राट् के निर्देशानुसार इनके सिरों को काट देना चाहिए। "अपि" का अभिप्राय यह है कि निर्णयानुसार यदि कोई अन्य दण्ड दिया गया है तो उसके होते हुए भी सिर काटने का दण्ड स्थिर है। न्यायालय वेदानुकूल है। यथा "धर्माय सभाचरम्" (यजुः० ३०।६)। अर्थात् राज्य में धर्मव्यवस्था के लिए सभा अर्थात् न्यायाधीशों को, तथा सभाचरम् अर्थात् न्यायाधीशों के मुखिया को "अलभते" [प्राप्त करता है] (यजु० ३०।२२) धर्माय सभाचरम्=धर्म की रक्षा के लिए सभा में विचरनेवाले सभापति को (यजु० ३०।६; ऋषि दयानन्द)। सभा के होते ही सभाचर सम्भव है। अतः सभा द्वारा न्यायालय के न्यायाधीश तथा सभाचर द्वारा न्यायाधीशों का मुखिया ही अभिप्रेत है। धर्म है वर्णाश्रमधर्म या प्रजा का धारण-पोषण।

सूक्त ८

(१-४) । चातनः । अनुष्टुप्; ४ बार्हतगर्भात्रिष्टुप् ।

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥

(इदम् हविः) यह हविः (यातुधानान्) यातना के निधियों, यातना के पोषकों को (इह) यहाँ, अर्थात् हमारे पास (आ वहत्) लाई है, (इव) जैसे (नदी फेनम्) नदी फेन अर्थात् झाग को लाती है। (यः) जिस (स्त्री पुमान् अकः) स्त्री या पुरुष ने (इदम्) यह अभिचार कर्म किया है, (सः) वह (जनः) जन (इह) यहाँ (स्तुवताम्) कह दे।

[शत्रुजन ने यज्ञ द्वारा यातुधानों को हमारे पास भेजा है, उसको निजस्वरूप के कथन करने के लिए कहा है। यातुधान भी यज्ञ विधि का अवलम्बन कर अभिचारकर्म करते हैं।

यातुधानान्=यातु+धान (धा धारणपोषणयोः जुहोत्यादिः), पोषण अर्थ अभिप्रेत है। यातु=यातना।]

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२॥

(अयम्) यह जन (स्तुवानः) निजस्वरूप का कथन करता हुआ (आगमत्) आया है, (इमम्) इसको (प्रति हर्यत) तुम चाहो। (बृहस्पते) हे बृहती सेना के पति! (वशे लब्ध्वा) इसे निज वश में लेकर, (अग्नीषोमौ) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री और सेनानायक तुम [दोनों परस्पर परामर्श करके] (विविध्यतम्) इसे वेधो, ताड़ित करो। सोमः=सेनानायक (यजु० १७।४०)।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥३॥

(सोमप) हे सोमनामक[1] अर्थात् सेनानायक के रक्षक! (यातुधानस्य) यातुधान की (प्रजाम्) प्रजा का (जहि) हनन कर, (नयस्व च), और निज-प्रजा का उन्नति के मार्ग में नयन कर। (निस्तुवानस्य) जो अपना परिचय न दे उसके (परम् अक्षि) श्रेष्ठ अर्थात् दक्षिण आँख को, (उत) तथा (अवरम्) श्रेष्ठ, वाम अक्षि को (पातय) अधःपतित कर दे, निकाल दे।

१. सोम=सेनानायक (यजुर्वेद १७।४०)।

(नि[1]=निग्रह; रोकना, यथा इन्द्रिय-निग्रह।

[(१) में यातुधान, आततायी कहे हैं। मनु ने कहा है कि "आततायिनमायन्तं हन्यादेवाविचारयन्", अर्थात् आते हुए आततायी का हनन ही कर दे, बिना विचारे।]

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥४॥

(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ (अग्ने) अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (गुहासताम्) गुफा में वर्तमान, (अत्रिणाम्) मांसभक्षक, (एषाम्) इन यातुधानों के (यत्र) जिन स्थानविशेषों में (जनिमानि) जनों अर्थात् उत्पत्तियों को (वेत्थ) तू जानता है (तान्) उन्हें (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (वावृधानः) ज्ञान में बढ़ा हुआ, तू (एषाम्) इन यातुधानों का (शततर्हम्) हिंसा के बहुविध प्रकार से (जहि) हनन कर।

[वैदिक मन्त्रों में यातुधानों के हनन के बहुविध उपाय दर्शाए हैं। शततर्हम् विशेषण है जहि क्रिया का।]

सूक्त ९

(१-४) । अथर्वा । वस्वादिनानामन्त्रोक्तदेवताः । त्रैष्टुभम् ।

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि
धारयन्तु ॥१॥

(वसवः) ८ वसु, (अस्मिन्) इसमें (वसु) धन-सम्पत्ति (धारयन्तु) धारित करें अर्थात् प्रदान करें, (इन्द्रः) मेघीय विद्युत्, (पूषा) रश्मियों द्वारा परिपुष्ट सूर्य, (वरुणः) अन्तरिक्ष को आवृत करनेवाला मेघ, (मित्रः) वर्षा द्वारा स्निग्ध करनेवाला वर्षर्तु का सूर्य, (अग्निः) तथा पार्थिव अग्नि।

(इमम्) इसे (आदित्याः) १२ मासों के १२ आदित्य, (उत) तथा (विश्वे च देवाः) और सब देव अर्थात् द्योतमान पदार्थ (उत्तरस्मिन् ज्योतिषि) उत्कृष्ट ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें, ज्योतिः प्रदान करें।

[वसवः=अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं च, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च एते वसवः एतेषु हीदं वसु सर्वं हितम् (बृहदा०

१. नि=विनिग्रहार्थीयः (निरुक्त १।१।३)। विनिग्रहः=विशेषेण निग्रहः, रोकना। यथा इन्द्रियनिग्रहः, मनोनिग्रहः।

उपनिषद् अध्याय ४, ब्राह्मण ६, खण्ड ३)। पूषा=यद्रश्मिपोषं पुष्यति=सूर्यः (निरुक्त १२।२।१६)। वसु आदि द्वारा धन-सम्पत्ति प्राप्त होती ही है। यथा पृथिवी से अन्नादि तथा धातवीय पदार्थ प्राप्त होते हैं। आपः से जल-सम्पत्ति, तेजः से प्रकाश-ताप सम्पत्ति, वायु द्वारा जल-चक्कियाँ, आकाश से शब्दवहन आदि सम्पत्तियाँ प्राप्त हो रही हैं—इत्यादि।]

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥२॥

(देवाः) हे द्युतिविद्याविज्ञ वैज्ञानिको! (अस्य प्रदिशि) इसके निर्देश में (ज्योतिः अस्तु) राष्ट्र की ज्योति रहे, अर्थात् सूर्य, अग्नि, (उत वा) तथा राष्ट्र का (हिरण्यम्)[1] सुवर्ण चाँदी आदि का प्रयोग। (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे भवन्तु) ताकि हमसे निकृष्ट रहें। हे परमेश्वर! (इमम्) इस हमारे शासक—राजा को तू (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ (नाकम्) मोक्ष पर (अधि-रोहय) आरूढ़ कर।

[राष्ट्र की ज्योतिर्मयी शक्तियाँ राष्ट्र के राजा के निर्देश में रहनी चाहिएँ, ताकि राजा की आज्ञा के अनुसार वैज्ञानिक इनका प्रयोग करें। इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती और तद्-द्वारा शत्रु को अधर किया जा सकता है। राजा भी निःस्वार्थ भावना से राष्ट्र-सेवा करता हुआ "नाक" को प्राप्त हो जाता है। नाकम्; क=सांसारिक सुख; अक=सांसारिक सुखा-भाव; न+अक है सुख-असुख दोनों का न होना, अपितु दोनों के अभाव से विलक्षण, आनन्दरूप परमेश्वर में लीन रहते स्वेच्छापूर्वक विचरना।]

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३॥

(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों के जाननेवाले हे परमेश्वर! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद द्वारा (इन्द्राय) सम्राट् के लिये (पयांसि) विविध ज्ञानदुग्ध (समभरः=सम् अहरः) तूने सम्यक्तया प्राप्त कराए हैं, [उसे प्रदत्त किये हैं] (तेन) उस उत्तम वेद द्वारा (अग्ने) ज्ञानाग्निसम्पन्न हे परमेश्वर! (त्वम्) तू, (इह) इस लोक में (इमम्) इस सम्राट् को (वर्धय) बढ़ा, (एनम्) और इस सम्राट् को (सजातानाम्) समान जातिवाले [राजाओं] में (श्रैष्ठ्ये) सर्वश्रेष्ठ रूप में (आ धेहि) स्थापित कर।

१. ज्योतिः रूप में हिरण्य दृष्टान्त भी है। यथा "हिरण्यरूपः स हिरण्यसदृक्" (ऋ० २।३५।१०); निरुक्त ३।३।१५।

[इन्द्र=इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)। वरुण[1] हैं प्रत्येक राष्ट्र के राजा और सम्राट् है इन संयुक्त राजाओं द्वारा निर्वाचित श्रेष्ठ राजा। पयांसि द्वारा परमेश्वर का मातृरूप सूचित किया है जोकि इन्द्र को ज्ञानदुग्ध पिलाता है, वेदरूपी स्तनों द्वारा। सजातानाम्=यथा "सजातानां मध्यमेष्ठा एधि राज्ञाम्" (अथर्व० २।६।४)।]

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

(एषाम्) इन वरुण राजाओं की (यज्ञम्) यज्ञपद्धति को, (उत) तथा (वर्चः) तेज को, (रायस्पोषम्) "कर" रूप में प्रदत्त परिपुष्ट-धन को, (उत) तथा (चित्तानि) परामर्श में दिये सम्यक्-ज्ञानों को (अग्ने) हे ज्ञानाग्नि-सम्पन्न परमेश्वर! (अहम्) मैं सम्राट् (आददे) ग्रहण करता हूँ। ताकि (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हम से निकृष्ट (भवन्तु) हो जायें और (इमम्) इस सम्राट् को (नाकम् अधिरोहय) तू हे ब्रह्म अर्थात् हे परमेश्वर! नाक पर अधिरूढ़ कर।

["अग्ने" यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता ऽ आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में अग्नि आदि नाम ब्रह्म के कहे हैं। ब्रह्म=परमेश्वर।]

सूक्त १०

(१-४)। अथर्वा। असुरः, वरुणः। त्रैष्टुभ;
३, ४ अनुष्टुभ्; (३ ककुम्मती)।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥१॥

(अयम्) यह (देवानाम्) देवों के मध्य में (असुरः) प्राणप्रदाता (वि राजति) विराजता है। (उग्रस्य वरुणस्य राज्ञः) उग्र वरुण—राजा की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य है। तो भी (ब्रह्मणा शाशदाना) वेदविद्या द्वारा अतितीक्ष्ण हुआ मैं (इमम्) इसको, (वरुणस्य राज्ञः) वरुण—राजा के (ततः मन्योः) उस क्रोध से (परि) परिवर्जित[2] करके, (उन्नयामि) उन्नति के

१. प्रत्येक राष्ट्र के राजा को वरुण इसलिये कहा है कि यह भी प्रजा द्वारा निर्वाचित होता है। "व्रियते वाऽसौ वरुणः" (उणा० ३।५३, दयानन्द)।

२. परि=परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः (विष्णुपुराण)। त्रिगर्त=जलन्धर (आप्टे)। (१) "कि" ज्ञाने (जुहोत्यादिः)। (२) णम प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादिः)।

मार्ग में मैं ले चलता हूँ ।

[वरुण="वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुण:" (उणा० ३।५३) जो वरुण—परमेश्वर उपासकों का वरण करता है तथा उपासकों द्वारा जिसका वरण किया जाता है । ततः=पञ्चम्यर्थे सार्वविभक्तिक: तसिल् । वशा=इच्छा, वश कान्तौ (अदादि:), कान्ति:=कामना, इच्छा । परि=अपपरी वर्जने (अष्टा० १।४।८८) वरुणः=वरुण-सूक्त (अथर्व० १६।१।२, ३, ४, ५, ७) । मन्यु होता है अवबोध तथा ज्ञानपूर्वक । परन्तु वह जब उग्ररूप हो जाता है तब वह क्रोधरूप हो जाता है । मन्यु की प्राप्ति की प्रार्थना हुई है "मन्युरसि मन्युं मयि धेहि" (अथर्व० २०।१५।५) । वरुण का उग्रमन्यु भूचाल, बाढ़ और महायुद्धों में प्रकट होता है । असुर:=असु: प्राणं (निरुक्त ११।१८) 'अनवत्त्वम्' [अन प्राणने], (१०।३।३४)+रा (दाने अदादि:) ।]

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

(वरुण राजन्) हे वरुण राजन् ! (ते) तेरे (मन्यवे) मन्यु के प्रति (नम: अस्तु) प्रह्वीभाव हो, (हि) यत: (उग्र) हे उग्र ! (विश्वं द्रुग्धम्) सब प्रकार के द्रोह भाव को (निचिकेषि) तू जानता है, (सहस्रम् अन्यान् साकम्) अन्य हजार नमस्कारों को एक साथ (प्र सुवामि) मैं तेरे प्रति प्रेरित करता हूँ, ताकि (तव) तेरा (अयम्) यह उपासक (शतम् जीवाति) सौ वर्षों तक जीवित हो ।

[नम:=णम प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादि:) । प्रह्वीभाव तथा नमस्कार शब्द । अन्यान्=प्रह्वीभाव से भिन्न नमस्कार । निचिकेषि=कि ज्ञाने (जुहोत्यादि:) । ते=तेरा यह उपासक ।]

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥३॥

(जिह्वया) जिह्वा द्वारा (यद्) जो (बहु) बहुत (वृजिनम्) पापरूप (अनृतम् उवक्थ) अनृत भाषण तूने किया है, (तत:) उस असत्य भाषण से (त्वा) तुझे (अहम्) मैं (सत्यधर्मण:) सत्यधर्मवाले अर्थात् सत्यस्वरूप (राज्ञ:) संसार के राजा (वरुणात्) वरुण से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ ।

[वरुणसूक्त (अथर्व० ४।१६।७) में "अनृतवादी" (मन्त्र ६) का, तथा (मन्त्र ७) में "अनृत वाक्" का, तथा उसे "दण्डविधान" का कथन हुआ है । तथा (मन्त्र ८) में वरुण द्वारा प्रदत्त नाना रोगों का कथन हुआ है, जोकि अनृत वाक् तथा "अनृत" कर्मों के कारण फलरूप में प्राप्त होते

हैं । सद्गुरु पापी को पापकर्मों से छुड़ाकर सन्मार्ग पर लाने का विश्वास दिलाता है, ताकि भविष्य में वह वारुण्य कोप से उन्मुक्त रहे ।]

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥४॥

(वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारी, (अर्णवात्) जलवाले उदधि के सदृश गम्भीर, (महत: परि) तथा सर्वतो महान् वरुण-परमेश्वर के दण्ड से (त्वा) तुझे (मुञ्चामि) मैं उन्मुक्त करता हूँ [उसके दण्ड से छुड़ाता हूँ] । (उग्र) हे कष्टों द्वारा उद्विग्न हुए ! (सजातान्) स्वसमान कष्टोत्पन्नों को (इह) इस जीवन में (आवद) कह, और (अप) अपने कष्ट के अपाकृत करने के पश्चात् (न:) हमारे (ब्रह्म) परमेश्वर को (चिकीहि) तू जान । (जो हमारा उपास्य ब्रह्म है उसके स्वरूप को जानने में यत्न कर) ।

[कष्टोत्पन्नों के कष्टों का अपाकरण करना पुण्यकर्म है । पुण्यकर्मों के करने से ब्रह्मज्ञान होता है, पापियों को नहीं ।]

सूक्त ११

(१-६) । अथर्वा । पूषा । पंक्ति:; २ अनुष्टुभ्; ३ चतुष्पदा उष्णिग्गर्भा ककुम्मती; अनुष्टुभ्; ४-५ पथ्यापंक्ति: ।

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१॥

(पूषन्) हे पुष्टि करनेवाले ! (अस्मिन्; सूतौ) इस प्रसूति-यज्ञ में (अर्यमा) आर्यों का मान करनेवाला, (वेधा:) और यज्ञविधि का विधान करनेवाला, (होता) आहुति देनेवाला ऋत्विक् (ते) तेरे लिये (वषट्) वषट् शब्द का उच्चारण करके (कृणोतु) आहुति प्रदान करे । (ऋतप्रजाता[1]) सत्यनियमानुसार प्रजन करनेवाली गर्भवती हुई (नारी) नारी (सिस्रताम्) अङ्गों में ढीली हो जाय, (पर्वाणि) जोड़ (विजिहताम्) खुल जायें, [वि+हाङ् गतौ], (सूतवै उ) प्रसूति के लिये ।

[वषट्, वौषट् तथा वह समानार्थक हैं । तीनों पद "वह" धातु के रूप हैं । "वह प्रापणे" (भ्वादि:) । वषट्=वह+सत् (अस्+शतृ)+हकार का लोप । वौषट्=वह के हकार को "ऊठ्" करके "वृद्धि"+सत् (अस्+शतृ) अथवा वकार के उत्तरवर्ती अकार को प्लुत औकार । वह प्रापणे (भ्वादि:)

१. ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।७) । प्रजाता=कर्तरि क्त: ।

पूषन्=पुष्टि करनेवाला परमेश्वर। प्रसव क्रिया से पूर्व परमेश्वर के नाम पर यज्ञ किया है। उसका निर्देश अस्मिन् द्वारा हुआ है। प्रसूतियज्ञ है जातकर्म संस्कार।]

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूऽर्णुवन्तु सूतवे ॥२॥

(चतस्रः दिवः प्रदिशः) चार द्युलोक की विस्तृत दिशाएँ हैं। (उत) तथा (चतस्रः भूम्याः) चार भूमि की हैं। (देवाः) देवों ने (गर्भम्) को (समैरयन्) मिलकर प्रेरित किया है। (सूतवे) प्रसव के लिये (सम् व्यूर्णुवन्तु) वे गर्भ को विगताच्छादन करें, आच्छादन से रहित करें।

[देवाः=सम्भवतः १० मास। यथा "दशमे मासि सूतवे" (अथर्व० ५।२५।१०)। चतस्रः=जैसे द्युलोक की तथा भूमि की चार-चार विस्तृत दिशाएँ हैं, वैसे प्रसूतिगृह की चारों दिशाएँ भी विस्तृत होनी चाहिएँ, जिसमें खुली वायु तथा खुले प्रकाश का प्रवेश होता रहे।]

सूषा व्यूऽर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥३॥

(सूषा) प्राणिगर्भ विमोचन करके शिशु देनेवाली सेविका (व्यूर्णोतु) आसन्न प्रसवा के वस्त्राच्छादन को विगत करे, पृथक् करे, और (योनिम्) योनिमार्ग को (विहापयामसि) हम [शल्यकर्म में दक्षों द्वारा] विवृत कराते हैं [ये दूसरी सेविकाएँ हैं]। (सूषणे) हे सुखपूर्वक जन्म देनेवाली माता! (त्वम्) तूं (श्रथय) अपने शरीर को शिथिल कर। (बिष्कले) हे चान्द्रकला के सदृश सूक्ष्म नाभिनाल को विगत करनेवाली सेविका! तूं (विसृज) नाभिनाल को काट दे।

[सूषा=षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (सायण तथा अदादिः)+षणु दाने; जनसनखनक्रमगमो विट् (अष्टा० ३।२।६७) इति विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अष्टा० ६।४।४१) इति आत्वम् (सायण)। व्यूर्णोतु=वि+ऊर्णुञ् आच्छादने (अदादिः) वस्त्राच्छादन को विगत करनेवाली। विसृज=सर्जन=पैदा करना; विसर्जन=काटना। ये सेविकाएँ बच्चा पैदा करने के हस्पताल की हैं। बिष्कला अथवा बिष्क हिंसायाम् (चुरादिः)+ला आदाने (अदादिः)। धात्रीक्रिया में हिंसा है, नाभिनाल छेदन। धात्री=दाई।]

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

(न इव) न मानो (मांसे) मांस में, (न पीवसि) न स्थूलावयव में, (न इव) न मानो (मज्जसु) नलिकास्थियों के अस्थिसार में (आहतम्) संलग्न है, (पृश्नि) शुभ्रवर्ण[1] [सायण], (शेवलम्) काई के सदृश वर्तमान (जरायु) जीर्ण हुआ गर्भावरण (शुने अत्तवे) कुत्ते के खाने के लिये (अव एतु) नीचे भूमि पर गिर जाय, (जरायु) जीर्ण हुआ गर्भावरण (अव पद्यताम्) नीचे गिर जाय [गर्भ में ही न रह जाय]।

[पीवसि=पीव स्थौल्ये (भ्वादिः)। आहतम्=संलग्नम्, संसक्तम्, आबद्धम्।]

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५॥

(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्रद्वार का (वि भिनद्मि) मैं भेदन करता हूँ, (योनिम् नि) योनि का भेदन करता हूँ, (वि गवीनिके) पार्श्ववर्ति दो नाड़ियों का भेदन करता हूँ। (पुत्रम् च) नरक से त्राण करनेवाले पुत्र[2] को (मातरम् च) और माता को (वि) पृथक् करता हूँ, तथा (कुमारम्) कुमार को (वि) पृथक् करता हूँ (जरायुणा) जरायु से अर्थात् जीर्ण हुए गर्भावरण से। (जरायु अव पद्यताम्) जरायु नीचे पतित हो जाय।

[गवीनिके=योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ (सायण)। कुमारम् पद द्वारा उत्पन्न शिशु की पुंलिङ्गता प्रकट की है। यह कुमार है, न कि कुमारी।]

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥६॥

(यथा वातः) जैसे वायु [शीघ्र प्रवाहित होती है] (यथा मनः) जैसे मन [शीघ्र विषयों की ओर जाता है], (यथा पक्षिणः पतन्ति) जैसे पक्षी बिना रुकावट [अन्तरिक्ष में] (पतन्ति) उड़ते हैं; (एव=एवम्) इस प्रकार (दशमास्य) १० मासों का हे शिशु! तूं (जरायुणा साकम्) जीर्ण हुए गर्भावरण अर्थात् जेर के साथ (पत) गर्भाशय से शीघ्र निर्गत हो, (अव जरायु पद्यताम्) और जरायु भी नीचे गिरे।

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

---

१. शुभ्र का अर्थ यदि श्वेत है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शुभ्र पद शेवल का विशेषण है, शेवल हरी होती है। शेवल है जल की काई। यदि शुभ्र का अर्थ है चमकीला तो यह विशेषण ठीक है, शेवल हरेपन में चमकीला तो होता ही है।

२. वृद्धावस्था नरकरूप ही है, जबकि व्यक्ति निःसहाय हो जाता है, तब पुत्र ही रक्षा करता है। अथवा पुरु त्रायते पुत्रः।

अनुवाक ३

सूक्त १२

(१-४) । भृग्वङ्गिराः । यक्ष्मनाशनम् । जगती; ४ अनुष्टुप् ।

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१॥

(प्रथमः) प्रथमकाल से विद्यमान अर्थात् अनादि, (जरायुजः) जीर्ण होनेवाली प्रकृति से प्रकट हुआ, (उस्रिया) किरणोंवाले सूर्यादि का स्वामी, (वृषा) सुखवर्षी, (वातभ्रजाः) वायु और मेघों का उत्पादक, (वृष्ट्या, स्तनयन् एति) वृष्टि के साथ, मेघों को गर्जाता हुआ परमेश्वर आता है, प्रकट होता है [जगत् में] (ऋजुगः) ऋजु अर्थात् सत्यमार्गगामी (सः) वह (नः तन्वः) हमारी तनुओं को (मृडाति) सुखी करे। (रुजन्) प्रलयकाल में जगत् को भंग करता हुआ (यः) जो परमेश्वर (एकम् ओजः) निज एक ओज को (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) विक्षिप्त करता है।

[जरायुजः=तीन अनादि हैं—परमेश्वर, जीवात्मा, प्रकृति । प्रकृति भी अनादि है जोकि त्रिरूपा है, सत्त्व, रजस् और तमोरूपा । यह ओजः रूप है, शक्तिरूप है । परमेश्वर इस द्वारा निज ओज को प्रकट करता है । इसे परमेश्वर ने तीन स्थानों में विभक्त किया है—पृथिवी में, अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में । विचक्रमे=वि+क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादिः) ।

ऋजुगः=ऋजुमार्ग है सत्यमार्ग । यथा "तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयः" (अथर्व० ८।४।१२) । उस्रिया=उस्र+इयाट् । मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन हुआ है, उसे ही नमस्यन्तः द्वारा नमस्कार किया है (अथर्व० १।१२।१), तथा बार-बार नमस्कार किया है (अथर्व० १।१३।१-४) । रुजन्=रुजो भंगे (तुदादिः) । सूक्त १२, १३ में परमेश्वर का ही वर्णन है । नमस्कार चेतन को ही किया जाता है ।]

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥२॥

(अङ्गे अङ्गे) प्राणियों तथा जगत् के अङ्ग-अङ्ग में (शोचिषा) दीप्ति के सहित (शिश्रियाणम्), आश्रित हुए (त्वा) हे परमेश्वर ! तुझे (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए (हविषा) हविः द्वारा (विधेम) हम पूजित करें। (अङ्कान्) अञ्चनशील अर्थात् गमनशील, (समङ्कान्) तथा समूह में गमनशील घटकों को (हविषा) हविः द्वारा (विधेम) विशेषतया हम परिपोषित करें, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण अर्थात् धारण करनेवाले ने (अस्याः) इस सृष्टि के (पर्व) परु-परु को (अग्रभीत्) ग्रहण अर्थात् धारण किया हुआ है।

[मन्त्र में ग्रहीता द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है । वह प्राणियों के अङ्ग-अङ्ग में, मस्तिष्क, हृदय आदि में व्याप्त है और जगत् के अङ्ग-अङ्ग में, चान्द, सूर्य, नक्षत्रों और ताराओं में भी व्याप्त है । उसे ही नमस्कार किया गया है और यज्ञिय हवियाँ समर्पित की हैं । गतिशील जगत् घटक हैं पृथिवी आदि, और समूहरूप में जगत् घटक हैं तारागुच्छक राशियाँ; मेष, वृष आदि । इन्हें constellation कहते हैं । ग्रभीता=अपाणिपादो जवनो ग्रभीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । ग्रभीता=ग्रह उपादाने (क्र्यादिः)] । शिश्रियाणम्=श्रि+कानच् ।]

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥३॥

(शीर्षक्त्याः) सिर को प्राप्त रोग से, (उत) तथा (कासः) खाँसी से (एनम्) इसे (मुञ्च) हे परमेश्वर ! तूँ मुक्त कर, (यः) जोकि (अस्य) इस मेरे (परुः परुः) सन्धिबन्धों में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है । (यः) जो रोग (अभ्रजाः) वर्षाकाल में पैदा होता है, अर्थात् श्लेष रोग, (वातजाः) वातविकार से उत्पन्न होता है, (यः च) और जो (शुष्मः) पित्त विकार का है । वह त्रिविध रोग (वनस्पतीन्) वनस्पतियों के साथ (सचताम्) सम्बद्ध हो, (पर्वतान् च) और पर्वतों के साथ सम्बद्ध हो, अर्थात् इन रोगों की निवृत्ति के लिए वनस्पतियों का सेवन करना चाहिए और पर्वतों में निवास करना चाहिए । पर्वत शीत होते हैं अतः पित्तजनित रोग के लिए हितकर हैं ।

[(शीर्षक्त्याः) शिरः अञ्चति प्राप्नोति इति शीर्षक्तिः । परमेश्वर भेषज रूप है, (यजुः० ३।५९) । अस्य=अस्य मे । "अस्य" के साथ "मे" का सम्बन्ध जानना चाहिये । मन्त्र ४ के अनुसार कासः=कास् शब्द कुत्सायाम् (भ्वादिः), क्विप्, पञ्चम्येकवचन ।]

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ॥४॥

(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शिरोभूत अङ्ग के लिये (शम्) सुख हो, (मे) मेरे (अवराय) नीचे के गात्र के लिये (शम् अस्तु) सुख हो। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः अङ्गेभ्यः) चारों अङ्गों दो टाँगों, दो बाहुओं के लिये, (मम) तथा मेरी (तन्वे) तनू के लिये (शम् अस्तु) सुख हो।

[अवर गात्र है ग्रीवा से नीचे कटि तक। शम् सुखनाम (निघं० ३।६)।]

सूक्त १३

(१-४)। भृग्वङ्गिराः। विद्युत्। अनुष्टुम्; ३ चतुष्पदा विराड् जगती; ४ त्रिष्टुम् परा बृहती गर्भा पंक्तिः।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥

हे परमेश्वर! (विद्युते) विद्योतमान अर्थात् ज्योतिःस्वरूप (ते) तेरे लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (स्तनयित्नवे) मेघवत् गर्जन करनेवाले (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार हो। (अश्मने) अश्मा अर्थात् मेघवत् वर्षा करनेवाले के सदृश सुखवर्षा करनेवाले (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार हो, (येना=येन) जिस कारण (दूडाशे) दुःखपूर्वक दान देनेवाले पर (अस्यसि) तू दुःख बम फेंकता है। अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)।

[दूडाशे=दुर्+दाशे (दासृ दाने भ्वादिः)। सामाजिक कर्म तथा राष्ट्रोन्नति के लिये दान देना। बाढ़, भूचाल, अग्निकाण्ड तथा रोग रूप में परमेश्वर का गर्जन।

दूदाशे=दुर्+दाशे (दासृ दाने, भ्वादिः), सकारस्य शकारः छान्दसः "दू" दाशे=दुःखेन दाश्यते दाप्यते इति दूदाशो लुब्धः (सायणः)।]

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट मनुष्य का (नपात्) पात न होने देनेवाले हे परमेश्वर! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो। (यतः) चूंकि (तपः) तपोमय जीवन को (समूहसि) तू संघीकृत करता है, बढ़ाता[1] है। (नः) हमारे

1. परमेश्वर जैसे हमारे तपः को बढ़ाता है वैसे वह श्रद्धापूर्वक उपासित हुआ हमें नानाविध सहायता प्रदान करता है। यथा "प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति" (योग, पाद १, सूत्र २३)।

(तनूभ्यः) देहों के लिये (मृडय) सुख पैदा कर, (तोकेभ्यः) पुत्र-पौत्र आदि के लिये (मयः) सुख (कृधि) कर।

[परमेश्वर हमारे तपोमय जीवन के बढ़ाने में सहायता देता है। मृडय=मृड सुखने (तुदादिः, तथा क्र्यादिः)। मयः सुखनाम (निघं० ३।६)। परमेश्वर निज उपासक को प्रकृष्ट मार्ग से गिरने नहीं देता, उसके तपोमय जीवन को प्रगति देता और उसे सुख प्रदान करता है। नपात्=न पातयति, पतन नहीं करता।]

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट मनुष्य का (नपात्) पतन न होने देनेवाले परमेश्वर! (तुभ्यम्) तेरे लिये (नम एव अस्तु) नमस्कार ही हो, (हेतये) प्रगति और वृद्धि प्राप्त करने के लिये, (तपुषे च) और तपोमय जीवन के लिये, (ते) तेरे लिये (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं। (ते) तेरा (धाम) स्थान (विद्म) हम जानते हैं (परमम्) जो कि परम श्रेष्ठ है, (यत् गुहा) जो कि हृदय-गुहा है, (समुद्रे अन्तः) हृदय समुद्र में (नाभिः) बन्धनरूप में (निहिता असि) तू निहित है।

[नम एव=श्रेष्ठ व्यक्ति के लिये तदुचित भेंट दी जाती है। परमेश्वर इतना श्रेष्ठ है कि उसे भेंट करने के लिये तदुचित कोई सांसारिक वस्तु नहीं, इसलिये नमस्कार ही भेंट किया है। समुद्रे—हृदय समुद्ररूप हैं यथा "हृद्यः समुद्रः"। हेतये=हि गतौ वृद्धौ च (स्वादिः)। नाभि की अपेक्षा से "निहिता" स्त्रीलिङ्ग में है।]

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

हे पारमेश्वरी माता! (याम् त्वा) जिस तुझको (विश्वे) सब उपासक योगीजन (असृजन्त) प्रकट करते हैं, (असनाय) आसुर भावों और कर्मों पर फेंकने के लिये, (धृष्णुम्) धर्षक (इषुं कृण्वानाः) अपना बाण करते हुए, बनाते हुए। (सा) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर (विदथे) ज्ञान के निमित्त (गृणाना) वेदोपदेश करती हुई; (देवि) हे दिव्य माता! (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो। यह पारमेश्वरी माता है।

[धृष्णुम्=धर्षक, आक्रमणकारी।]

सूक्त १४

(१-४) । भृग्वङ्गिराः । वरुणो वा यमो वा । अनुष्टुभ्;
१ ककुम्मती; ३ चतुष्पदा विराट् ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥१॥

(अस्याः) इस कन्या के (भगम्) सौभाग्य को, (वर्चः) दीप्ति अर्थात् कान्ति को (आदिषि) मैं [वर] ने प्राप्त किया है, (इव) जैसे (वृक्षात्) [पुष्प वाले] वृक्ष से (स्रजम्) पुष्पमाला प्राप्त की जाती है। (महाबुध्नः[1]) महामूल अर्थात् दीर्घविस्तारी मूल वाले (पर्वतः इव) पर्वत के सदृश (ज्योक्) चिरकाल तक (पितृषु) हे वर ! तेरे माता-पिता आदि बन्धु में (आस्ताम्) यह रहे ।

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥२॥

(राजन्) हे राजमान अर्थात् शोभायमान[2] [वर] (एषा) यह कन्या (ते वधूः) तेरी वधू अर्थात् विवाहयोग्या पत्नी है, (यम) हे संयमी वर ! (निधूयताम्) इसे नितरां कम्पित कर, इसके पितृगृह से संचालित कर। (सा) वह (मातुः) तेरी माता के, (अथो) तथा (भ्रातुः) भाई के, (अथो) तथा (पितुः) पिता के (गृहे) घर में (वध्यताम्) दृढ़तया संबद्ध रहे।

[अभिप्राय; यह तेरी वधू हुई है। इसके साथ ऐसा सद्व्यवहार करना कि यह तेरी माता, भाई तथा पिता के घर दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध रहे। विवाह के पश्चात् वर-वधू अपने नये घर में स्वेच्छापूर्वक रहते हैं। वधू, वर के माता आदि के घर जाती रहे, इसके लिये माता, पिता, भाई द्वारा वधू के साथ सद्व्यवहार रहना चाहिए। वरः=वरणीयः, वधूः=प्रापणीया, वह प्रापणे, (भ्वादिः)।]

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥३॥

(राजन्) राजमान अर्थात् शोभायमान हे वर ! (एषा) यह कन्या

१. जैसे महाबुध्न पर्वत पृथिवी में अविचल रूप में रहता है, वैसे वधू पतिगृह में अविचलरूप में रहे।

२. वर विवाहार्थ माला, मुकुट आदि द्वारा शोभायमान होता है।

(ते) तेरे (कुलपा) कुल की रक्षिका है, (ताम् उ) उसे (ते) तुझे (परिदद्मसि) हम कन्या के सम्बन्धी समर्पित करते हैं। (ज्योक्) चिरकाल तक (पितृषु) तेरे पिता आदि में (आसातै) निवास करे और (शीर्ष्णः) सिर अर्थात् विचार से (शम्) सुख का (ओप्यात्) बीज बोए, उसका विस्तार[1] करे। डुवप बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः) चिरकाल तक अर्थात् जब तक वह चाहे, अर्थात् वैराग्य हो जाने से पूर्वकाल तक। वैराग्य हो जाने पर विवाहिता स्त्री भी गृह परित्याग का अधिकार रखती है। यथा "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मचर्यादेव वा व्रजेत्" (जाबालोपनिषद् खण्ड ४)। स्त्रियों को भी प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास का अधिकार है। यथा "अथ जिविः[2] विदथमा वदासि" (अथर्व० १४।१।२१) गृहाद्वा द्वारा स्त्रियों के लिये श्वशुरगृह भी समझना चाहिये। विदथम्=ज्ञानम्।

[ओप्यात्=आवपनात्, वपनं छेदनम्, डुवप् बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः)।

कुलपाः=सन्तानोत्पादन द्वारा कुल परम्परा की रक्षिका। सिर के न वपन का अवधिकाल है जब तक कि पत्नी संन्यास ग्रहण न करे। संन्यासकाल में सिर के केशों का वपन होता है—यह प्रथा है। उस संन्यासकाल में वृद्धा स्त्री भी संन्यास ग्रहण कर ज्ञानोपदेश करती है। यथा "अथजिर्विविदथमावदासि" (अथर्व० १४।१।२१)। यह प्रथा पुरुष के लिये भी है (अथर्व० ८।१।६)।]

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

(असितस्य) बन्धन रहित अर्थात् सर्वव्यापक के, (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा के, (गयस्य च) और प्राणरूप परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेद द्वारा, अर्थात् वेदोपदेश द्वारा (ते) तेरे लिये [हे वर !] (भगम्) कन्या के सौभाग्य को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बाँधता हूँ, दृढ़बद्ध करता हूँ। (जामयः) स्त्रियाँ (अन्तः कोशम् इव) छिपे ख़ज़ाने के सदृश हैं।

[नह्यामि द्वारा कन्याप्रदाता कन्या का दृढ़ बन्धन वर के साथ करता है। वह प्रदाता कन्या का पिता है। स्त्रियाँ सद्गुणों में, छिपे-कोश के सदृश हैं। अतः उनकी रक्षा यत्नपूर्वक होनी चाहिये।]

१. बीज बोने के लिये खेत में उसका विस्तार करना होता है।

२. प्रव्रज्या तो जब भी वैराग्य हो जाय तब हो सकती है, परन्तु ज्ञानोपदेश का अधिकार जरावस्था में ही है, जबकि वह अनुभवी हो जाय। इससे पूर्व वैरागी विरक्ताश्रम में निवास करे, चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष (अथर्व० ८।१।६)।

सूक्त १५

(१-४) । अथर्वा । इन्द्रः । अनुष्टुम्; २ भुरिक्पथ्या पंक्तिः ।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

(सिन्धवः) स्यन्दनशील नदियाँ (सम् सम्) परस्पर संगत हुए, परस्पर मिले जलों समेत (स्रवन्तु) स्रवित हों, प्रवाहित हों, (वाताः) गमनशील वायुएँ (सम्) परस्पर मिलकर स्रवित हों, (पतत्रिणः सम्) पक्षियों के सदृश परस्पर मिलकर उड़नेवाले व्यावहारिक वायुयान उड़ें। (प्रदिवः) प्रज्ञानी व्यवहारी (मे इमम् यज्ञम्) मेरे इस व्यावहारिक-यज्ञ को (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवित करें। (संस्राव्येण हविषा) परस्पर मिलकर एकत्रित हुई हविः द्वारा (जुहोमि) मैं राष्ट्रपति यज्ञ करता हूँ।

[यह यज्ञ है व्यापारिक-यज्ञ। राष्ट्रपति इस यज्ञ को करता है। वह परस्पर सहयोगियों द्वारा धनसंग्रह करता है, यह संस्राव्य-हविः है, पारस्परिक दान रूपी हवि है। व्यापारिक[1]-वायुयानों द्वारा यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। ये यान पक्षियों की आकृतिवाले, अर्थात् पंखोंवाले होते हैं। प्रदिवः=प्रज्ञानी व्यवहारी "प्र+दिवः" दिवु क्रीडाविजिगीषा "व्यवहार" आदि (दिवादिः)। संस्राव्य-हवि का स्वरूप मन्त्र (३ और ४) में स्पष्ट है।]

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥

हे व्यापारियो! (इह एव) इस व्यापारिक स्थान में ही (मे हवम्) मेरे आह्वान को उद्दिष्ट करके (आ यात) आओ। (इह) इस व्यापारिक स्थान में (संस्रावणाः) संस्राव्य-हवियाँ हैं, एकत्रित की गई हैं। (उत) तथा (गिरः) अपनी-अपनी वाणियाँ अर्थात् विचार (इमम्) इस व्यापारी का (वर्धयत) संवर्धन करें। (इह एतु) यहाँ आएँ (यः) जोकि सब पशु[2] हैं [व्यापार कर्म में सहायक] (अस्मिन्) इस व्यापाराध्यक्ष में (तिष्ठतु) स्थित रहे (या) जोकि (रयिः) व्यापारिक सम्पत्ति है।

१. व्यापारिक वायुयानों के स्वरूपज्ञानार्थ, देखो (अथर्व० ३।१५।१-६)।

२. पशुसमूहः। वैदिक दृष्टि में सर्वपशु पञ्चविध हैं, जो कि धनार्जन में उत्स रूप हैं। यथा "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावः अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)। पुरुषों को भी पशु कहा है। ये श्रमिक रूप हैं जोकि मित्रादि से प्रेरित न होकर परबुद्धि से प्रेरित होकर धनार्जन में सहायक होते हैं, (मन्त्र ४)।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥३॥

(नदीनाम्) नदियों के (ये) जो (उत्सासः) उत्स (संस्रवन्ति) प्रवाहित होते हैं (सदम्) सदा (अक्षिताः) न क्षीण हुए, (तेभिः) उन सब (संस्रावैः) प्रवाहों द्वारा (मे) मुझ व्यापाराध्यक्ष के (धनम्) सम्पत्ति को (संस्रावयामसि) हम मिलकर प्रवाहित करते हैं। उत्सासः=नदियों के उद्गम स्थान अर्थात् स्रोत जहाँ से नदियों का उद्गम होता है।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥४॥

(ये) जो उत्साः (सर्पिषः) आज्य के, (च क्षीरस्य) और दूध के, (उदकस्य च) और उदक के (संस्रवन्ति) सम्यक् प्रवाहित होते हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन मेरे सब संस्रावों अर्थात् प्रवाहों द्वारा, (धनम्) धन को (संस्रावयामसि) हम परस्पर मिलकर प्रवाहित करते हैं, प्रभूत रूप में पैदा करते हैं।

[सर्पिः, दूध द्वारा तथा पशुओं की सहायता द्वारा कूपों से उद्धृत उदक के सेचन से प्राप्त, कृष्यन्न तो, स्वयं धन रूप हैं तथा इनके विक्रय से भी धनप्राप्ति होती है।]

सूक्त १६

(१-४) । चातनः । इन्द्रः वरुणः अग्निः । अनुष्टुम्; ४ ककुम्मती ।

येऽमावास्यां रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥१॥

(ये) जो (अत्रिणः) भक्षक चोर-डाकू या शत्रु सैनिकों का (व्राजम्) समूह, (अमावास्यां रात्रिम्) अमावास्या की रात्रि को निमित्त करके (उदस्थुः) उत्थान करते हैं [आक्रमण करने के लिये], (सः) वह (यातुहा) यातनाकारियों का हनन करनेवाला, (तुरीयः) तुरीयावस्था का परमेश्वर, (अग्निः) जो कि अग्निवत् प्रकाशस्वरूप है, (अस्मभ्यम्) हमें (अधि ब्रवत्) स्वाधिकारपूर्वक इसका उपदेश करे। तुरीयः=माण्डू० उप० (पाद १२)। जो कि तुरीयावस्था का होता है न कि जो "ब्रवत्" रूप में तुर्यावस्था का है। "ब्रवत्" रूप में वह तुरीयावस्था का नहीं। अग्नि को "तुरीयः" कहा है यह दर्शाने के लिये कि यह अग्नि और कोई नहीं बिना तुरीय ब्रह्म के।

"ब्रवत्" अर्थात् बोलना या उपदेश देना चेतन अग्नि द्वारा ही सम्भव है, जड़-अग्नि द्वारा नहीं। ब्रवत्=परमेश्वर ने मन्त्रों द्वारा सीसे के प्रयोग का कथन किया ही है।

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥२॥

(सीसाय) सीसे के प्रयोग के लिये (वरुणः[1]) राष्ट्र के पति ने (अध्याह) अधिकारपूर्वक कहा है, (सीसाय) सीसे के प्रयोग के लिये (अग्निः) अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री (उपावति) स्वयं उपस्थित होकर हमारी रक्षा करता है। (इन्द्रः[1]) सम्राट् ने (मे) मुझ प्रजाजन को (सीसम्, प्रायच्छत्) सीसा प्रदान किया है, (अङ्ग) हे प्रिय ! (तत्) वह सीसा (यातुचातनम्) यातनाकारियों का नाशक है। (चातयतिर्नाशने), (यास्क ६।३०) सीस=Lead धातु।

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥३॥

(इदम्) यह सीस (विष्कन्धम्) गति के प्रतिबन्धक अर्थात् विघ्न करनेवाले का (सहते) पराभव करता है, (इदम्) यह सीस (अत्रिणः) परभक्षिकों का (बाधते) बद्ध करता है, हनन करता है। (अनेन) इस सीस द्वारा (विश्वा=विश्वानि) सबको (ससहे) मैं पराभूत करता हूँ (या=यानि) जितनी कि (पिशाच्याः) पिशाचों की (जातानि) जातियाँ हैं, उत्पत्तियाँ हैं।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

(यदि) यदि (नः) हमारी (गाम्) गौ की (हंसि) तू हिंसा करता है, (यदि अश्वम्) यदि अश्व की, (यदि पूरुषम्) और यदि पुरुष [की हिंसा करता है] तो (तम् त्वा) उस तुझको (विध्यामः) हम वींधते हैं, (यथा) जिस प्रकार से (नो असः) न तू हो (अवीरहा) अवीरजन का हनन करनेवाला।[2]

[विध्यामः पद द्वारा वींधने का कथन हुआ है, जिससे यह सीस है, सीसे की गोली।]

तृतीय अनुवाक समाप्त।

---

१. इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति और वरुण है एक राष्ट्र का अधिपति और अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री।

२. वीर हैं सैनिक; अवीर हैं गौ, अश्व तथा प्रजा के पुरुष आदि।

अनुवाक ४

सूक्त १७

(१-४)। ब्रह्मा। योषितः। अनुष्टुभ्; १ भुरिक्; ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री।

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥१॥

(योषितः) स्त्री की (लोहितवाससः) रक्त की निवासभूत (अमूः याः) वे जो (हिराः) सिराएँ (यन्ति) गति करती हैं, वे (तिष्ठन्तु) ठहर जाएँ, गतिरहित हो जाएँ, (हतवर्चसः) निज तेज से विहीन हुई। (इव) जैसे कि (अभ्रातरः जामयः) भाई बिना बहिनें (तिष्ठन्तु) निज गृह में ही स्थित रहती हैं।

[हिराः=सिराएँ, जो कि अशुद्ध रक्त को बहाती हैं, इन्हें (Vains) कहते हैं। इनमें अशुद्ध रक्त सरण करता है, शनैः-शनैः गति करता है। सिराः=हिराः, यथा सिन्धु=हिन्दु। भाईरहित बहिनें पितृकुल में ही रहकर स्वपति के साथ निवास कर पितृकुल का संवर्धन करती हैं। ऐसे पति को गृहजामाता कहते हैं।]

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥२॥

(अवरे) शरीर के अधोभाग में वर्तमान हे धमनि ! (तिष्ठ) तू यथास्थान स्थित रह, (परे) ऊर्ध्वाङ्ग में वर्तमान हे धमनि ! (उत) तथा (मध्यमे) मध्यमाङ्ग में वर्तमान हे धमनि ! (त्वम्) तू (तिष्ठ) यथास्थान में स्थित रह। (कनिष्ठिका च) और सबसे छोटी अर्थात् सूक्ष्मतरा धमनि (तिष्ठति) तो स्वस्थान में स्थित रहती ही है, (मही धमनिः) सबसे बड़ी धमनि (तिष्ठात् इत्) भी स्वस्थान में स्थित रहे।

[मन्त्र (१) में तो सिराओं का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२) में धमनियों का। ये धम-धम में हिलती हुई गति करती हैं, ये हाथ की कलाई में हैं अँगूठे के नीचे, जिन द्वारा स्वास्थ्य और शरीर के तापमान की पर्ख की जाती है। हृदय की गति के कारण धमनियों में धम-धम की गति होती है।]

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥

(शतस्य धमनीनाम्) सौ धमनियों की नाड़ियाँ और हजार हिराओं अर्थात् सिराओं की (अस्थुः इत्) स्व-स्व स्थान में स्थित ही हैं। (इमाः मध्यमाः) इन दो प्रकार की नाड़ियों के मध्यगत नाड़ियाँ भी स्व-स्व स्थान में स्थित ही हैं। (साकम्) साथ ही, (अन्ताः) अवशिष्ट नाड़ियाँ भी (अरंसत) यथापूर्व रमण कर रही हैं। अर्थात् ये सब प्रकार की नाड़ियाँ स्व-स्व स्थान में रमण कर रही हैं, स्व-स्व स्थान से प्रच्युत नहीं हुईं।

[शतस्य="शतं चैका हृदयस्य नाड्यास्तासां मूर्धानं अभिनिःसृतैका" (कठ उप० ६।१६)। सहस्रम्="अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां द्वासप्तति द्वासप्तति प्रतिशाखा सहस्राणि आसु व्यानश्चरति"[1] (प्रश्नोपनिषद् ३।६)। धमनियों की नाड़ियाँ नडवत् खोखली होती हैं, जिनमें रक्त गति करता है और सहस्रम् द्वारा सुषुम्णा से निर्गत हजारों ज्ञान-वाहिनी तथा क्रियावाहिनी सूक्ष्म तन्तुओं का वर्णन अभिप्रेत है, इन्हें NERVES कहते हैं, ये तन्तु की तरह कठोर होती हैं, नाड़ियों की तरह खोखली नहीं। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक सायण ने उद्धृत किया है—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसंभवाः।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम्।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः॥

सुषुम्ना[2] लगभग एक फुट लम्बी होती है और स्थूलकाय होती है और पांच पर्वों अर्थात् केन्द्रों में विभक्त होती है। कुण्डलिनी सर्पिणी प्रथम पर्व या केन्द्र है।]

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्।
तिष्ठतेलयता सु कम् ॥४॥

(वः) तुम्हारे (परि) सब ओर (सिकतावती) सिकतावाली (बृहती) बड़ी (धनूः) धनुष् की आकृतिवाली अर्थात् वक्रा नाड़ी ने (अक्रमीत्) पाद-

१. व्यानः सर्वशरीरगः।
२. सुषुम्ना=सु+सुम्नं सुखनाम (निघं० ३।६)। मध्यस्था=यह सुषुम्ना पीठ के मध्यभाग में स्थित है। पञ्चपर्वा=सुषुम्ना के ५ पर्व, अर्थात् केन्द्र होते हैं। एक केन्द्र पेट को नर्व अर्थात् "ज्ञान और-क्रिया तन्तु" प्रदान करता है। दूसरा केन्द्र हृदय को, तीसरा फेफड़ों को, चौथा कण्ठ को, पांचवां मस्तिष्क को ज्ञान और क्रिया तन्तु प्रदान करता है।

विक्षेप किया है। (तिष्ठत) तुम स्व-स्थानों में स्थित रहो, और (सु) अच्छे प्रकार से (कम्) सुखदायी होकर (इलयत) गति करती रहो और कम्पित होती रहो।

[सिकतावती=सिकता रजांसि, रजस्वला स्त्री के रजोधर्म की आधारभूता नाड़ी, यद्वा अश्मरी नामक व्याधि विशेषवाली नाड़ी (सायण)। मन्त्र का अभिप्राय अस्पष्ट है। इलयत=ईर गतौ कम्पने च (अदादिः)। अथवा इल प्रेरणे (चुरादिः)। अश्मरी व्याधि=वस्ति अर्थात् मूत्राशय [Bladder] में की पथरी: धनूः=मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरित्यभिधीयते (सायण)।]

सूक्त १८

(१-४)। द्रविणोदाः, विनायकः। अनुष्टुभ्; १ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २ निचृद् जगती; ३ विराडास्तार-पंक्ति त्रिष्टुभ्।

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं[1] निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

(ललाम्यम्) ललाट अर्थात् मस्तक में हुए (लक्ष्म्यम्) दुष्ट दुर्लक्षण को (निः) निकाल देते हैं, और (अरातिम्) शत्रुरूप अन्य दुर्लक्षण को भी (निः सुवामसि) हम निकाल देते हैं। (अथ) तदनन्तर (या भद्रा=यानि भद्राणि) जो कल्याणकारी तथा सुखप्रद लक्षण हैं (तानि) उन्हें (नः प्रजायै) अपनी प्रजा [सन्तान] के लिये (नयामसि) हम प्राप्त कराते हैं, और (अरातिम्) शत्रुरूप दुर्लक्षण को (नयामसि) हम शत्रु को प्राप्त कराते हैं। लक्ष्म्यम्=लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (चुरादिः)।

[मस्तक स्थान विचार का है, अतः दुर्लक्षण का अभिप्राय है दुर्विचार। नयामसि णीञ् प्रापणे (भ्वादिः)।]

निररणिं सविता साविषक् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥२॥

(सविता) वधू का प्रसवकर्त्ता पिता (पदोः) तेरे पैरों से (अरणिम्) अरमणीया चेष्टा को (निः साविषक्=निःसाविषत्) निकल जाने को प्रेरित करे, (हस्तयोः) हाथों से (निः) निकल जाने को प्रेरित करे (वरुणः)[1] वरण

१. वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः (उणा० ३।५३, दयानन्द)। वर-कन्या का वरण करता है, और कन्या द्वारा वर का वरण किया जाता है [यह अर्थ है अधिभौतिक दृष्टि में, न कि आध्यात्मिक दृष्टि में]।

करनेवाला (मित्रः) स्नेही (अर्यमा) न्यायी [तेरा पति]। (अनुमतिः) आचार्यदेव के अनुकूल मतिवाली पत्नी (निः) अरमणीया चेष्टा को निकाल कर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (रराणा) तुझे प्रदान करनेवाली हो। (देवाः) दिव्यगुणी अन्य सम्बन्धियों ने (इमाम्) इस वधू को (सौभगाय) हमारे सौभाग्य के लिये (प्र असाविषुः) प्रेरित किया है। हमारे="वर के सम्बन्धियों के सौभाग्य के लिये"।

[मन्त्र में विवाहित वधू का वर्णन प्रतीत होता है। अनुमति है देवपत्नी। यथा "अनुमतिः राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः" (निरुक्त ११।३।३०)। वधू जब तक अल्पावस्था की है तब तक उसका पिता उसकी चेष्टाओं को नियन्त्रित करे। पढ़ने अर्थात् विद्याध्ययन के लिये जब वह गुरुकुल में प्रविष्ट हुई है तब उसकी आचार्या उसकी चेष्टाओं का नियन्त्रण करे। विवाह हो जाने पर उसका वरण करनेवाला पति नियन्त्रण करे। निः साविषत्=षू प्रेरणे अस्मात् पञ्चमलकारे "लेटोऽडाटौ" (अष्टा० ३।४।९४) इति अडागमः। "सिब्बहुलम्" (अष्टा० ३।१।३४) इति सिप्। स च णिद् वक्तव्यः (अष्टा० ३।१।३४) इति वचनाद् अचो ञ्णिति (अष्टा० ७।२।११५) इति वृद्धिः। आर्धधातुकस्येड् वलादेः (अष्टा० ७।२।३५) इति सिपः इडागमः (सायण)।]

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥३॥

[हे वधू!] (ते आत्मनि तन्वाम्) तेरी आत्मा में तथा तनू में या तेरी अपनी तनू में (यत्) जो (घोरम् अस्ति) जो घोर कर्म है, (यद् वा) या जो (केशेषु) केशोपलक्षित सिर में, (वा प्रतिचक्षणे) या प्रत्येक चक्षु में है, (तत् सर्वम्) उस सबको (वयम्) हम [अध्यात्मशक्तिसम्पन्न योगी] (वाचा अपहन्मः) मिलकर वाणी द्वारा नष्ट करते हैं, (सविता देवः) सर्वोत्पादक परमेश्वर देव (त्वा) तुझे (सूदयतु) घोर कर्मों से रहित करे।

[सूदयतु=षूद क्षरणे (भ्वादिः), जैसे जल द्वारा मल क्षरित किया जाता है वैसे परमेश्वर, निजकृपा द्वारा तेरे घोरकर्मों को क्षरित कर दे।]

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

(रिश्यपदीम्) हिरण के पैरोंवाली को, (वृषदतीम्) बैल के सदृश लम्बे दान्तोंवाली को, (गोषेधाम्) गौ के सदृश शनैः-शनैः चलनेवाली को, (उत विधमाम्) तथा कल्कारादि विविध शब्द करनेवाली को (सायण)

(विलीढ्यम्[1]=विलीढीम्) विकृत स्वादोंवाली को, (ललाम्यम्=ललामीम्) सौन्दर्य प्रिया को, (ताः) उन सबको (अस्मत्) हम अपने से (नाशयामसि) अदृष्ट करते हैं, इनसे विवाह नहीं करते।

[रिश्यपदीम्=हिरण के सदृश छोटे पैरोंवाली को। गोषेधाम्= गौ+षिधु गत्याम् (भ्वादिः)। ललामीम्=जो अपने सौन्दर्य के लिए लगी रहे, अपने को सदा संवारणे में दत्तचित्ता रहे। नाशयामसि=णश अदर्शने (दिवादिः)।]

सूक्त १९

(१-४)। ब्रह्मा। ऐश्वर्यम्। अनुष्टुप्; २ पुरस्ताद् बृहती; ३ पथ्यापंक्तिः।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥१॥

(विव्याधिनः) विविध प्रकार से वेंधनेवाले [शत्रु] (नः) हमें (मा)[2] न (विदन्) जाने तक नहीं, (मो) न (विदन्) जानें (अभिव्याधिनः) सम्मुख हुए वेंधनेवाले। (इन्द्र) हे इन्द्र! (अस्मत्) हमसे (आरात्) दूर (विषूचीः) नानाविध अञ्चन अर्थात् गमन करनेवाली (शरव्या) शरसंहतीः अर्थात् शरसमूह को (पातय) प्रक्षिप्त कर, फेंक।

[समग्र सूक्त आध्यात्मिक भावनावाला है। तभी इसका ऋषि ब्रह्मा कहा है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविज्ञ[3] व्यक्ति। सांसारिक विषय "विव्याधिनः" हैं। हमारे आन्तरिक विषय, अर्थात् मनोगत विषय "अभिव्याधिनः" हैं। दोनों प्रकार के विषय हमें वेधते हैं। इन्द्र द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है, जो कि पापियों के लिये रौद्ररूपवाला है।]

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥२॥

(अस्मत्) हमसे (विष्वञ्चः) सर्वत्रगामी, (शरवः) हिंसक इषु (ये) जोकि (अस्ताः) फेंके जा चुके हैं, (ये च) और जो (आस्याः) भविष्य में फेंके जानेवाले हैं, (दैवीः) वे दिव्य भावनाएँ रूप इषु (मनुष्येषवः) तथा

१. अथवा विविध प्रकार के आस्वाद चाहनेवाली चटोरी को। वि+लिह (आस्वादने) (अदादिः)।
२. माङर्थकः "मा" शब्दः माङ्प्रतिरूपकः।
३. ब्रह्मा परिवृढः श्रुतेन सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (निरुक्त १।३।८)।

मननशील मनुष्य के मननरूप मानसिक विचाररूप इषु, (मम अमित्रान्) मेरे साथ स्नेह न करनेवालों को (विविध्यत) विशेषतया वींधो।

[इषु दो प्रकार के हैं—दैवी तथा मननशील मनुष्य के मानसिक मनन-रूप। ये दोनों अमित्ररूप—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को वींधते हैं।]

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्य१यैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥३॥

(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) अपना अर्थात् मानसिक [शत्रु] है, (यः) जो (अरणः) पर प्राप्त [शत्रु] है, (सजातः) जो समानकुलोत्पन्न है, (उत) तथा (निष्टचः) विजातीय कुल से प्राप्त हुआ है, (यः) इनमें से जो भी (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपक्षीण करता है, (रुद्रः) कर्मानुसार रुलानेवाला परमेश्वर (शरव्यया) निज शरसंहति द्वारा (मम) मेरे (अमित्रान्) अस्नेही काम, क्रोध आदि को (वि विध्यतु) विविध प्रकार से वींधे।

[अरणः=अ+रण (शब्दे, भ्वादिः) अर्थात् जिनके साथ हमारा बोलना नहीं है, जिनकी बोली को हम समझते नहीं, अर्थात् परदेशी व्यक्ति। रुद्ररूप परमेश्वर की शरसंहति नानाविध है, नाना रोगरूप तथा नाना कष्ट-रूप। निष्टचः=निस्+त्यप् "अव्ययात् त्यप्" (अष्टा० ४।२।१०४)। अभिदासति=दसु उपक्षये (दिवादिः)।]

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥४॥

(यः) जो शत्रु (सपत्नः) सपत्नीवत् दुःखदायक है, (यः) जो (असपत्नः) सपत्नी से भिन्न साधन से प्राप्त हुआ है, (यः च) और जो शत्रु (द्विषन्) हमारे साथ अप्रीति करता हुआ, (नः) हमारे लिये (शपाति) शाप-रूप है, (तम्) उस प्रत्येक शत्रु को (सर्वे देवाः) सब दिव्य विचार (धूर्वन्तु) नष्ट करें, (ब्रह्म) परमेश्वर (मे) मेरा (अन्तरम्) आभ्यन्तरिक (वर्म) कवच है। कवचवत् रक्षक है परमेश्वर=उसकी उपासना तथा सदा ध्यान। अतः सूक्त आध्यात्मिक है।[1]

१. राष्ट्रिय दृष्टि में सपत्नः है निजराष्ट्रोत्पन्न शत्रु, असपत्न है परराष्ट्रोत्पन्न शत्रु। ब्रह्म है ब्रह्मास्त्र अर्थात् महास्त्र। अन्तरम्=अन्तर ङीप् गुप्त, अभी तक अप्रकाशित।

सूक्त २०

(१-४)। ब्रह्मा। ऐश्वर्यम्। अनुष्टुप्; २ पुरस्ताद् बृहती; ३ पथ्यापंक्तिः।

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥१॥

(देव सोम) हे विजिगीषु सेनानायक! (अस्मिन् यज्ञे) इस युद्धयज्ञ में (अदारसृत्) न विदारण कर सकनेवाले के सदृश हमारी ओर सरण करनेवाला (भवतु) शत्रु[1] हो, (मरुतः) हे मारने में कुशल सैनिको! (नः) हमें (मृडत) सुखी करो। (नः) हमें (अभिभाः) पराभव (मा विदत्) न प्राप्त हो, (मो अशस्ति) न अप्रशंसा अर्थात् पराभव से प्राप्त निन्दा प्राप्त हो। (मा नो विदत्) न हमें प्राप्त हों (वृजिना=वृजिनानि) पाप[2] (द्वेष्या या=द्वेष्याणि यानि) जो कि हमें अप्रिय हैं।

[सोम=सेना का प्रेरक अर्थात् नायक सेनापति (यजु० १७।४६)। सोमः=षू प्रेरणे (तुदादिः)। देव=दिवु क्रीड़ा "विजिगीषा" (दिवादिः)। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक (यजु० १७।४७)। ये हैं तामसास्त्र फेंकने वाले सैनिक। तामसास्त्र शत्रु सैनिकों पर फेंका जाता है, जिससे वहाँ अन्धकार फैल जाता है और वे एक-दूसरे को न पहिचानते हुए, परस्पर का हनन करते हुए, मृत्यु को प्राप्त करते हैं (यजु० १७।४७)। तथा (यजु० १७।४०, ४४, ४५, ४७)। तथा (अथर्व० ६।३२।३)।]

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥२॥

(अद्य) इस दिन [युद्ध में] (अघायूनाम्) पापकर्म, अर्थात् परहत्या-रूपी कर्म चाहनेवालों का (यः) जो (सेन्यः वधः) सेनासम्बन्धी वध कर्म (उदीरते) हमारे प्रति उद्गत होता है, उठता है, (तम्) उसे, (मित्रावरुणौ) हे मित्र और वरुण! (युवम्) तुम दोनों (अस्मत् परि) हमसे (यावयतम्) पृथक् कर दो।

[मित्रावरुणौ=मित्र है हमारे साथ सन्धिप्राप्त परराष्ट्र का राजा, और वरुण है हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाला परराष्ट्र का राजा। यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। यावयतम्=यु मिश्रणे

१. जो हो तो निर्बल परन्तु अपने को प्रबल जानकर हम पर आक्रमण करता है।
२. शत्रु द्वारा किये जानेवाले हम पर पापकर्म, हत्यारूप कर्म।

अमिश्रणे च (अदादिः)। अमिश्रण अभिप्रेत है, अमिश्रण अर्थात् हमारे साथ मिश्रित न होना, हमसे पृथक् रहना।]

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥३॥

(वरुण) हे हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले परराष्ट्र के राजन्! (यत् इतः च) जो इधर से (अमुतः च) और उधर से (वधम्) प्राप्त होने वाले वधकर्म को (यावय) हमसे पृथक् कर। (महत् शर्म) महासुख (वि यच्छ) विशेषरूप में हमें प्रदान कर। (वरीयः वधम्) शत्रु द्वारा प्राप्य उरुतर वध कर्म को (यावय) हमसे पृथक् कर।

[सन्धिप्राप्त मित्र राजा तो सन्धि के कारण महावध कर्म को पृथक् करने में तत्पर रहेगा ही, परन्तु वरुण के सम्बन्ध में निश्चित नहीं कि समय पर वह सहयोग देता है या नहीं, इसलिये उससे विशेष याचना की गई है। इतश्च अमुतश्च द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है कि न जाने शत्रु हमारे राष्ट्र के किस ओर से आक्रमण करे, समीप की सीमा हो या दूर की सीमा हो।]

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥४॥

(इत्था) सत्य है (महान् शासः) तू महाशासक (असि) है, (अमित्र-साहः) अस्नेहियों का अर्थात् शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, (अस्तृतः) और उन द्वारा तू हिंसित नहीं होता। (यस्य सखा) जिसका सखा (न हन्यते) नहीं होता, (न) और न (जीयते) वयोहानि को (कदाचन) कभी भी प्राप्त होता है।

[इत्था सत्यनाम (निघं० ३।१०)। साहः=षह[1] मर्षणे (चुरादिः)। अस्तृतः[2]=अ+स्तृञ् आच्छादने (क्र्यादिः)। आच्छादित होना, पराभूत होना। जीयते=ज्या वयोहानौ (क्र्यादिः)। वैदिक राजनीति इन्द्र अर्थात् सम्राट् और वरुण अर्थात् एक-एक राष्ट्र के पति का परस्पर सम्बन्ध है। अतः मन्त्र (३) में वर्णित वरुण द्वारा मन्त्र (४) में इन्द्र अर्थात् सम्राट् आक्षिप्त हुआ है, अतः मन्त्र (४) में सम्राट् को ही "सत्य" अर्थात् वास्तविक शासक कहा है।]

---

१. षह अभिभवे (सायण)।
२. अस्तृतः में ह्रस्व ऋकारान्त के प्रयोग से "स्तृ" धातु भी वेदानुमोदित है। सायण में "स्तृ" ह्रस्व ऋकारान्त ही पाठ है "स्तृञ् हिंसायाम्"।

सूक्त २१

(१—४)। अथर्वा। इन्द्रः। अनुष्टुप्।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥१॥

(स्वस्तिदाः) कल्याणदाता, (विशांपतिः) प्रजाओं का पति (वृत्रहा) घेरा डालनेवाले शत्रु का हनन करनेवाला, (विमृधः) शत्रुओं की विविध प्रकार से हिंसा करनेवाला, (वशी) शत्रुओं को निजवश में करनेवाला, (वृषा) सुखों की वर्षा करनेवाला, (सोमपाः) सेनाप्रेरक सेनानायक का रक्षक, (अभयंकरः) निर्भय करनेवाला, (इन्द्रः) सम्राट् (नः पुरः एतु) हमारा अगुआ हो।

[विमृधः=मृध हिंसायाम् (भ्वादिः)। सोम=सेनानायक (यजु:० १७।४०)। वृत्रहा=वृञ् आवरणे (चुरादिः)। इन्द्रः=इन्द्रश्च सम्राट् (यजु:० ८।३७)।]

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥२॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (नः मृधः) हमारे [साथ] संग्राम करनेवालों का (विजहि) विनाश कर, (पृतन्यतः) निज पृतना अर्थात् निज सेनाएँ चाहने-वालों को (नीचा यच्छ) हमारे नीचे नियन्त्रित कर। (यः अस्मान् अभि-दासति) जो हमें नष्ट करता है उसे (अधमम्) निकृष्ट (तमः) अन्धकार (गमय) प्राप्त करा।

[अधमम् तमः=भूमि के नीचे अन्धकारमयी जेलों में प्राप्त करा।]

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥३॥

(रक्षः) राक्षस स्वभाववाले शत्रु राजा का (विजहि) हनन कर, (मृधः) उसके संग्राम करनेवाले सैनिकों का (वि जहि) हनन कर, (वृत्रस्य) हमें घेरनेवाले सेनापति की (हनू) दोनों हनुओं का (रुज) भंग कर। (वृत्रहन्) हम पर घेरा डालनेवाले का हनन करनेवाले, (अभिदासतः) हमारा उपक्षय करनेवाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युम्) क्रोध को (इन्द्र) हे सम्राट्! (वि) विगत कर। अथवा विरुजः; रुजो भंगे (तुदादिः)।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥४॥

(इन्द्र) हे सम्राट् ! (द्विषतः) द्वेष करनेवाले के (मनः) मन अर्थात् विचार को (अप) अपगत कर, (जिज्यासतः) हमारी वयोहानि चाहनेवाले के (वधम्) वधकारी आयुध को या मन के विचार का (अप) अपगत कर दे। (महत् शर्म वि यच्छ) और महासुख विशेषरूप में हमें प्रदान कर। (वरीयः) उरुतर (वधम्) वध को (यावय) हमसे पृथक् कर।

[मन्त्र में वधम् के दो अर्थ प्रतीत होते हैं, वध अर्थात् हनन तथा वध का साधन आयुध। शर्म सुखनाम (निघं० ३।६), तथा गृहनाम (निघं० ३।४), गृह का अभिप्राय है आश्रय।]

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ५

सूक्त २२

(१-४)। **ब्रह्मा। सूर्यः तथा हरिमा। अनुष्टुभ्।**

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥१॥

(अनु सूर्यम्) सूर्य के उदय तथा अस्त होने के अनुसार (ते) तेरा (हृद्-द्योतः) हृदय का सन्ताप, (च) और (हरिमा) पीलापन अर्थात् कामला रोग [ये दोनों] (उदयताम्) उड़ जाएँ। (तेन) उस (रोहितस्य गोः वर्णेन) लाल सूर्य के वर्ण द्वारा (त्वा) तुझे (परिदध्मसि) हम ढाँपते हैं।

[गोः=आदित्योऽपि गौरुच्यते "उताद: परुषे गवि" (ऋ० (६।५६।३); तथा (निरुक्त २।२।६)। प्रातः तथा सायम् सूर्य की रश्मियाँ लाल होती हैं, यथा (अथर्ववेदभाष्य २।३२।१)। हृद्-द्योतः, हरिमा=ये दोनों रोग हृदय के खून की विकृति के कारण होते हैं।]

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥२॥

(त्वा) तुझे (दीर्घायुत्वाय)[1] दीर्घ आयु के लिये, (रोहितैः) लाल रश्मियों के (वर्णैः) वर्णों द्वारा (परिदध्मसि) हम ढाँपते हैं। (यथा) जिस प्रकार कि (अयम्) यह (अरपाः) पापजन्यरोग से रहित (असत्) हो, (अथो) तथा (अहरितः) पीलेपन[2] से रहित (भुवत्) हो।

[असत्, भुवत्=दोनों पद लेट् लकार के हैं, अतः दोनों में अडागम हुआ है।]

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः।
रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥३॥

(याः) जो (देवत्याः रोहिणीः) दैवी लाल रश्मियाँ हैं, (उत) तथा

---

१. आयु पद "उकारान्त" तथा आयुस् "सकारान्त" दोनों ठीक हैं।

२. इस पीलेपन को jaundica कहते हैं। इस रोग में आँखों तथा त्वचा पर पीलापन हो जाता है। पीलापन पित्त की विकृति के कारण होता है। आयुर्वेद में इसे कामला कहते हैं।

(याः) जो (रोहिणीः) मानुषी लाल रश्मियाँ हैं, (रूपम्, रूपम्) तेरे प्रत्येक रूप को, (वयः वयः) तथा प्रत्येक वयस् अर्थात् बाल, युवा, तथा वृद्धावस्था को, (ताभिः) उन रश्मियों द्वारा (परि दध्मसि) हम ढाँपते हैं। इन अवस्थाओं में प्रकट विकृतियों के निराकरण के लिये।

[देवत्याः=सूर्यसम्बन्धी लाल रश्मियाँ, तथा रोहिणीः अर्थात् मनुष्योत्पादित कृत्रिम लाल रश्मियाँ। रूपम् रूपम्=प्रत्येक वयः अर्थात् शरीरावस्था में प्रकट नया-नया रूप, अर्थात् बाल, युवा, तथा वृद्धावस्था के वयस् में प्रकट विकृत नया-नया रूप रोग। ताभिः यद्यपि स्त्रीलिंगी प्रयोग है, यह गो पद की दृष्टि से है। गो पद गौओं और बैलों इन दोनों में प्रयुक्त होता है। गो पद प्रायः स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है (आप्टेकोष)।]

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥४॥

(ते) तेरे (हरिमाणम्) हरेपन को (शुकेषु) सिरीष वृक्षों में, (रोपणाकासु) तथा रोपण करनेवाली लताओं में (दध्मसि) हम स्थापित करते हैं। (अथो) तथा (हारिद्रवेषु) हरिद्रु अर्थात् हरिद्रा अर्थात् हरड़ के आयुर्वेदिक योगों में (ते हरिमाणम्) तेरे हरेपन को (नि दध्मसि) हम निहित करते हैं।

[हरित् पद पीतवर्ण के लिए भी प्रयुक्त होता है (आप्टे कोष)। अतः हरिमा पद सम्भवतः पीतार्थक हो। तथा पीत ही कालान्तर में हरे वर्ण में परिणत हो जाता है। गाढ़ा पीतवर्ण ही सूर्यरश्मियों के सन्निधान में हरा हो जाता है। रोपणाकासु=रोपणं कुर्वन्तीति रोपणाकाः लताः, तासु। रोपण=चिकित्सा करना। सिरीषवृक्ष सम्भवतः हरेपन की औषध हो। सिरीष का अभिप्राय है इसकी जड़, फूल, पत्ते तथा स्वरस आदि।]

सूक्त २३

(१-४)। अथर्वा। श्वेतलक्ष्मविनाशिका असिक्नी ओषधिः; वनस्पतिः। अनुष्टुप्।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥१॥

(ओषधे) हे ओषधि! (नक्तम् जाता असि) रात्री में पैदा तूं हुई है, (रामे, कृष्णे, असिक्नि च) हे कुछ काली, काली, तथा असिता। (रजनि) हे रञ्जन करनेवाली! (इदम्) इसे (यत्) जोकि (किलासम्) श्वेतकुष्ठ है (च पलितम्) और केशों का श्वेतपन है, उसे (रजय) रञ्जित कर।

[कौशिक सूत्रों में केवल असिक्नी का वर्णन हुआ है। सायण के अनुसार "ओषधि" हरिद्रा अर्थात् हरड़ है; रामा है भृङ्गराज ओषधि; कृष्णा है इन्द्रवारुणी; असिक्नी है नील। रजनि और रजय=रञ्ज रागे (भ्वादिः), तथा (दिवादिः)।]

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

(पृषत्) सिंचित हुए (किलासम् च) श्वेत कुष्ठ रोग को, (पलितम् च) और सुफेद केशों को, (इतः) इस रुग्ण से (निर् नाशय) निरवशेष नष्ट कर। (त्वा स्वः वर्णः) हे रुग्ण! तुझे अपना स्वाभाविक वर्ण (आ विशताम्) प्रविष्ट हो, (शुक्लानि परापातय) हे ओषधि तूं शुक्लवर्णों को पराङ्मुख करके उनका पतन कर।

[पृषत्[1]=पृषु सेचने (भ्वादिः)। श्वेत कुष्ठ पककर जब उससे पीप का स्राव होता हो।]

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव।
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥३॥

(ते) तेरी [जड़] के (प्रलयनम्) लीन होने अर्थात् छिपने का स्थान (असितम्) सित नहीं है, (तव) तेरा (आस्थानम्) स्थित होने का स्थान (असितम्) सित नहीं है। (ओषधे) हे ओषधि! (असिक्नी असि) तूं भी असिक्नी है, सिता नहीं है। (इतः) इस रुग्ण से (पृषत्) सिंचित हुए श्वेत कुष्ठ को (निर् नाशय) निरवशेष रूप में तूं विनष्ट कर।

[ओषधि की जड़ काले स्थान पृथिवी के स्तर से नीचे है, वह सित नहीं है। तथा ओषधि की शाखाप्रशाखा के फैलने का स्थान भी पृथिवी का उपरिस्थल है, जोकि सित नहीं है। तथा ओषधि स्वयम् भी सिता नहीं है। असिक्नी=अशुक्ला (निरुक्त ९।८।२)। अशुक्ला=असिता, सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् (निरुक्त ९।८।२)। निरुक्त में असिक्नी पद यद्यपि नदीवाचक है, और अथर्ववेद में रोगवाचक है, तथापि दोनों स्थानों में यौगिकार्थ समान ही है।]

---

१. पृषत्—बिन्दु या बिन्दुसमूह। प्रकरणानुसार श्वेतकुष्ठ के। पृषत् (उणादि २।८५; ३।१११)। पृषु सेचने (भ्वादिः), पर्षति सिंचति तत् पृषत् (२।२५, उणादिः दयानन्द)।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥४॥

(अस्थिजस्य) अस्थि में उत्पन्न हुए, (तनूजस्य) तनू में उत्पन्न हुए, (च) और (त्वचि) त्वचा में हुए, (दूष्या) दूषित कृति द्वारा (कृतस्य) किये गये, (श्वेतम्) श्वेत-कुष्ठ रूपी (लक्ष्म) चिह्न को, (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है ।

[दूषित कृति=दूषित अर्थात् बुरा कर्म । अनीनशम्=नश अदर्शने, लुङ् लकार, च्लि को चङ् ।]

विशेष वक्तव्य

कौशिक सूत्रानुसार सूक्त का देवता असिक्नी है । अतः सूक्त का देवता एक ही है । अतः मन्त्र (१) में रामे और कृष्णे पद असिक्नी के ही विशेषण हैं । सायण ने इन्हें पृथक्-पृथक् ओषधियाँ माना है । "रजनी" पृथक् ओषधि प्रतीत होती है, जिसे कि कौशिक-विनियोग में वनस्पति पद द्वारा दर्शाया है । मन्त्र (३) में भी असिक्नी को ही ओषधि कहा है, रामे कृष्णे को स्वतन्त्र रूप में पृथक्-पृथक् वर्णित नहीं किया ।

सूक्त २४

(१-४) । ब्रह्मा । आसुरी वनस्पतिः । अनुष्टुभ्;
२ निचृत्पथ्यापंक्तिः ।

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तम् आसिथ ।
तद् आसुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

(सुपर्णः) उत्तम पर्णों अर्थात् पंखोंवाला [गरुड़] (प्रथमः) आदिभूत हुआ, अथवा (प्रथमः प्रतमः) प्रकृष्टतम अति प्रकृष्ट, (जातः) उत्पन्न हुआ, (तस्य) उसकी (त्वम्) तू [हे ओषधि !] (पित्तम्) पित्तरूप (आसिथ) हुई थी । (तत्) वह पित्त (आसुरी) प्राणवान् मनुष्य की शक्तिरूपा हुआ, (युधा) उसने युद्ध द्वारा (जिता)[1] किलास रोग पर विजय पाई और (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (रूपम्)[2] निज पित्त रूप (चक्रे) कर लिया ।

---

१. जितवती, जि जये अस्मात् कर्तरि क्तः (सायण) ।

२. अर्थात् वनस्पतियाँ भी पित्त का काम करती हैं । पित्त द्वारा भुक्तान्न का परिपाक होता है । पित्त के क्षीण हो जाने पर वनस्पतियाँ भी पित्त की क्षीणता को निवारित कर देती हैं । मन्त्र में युधा द्वारा पित्त की प्रबल शक्ति दर्शाई है । जैसे कोई प्रबल

[अभिप्राय यह कि गरुड़ पक्षी के शरीर से प्रथम या प्रकृष्टतम पित्त पैदा हुआ था । वह पित्त आसुरी शक्तिरूप हुआ । आसुरी=असुरत्वम् प्राणवत्त्वम् (अनत्रत्वम्), अन प्राणने (अदादिः) । (निरुक्त १०।३।३४) । वह आसुरी शक्ति है वनस्पतियाँ, रोगनिवारक ओषधियाँ ।]

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजम् इदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपाम् अकरत् त्वचम् ॥२॥

(आसुरी) मन्त्र (१) में कथित प्राणवान् मनुष्य का शक्तिरूप पित्त (प्रथमा) मुख्य शक्तिरूप हुआ, इसने (इदम्) इस (किलासभेषजम्) किलासौषध को (चक्रे) उत्पन्न किया [अर्थात् वह किलास का मुख्य भेषज हुआ], (इदम्) यह पित्त (किलासनाशनम्) किलास का नाशक हुआ । (अनीनशत् किलासम्) इसने किलास को नष्ट किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) समानरूपवाली (अकरत्) कर दिया । अर्थात् किलास[1] को नष्ट कर समग्र त्वचा को समानरूपवाली कर दिया । एकरूपवाली कर दिया [अर्थात् किलास के चिह्नों को भी मिटा दिया] ।

[मन्त्र में आसुरी और पित्तम् को पर्यायवाची रूप में वर्णित किया है । अतः दोनों में लिङ्गभेद की उपेक्षा हुई है ।]

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥३॥

(ते माता) तेरी माता (सरूपा) समान अर्थात् एकरूपवाली (नाम) प्रसिद्ध है, (ते पिता) तेरा पिता (सरूपः) समान अर्थात् एकरूपवाला (नाम) प्रसिद्ध है । (ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (सरूपकृत्) समान अर्थात् एकरूपवाला कर देती है । (सा) वह तू (इदम्) इस शरीर को (सरूपम्) समान अर्थात् एकरूपवाला (कृधि) कर ।

[ओषधि है असिक्नी (अथर्व १।२३।१) । इसकी माता है पृथिवी । वह सरूपा है, एकरूपवाली है । इसका पिता है द्यौः । वह भी एकरूपवाला है, शुक्लरूपवाला ।]

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥४॥

व्यक्ति युद्ध द्वारा निर्बल पर विजय पा लेता है वैसे पित्त ने, वनस्पतियों की अपेक्षा क्लास पर विजय पाई, उसे निराकृत किया ।

१. किलास है श्वित्र अर्थात् श्वेत कुष्ठ (सायण) ।

(श्यामा) श्यामवर्णवाली, (सरूपंकरणी) समान अर्थात् एकरूप कर देनेवाली [ओषधि], (पृथिव्या अधि) पृथिवी से (उद्भृता) उद्धृत हुई है। (इदम्) इस शरीर को (सु) उत्तम प्रकार से (प्र साधय) तू ठीक कर दे, (पुनः) अर्थात् फिर से (रूपाणि) इसके भिन्न-भिन्न रूपों को (कल्पय) एकरूप कर दे।

[श्यामा ओषधि है असिक्नी (अथर्व० १।२३।१)।]

सूक्त २५

(१-४)। भृग्वङ्गिराः। यक्ष्मनाशाग्निः। त्रिष्टुभ्; २, ४ विराड्गर्भा; ४ पुरोऽनुष्टुम्।

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

(अग्निः) ज्वराग्नि (यत्) जो (आपः=अपः) शारीरिक रक्त तथा रसों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (अदहत्) शारीरिक रक्त तथा रसों को दग्ध कर देती है, उन्हें सुखा देती है। (यत्र) तथा जिस जठराग्नि में (धर्मधृतः) धारण-पोषण करनेवाले अन्न का, धारण-पोषण करनेवाले अन्न-भक्षक, (नमांसि) अन्नों को (अकृण्वन्) धारित करते हैं, (तत्र) उस जठराग्नि[1] में [हे ज्वराग्नि!] (ते) तेरा (परमं जनित्रम्) परम जन्म होता है, (आहुः) यह चिकित्सक कहते हैं, (संविद्वान्) सम्यक् अर्थात् उग्ररूप में वहाँ तू विद्यमान रहती है, [हे ज्वराग्नि] (सः) वह तू (नः) हमें, (तक्मन्) हे जीवन को कृच्छ्र करनेवाली ज्वराग्नि! (परि वृङ्ग्धि) पूर्णतया परित्यक्त कर दे। वृजी वर्जने (रुधादिः)।

[आपः=शारीरिक रक्त-रस (अथर्व० १०।२।११)। यह ज्वराग्नि मलेरिया ज्वररूपी अग्नि है। यह उग्ररूप होकर शारीरिक रक्त-रसों को सूखा कर रोगी को निर्बल कर देती है। नमांसि=नम अन्ननाम (निघं० २।७), तथा नमांसि अन्ननामैतत् (सायण)।]

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥२॥

१. जठरं व्याधि मन्दिरम्।

[हे ज्वराग्नि!] (यदि अर्चिः) यदि तू ज्वालारूप है, (यदि वा असि) अथवा यदि तू (शोचिः) शोकजनिका अथवा शरीरसम्बन्धी सन्तापरूप है। (शकल्येषि)[1] यदि शकलों अर्थात् काष्ठसमूह को चाहनेवाली अग्नि के सदृश तू है, (यदि वा) अथवा (ते जनित्रम्) इनमें से कोई तेरा जन्मदाता है, (ह्रूडुः नाम असि) तू ह्रूडु नामवाली है। (देव) हे दीप्यमान ज्वराग्नि! तू (हरितस्य) पीतवर्ण का (ह्रूडुः) "ह" अर्थात् निश्चय से "रूडु" रोहण[2] करनेवाली है। (संविद्वान्) सम्यक् अर्थात् उग्ररूप में विद्यमान तू है। (तक्मन्) हे जीवन को कृच्छ्र अर्थात् कष्टमय करनेवाली ज्वराग्नि! (नः परिवृङ्ग्धि) हमें तू परित्याग दे। तक्मन्=तकि कृच्छ्र जीवने (भ्वादिः)।

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥३॥

[हे शीत ज्वर!] (यदि शोकः) यदि तू शरीरान्तर्वर्ती सन्ताप है, (यदि वा अभिशोकः) अथवा शरीरान्तर्वर्ती समग्र अङ्गों का सन्ताप है, (यदि वा) अथवा यदि तू (वरुणस्य राज्ञः) जलाधिपति वरुण राजा का (पुत्रः असि) पुत्र है। शेष पूर्ववत् (मन्त्र २)।

[शीत ज्वर में त्वचा तो शीत होती है, परन्तु शरीर के अभ्यन्तर भाग सन्तप्त होते हैं। वरुण है "अपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। आपः शीत होते हैं, इसलिये शीत ज्वर को वरुण-राजा का पुत्र कहा है। तथा आपः में मच्छर पैदा होते हैं, जोकि मलेरिया ज्वर के उत्पादक हैं। शरीर में भी जब जल का अनुपात बढ़ जाता है तो मलेरिया का आक्रमण होता है। शरीर में जल को साम्यावस्था में लाने के लिये होम्योपेथी में Natrum mur तथा Natrum sulpha दो दवाइयाँ प्रायः दी जाती हैं। ये दो दवाइयाँ बायोकेमिक हैं।]

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥४॥

(शीताय तक्मने) शीत ज्वर के लिये (नमः) वज्रपात हो, अथवा अन्नाहुतियाँ हों [उसके अपाकरण के लिये]। (रूराय) रेषक अर्थात् हिंसक

१. शकलानां समूहः शकल्यः, शकल्यं दाह्यं काष्ठसमूहम् इच्छतीति शकल्येद् अग्निः; इषु इच्छायाम् (सायण)।
२. रोहण=प्रादुर्भाव, प्रकट होना; रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (भ्वादिः)।

(शोचिषे) सन्तापक तक्मा के लिये (नमः) वज्रपात या अन्नाहुतियाँ (कृणोमि) मैं करता हूँ। (यः) जो शीत ज्वर (अन्येद्युः) एक दिन (उभयद्युः) दो दिन (अभ्येति) आता है, (तृतीयकाय) तथा तीसरे दिन आता है, उस (तक्मने) ज्वर के लिये (नमः अस्तु) वज्रपात या अन्नाहुतियाँ हों।

[नमः वज्रनाम; अन्ननाम (निघं० २।२०; २।७)। वज्रपात का अभिप्राय है नाश करना; तथा अन्नाहुतियों का अभिप्राय है यज्ञियाग्नि में ज्वर के अपाकरण के लिये यथोचित हविष्यान्न की आहुतियाँ देना। रूराय=रुङ् गतिरेषणयोः (भ्वादिः) रेषण=हिंसन, विनाश।]

सूक्त २६

(१-४)। ब्रह्मा। इन्द्रादि देवताः। गायत्री; २ विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ४ पादनिचृत्; (२, ४ एकावसाना)

आरे॑ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत्।

आ॒रे अश्मा॒ यम॒स्यथ ॥१॥

(देवासः) हे देवो! (असौ हेतिः) वह प्रेरित आयुध (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर रहे। (आरे) दूर (असत्) हो (अश्मा) पत्थर अर्थात् वज्र (यम्) जिसको (अस्यथ) तुम फेंकते हो।

[देवासः=विजिगीषु हमारे सेनापति आदि; "दिवु क्रीड़ा विजिगीषा" आदि (दिवादिः)। निज सेनापति आदि से कहा है कि तुम हेति अर्थात् आयुध को इस प्रकार शत्रु पर फेंको कि उसका दुष्परिणाम हम पर न हो। अश्मा हो हेति है, अश्मा अशूङ् व्याप्तौ (स्वादिः)। यह ऐसा अस्त्र है जिसका कि दुष्परिणाम शत्रु पर और हम पर भी हो सकता है। अतः निजसेनापतियों को सावधान किया गया है। तामसास्त्र का दुष्परिणाम हम पर और शत्रु पर, दोनों पर हो सकता है। तामसास्त्र है अन्धकार फैला देनेवाला अस्त्र (अथर्व० ३।२।५, ६)।]

सखा॒साव॒स्मभ्य॑मस्तु रा॒तिः सखेन्द्रो॒

भगः॑ स॒वि॒ता चि॒त्ररा॑धाः ॥२॥

(असौ) वह (रातिः) दाता परमेश्वर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) हो (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, परमेश्वर, (भगः) भजनीय परमेश्वर, (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर तथा (चित्रराधाः) चित्र-विचित्र धनवाला परमेश्वर (सखा अस्तु) हमारे लिये सखा हो।

[रातिः आदि परमेश्वर के नाम हैं। परमेश्वर और जीवात्मा

परस्पर सखा हैं, "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (९।१४।२०)। समानवृक्ष है संसार। ये दोनों परस्पर सखा हैं—इस सत्य का ही कथन मन्त्र में हुआ है। चित्रराधाः=राधः धननाम (निघं० २।१०)। परमेश्वर के धन चित्र-विचित्र हैं, नानाविध हैं। यह समग्र संसार उसका धन है, जोकि नानाविध वस्तुओं से भरपूर है।]

यू॒यं नः॑ प्रवतो नपा॒न्मरु॑तः सूर्य॑त्वचसः।

शर्म॑ यच्छाथ स॒प्रथाः॑ ॥३॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट गुणोंवाले व्यक्ति का (नपात्) न पात करनेवाले हे परमेश्वर! (सूर्यत्वचसः) तथा सूर्य की त्वचा के सदृश त्वचावाले (मरुतः) शत्रु को मारनेवाले हे सैनिको! (यूयम्) तुम (नः) हम प्रजाजनों को (सप्रथाः) विस्तृत (शर्म) सुख या गृह (यच्छाथ) प्रदान करो।

[परमेश्वर प्रकृष्ट गुणोंवाले मनुष्य का पात नहीं करता, अपितु उसका उद्धार करता है, उसे समुन्नत करता है, सुखी करता है। नपात्=न पातयिता (सायण)। मरुतः=म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः (उणादिः १।९४, दयानन्द)। ये सैनिक हैं जोकि युद्ध में मरते भी हैं और शत्रु को मारते भी हैं। ये सूर्यत्वचसः हैं, सूर्य की पृष्ठ के समान तेजस्वी, चमकीले। युद्ध के शस्त्रास्त्रों को धारण करने से उनकी चमक द्वारा चमकने वाले। ये प्रजाजनों की रक्षा कर उन्हें विस्तृत अर्थात् महासुख प्रदान करते तथा उनके राष्ट्रगृह का विस्तार करते हैं, राष्ट्रगृह की सीमाओं को बढ़ाते हैं। शर्म=सुखनाम तथा गृहनाम (निघं० ३।६ तथा ३।६)।]

सु॒षू॒दत॑ मृ॒डत॑ मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥४॥

[हे मरुतः, सैनिको! मन्त्र (३)] तुम (सुषूदत) शत्रुओं पर बाणों को क्षरित करो, फेंको। (मृडय) तथा हे परमेश्वर, मन्त्र (३) तू सुख प्रदान कर (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिये तथा हमारे (तोकेभ्यः) सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) कर।

[सुषूदत=षूद क्षरणे (भ्वादिः)। मयः सुखनाम (निघं० ३।६)। तोकम् अपत्यनाम (निघं० २।२)। मृड सुखने (तुदादिः)।]

सूक्त २७

(१-४) । अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । चन्द्रमाः तथा इन्द्राणी । अनुष्टुप्; १ पथ्यापंक्तिः ।

अमूः पारे पृदाक्व१स्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः
परिपन्थिनः ॥१॥

(अमूः) वे जो (पारे) हमारी दैशिक सीमा से पार (निर्जरायवः) जरावस्था से रहित, (त्रिषप्ताः) त्रिविध या सप्तविध (पृदाक्वः) सर्पणियों के सदृश [शत्रुसेनाएँ] हैं। (तासाम्) उन सेनाओं की (जरायुभिः) वस्तुतः जीर्णतावस्थाओं के कारण, (वयम्) हम (अक्ष्यौ अपि) दोनों आँखों को भी (व्ययामसि) संवृत कर देते हैं, ढाँप देते हैं, सेनाएँ जोकि (अघायोः) अघ अर्थात् पाप के परिणामरूपी हननकर्म को चाहनेवाले, (परिपन्थिनः) परि-वर्जित पथवाले [शत्रुराजा] की हैं।

[मन्त्रस्थ जरायु पद गर्भस्थ शिशु का आवरण करनेवाली झिल्ली का वाचक नहीं। प्रकरणानुसार जरायु पद भिन्नार्थक है। शत्रुसेनाएँ त्रिविध हैं, [पदाति, अश्वारोही तथा रथाश्वारोही]। तथा सप्तविध हैं सप्ताङ्ग प्रकृति, यथा स्वाम्यामात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि (आप्टे)। ये सप्त भी शत्रु राजा की सेनाओं के उपकारी होने से सेनारूप कहे हैं। परि=अपपरी वर्जने (अष्टा० १।४।२८) युद्ध का पथ अर्थात् मार्ग वैदिक राजनीति में परिवर्जित है, यह केवल आपद्धर्म[1] है। आँखों को संवृत करना अर्थात् ढाँपना वैदिक तामसास्त्रों द्वारा होता है (अथर्व० ३।२।५, ६)।]

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥२॥

(पिनाकम् इव बिभ्रती) नाकस्थ धनुष् के सदृश धनुष् को धारण करती हुई, (कृन्तती) काटती हुई [शत्रुसेना] (विषूची) नाना दिशाओं में गमन करती हुई (एतु) चली जाय, नानामुखी हो जाय, विप्रकीर्ण हो जाय। (पुनर्भुवा) यदि शत्रुसेना पुनः एकत्रित हो जाय तो (मनः) उनका एकीभूत मन अर्थात् संकल्प (विष्वक्) भिन्न-भिन्न हो जाय, अर्थात् परस्पर विरुद्ध हो जाय, (अघायवः) अघ अर्थात् पापरूपी युद्ध-कर्म चाहते हुए शत्रु (असमृद्धाः) समृद्धिरहित हो जायें।

१. शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर तत्प्रतीकाररूप है। आत्मरक्षार्थ हैं।

[पिनाकम्=नाकस्थ इन्द्रधनुष् के समान बड़ा धनुष्, समृद्ध धनुष्[1]।]

न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरुद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥३॥

(बहवः) बहुसंख्यक शत्रु (न समशकन्) हमें पराजित करने में, परस्पर संघीभूत हुए, समर्थ नहीं हुए। (अर्भकाः) अल्पसंख्यक शत्रुओं ने तो (अभि) अभिमुख हमारे होकर (न दाधृषुः) यह धृष्टता ही नहीं की। (अघायवः) अघ अर्थात् पापरूपी युद्धकर्म चाहते हुए शत्रु, (वेणोः) बाँस से (अभितः, इव उद्गाः) शाखा-प्रशाखारूप में सब ओर उठी हुईं, फैली हुईं (इव) के सदृश (असमृद्धाः) समृद्धिरहित हुए हैं, तितर-बितर हुए हैं।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥४॥

(पादौ) हे दो पैरो ! (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) स्फूर्ति करो, (पृणतः) सेना के पालक शत्रु के (गृहान्) घरों की ओर (वहतम्) हमें ले चलो, या पहुँचाओ। (प्रथमा) मुखिया, (अजीता) वयोहानि को अप्राप्त, (अमुषिता) अपराजिता (इन्द्राणी) सम्राट् की पत्नी (पुरः) आगे (एतु) चले।

[इन्द्र=सम्राट्, इन्द्रश्च सम्राट् (यजुः० ८।३७)। इन्द्राणी=सम्राट् की पत्नी। साम्राज्य में यह महिलाओं में मुखिया है, सम्राट् की पत्नी होने से। सम्राट् शक्तिशाली है, उसकी पत्नी होने से इन्द्राणी भी शक्तिसम्पन्ना है, साम्राज्य की सब शक्तियाँ इसकी सहायिका हैं। यह सेना के आगे-आगे चलती है। इससे सैनिकों को स्फूर्ति मिलती है, उनका उत्साह बढ़ता है। अजीता=अ+ज्या वयोहानौ (क्र्यादिः)। अमुषिता=अ+मुष स्तेये (क्र्यादिः)। शत्रु द्वारा छल-कपट से जिसकी शक्ति अपहृत नहीं हुई।]

१. पिनाकम्=पि गतौ (तुदादिः)+नाकम् दुःखरहित लोक (निरुक्त २।४।१४)। गतिः=प्रगत अर्थात् व्याप्त। पिनाकमिव ऐश्वर्यं धनुरिव (सायण)। ऐश्वर्यधनुः, सम्भवतः वर्षा ऋतु में आकाश में दृश्यमान इन्द्रधनुष् के समान। यह इन्द्रधनुष् परमेश्वरकृत है, अतः परमेश्वरीय है।

सूक्त २८

(१-४) चातनः (स्वस्त्ययनकामः) । अनुष्टुम्;
३ विराट् पथ्याबृहती; ४ पथ्यापंक्तिः ।

उप प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒ चात॑नः ।
दह॒न्नप॑ द्व॒यावि॑नो यातु॒धाना॑न् कि॒मी॒दिनः॑ ॥१॥

(रक्षोहा) राक्षसी कर्म करनेवाले शत्रु सैनिकों का विनाश करनेवाला (अग्निः देवः) अग्रणी देव (उप प्रागात्) हमारे समीप आ गया है, (अमीव-चातनः) जोकि शत्रु द्वारा उत्पादित रोगों का शान्त करनेवाला है। वह (द्वयाविनः) वाणी में अन्यत् और कर्म में अन्यत् इस प्रकार द्विविध चालों वालों को तथा (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूत या यातनाओं के परिपोषकों (किमीदिनः) "किम् इदानीम्" इस प्रकार के प्रश्नों द्वारा भेद लेनेवाले शत्रु सैनिकों को (अपदहन्, अपदहत्) दग्ध करे अथवा "दहन् उप प्रागात् ।"

[मन्त्रवर्णन से अग्निदेव चेतन प्रतीत होता है। वह प्रधानमन्त्री है, जोकि देव है, दिव्यगुणी है। वह राक्षसी स्वभाववाले शत्रुसैनिकों का हनन करता तथा राष्ट्र के रोगों का शमन करता है। मन्त्र में चातनः पद देखकर सूक्त का ऋषि "चातन"[1] कह दिया है, वास्तविक ऋषि अज्ञात प्रतीत होता है।]

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव कि॒मी॒दिनः॑ ।
प्र॒ती॒चीः कृ॑ष्णवर्त॒ने सं द॑ह यातु॒धा॒न्यः॑ ॥२॥

हे प्रधानमन्त्रिन् ! (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूत या यातनाओं के परिपोषक सैनिकों को (प्रतिदह) प्रत्येक को दग्ध कर, (किमीदिनः) "किम् इदानीम्" इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवालों में से (प्रतिदह) प्रत्येक सैनिक को दग्ध कर। (कृष्णवर्तने) कृष्णवर्ताव करनेवाले सेनाधिपति के प्रति कृष्णवर्ताव करनेवाले हे प्रधानमन्त्रिन् ! (प्रतीचीः) प्रतिकूल चालों-

---

१. "चातनः" यह नाम सूक्तद्रष्टा ऋषि ने स्वयं अपना औपाधिक नाम चुन लिया है, या उसके माता-पिता ने नामकरण संस्कार के समय रखा है। तदनुसार विनियोगकार ने सूक्त का ऋषि "चातन" मान लिया है। इसी प्रकार की भावना उन सूक्तों में भी समझनी चाहिए जिनमें कि मन्त्रगत ऋषिनाम को सूक्त का द्रष्टा ऋषि विनियोगकार ने कहा है।

वाली (यातुधान्यः) यातनाओं के निधिभूत सेनाओं को (सं दह) सम्यक् दग्ध कर।

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं॒ मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥३॥

(या) जो [शत्रु की सम्राज्ञी] (शपनेन) शाप द्वारा (शशाप) शाप देती है, (या) जो (मूरम्) मूलभूत (अघम्) हत्यारे कर्म को (आदधे) निज जीवन में आधान करती है, (या) जो (रसस्य) विषयों की प्यास बुझाने के लिए (जातम्) बच्चों को (आरेभे) मार डालती है और (सा) वह (तोकम्) अपनी सन्तान को (अत्तु) खा जाती है।

पु॒त्रम॑त्तु यातु॒धानीः॒ स्वसा॑रमु॒त न॒प्त्य॑म् ।
अधा॑ मि॒थो वि॑के॒श्यो॒३ वि घ्न॑तां यातु॒धा॒न्यो॒३
वि तृ॑ह्यन्तामरा॒य्य॑: ॥४॥

(यातुधानीः) यातुधानी स्त्री (पुत्रमत्तु) पुत्र को खाए[1] (स्वसारम्) निज बहिन को (उत) तथा (नप्त्यम्) नातिन को खाए। (अध) तथा (विकेश्यः) बिखरे केशोंवाली हुई, (मिथः) परस्पर (विघ्नताम्) विशेष रूप में हनन करें, (यातुधान्यः) यातुधानी स्त्रियाँ (अराय्यः) एक-दूसरे को कुछ न देती हुई परस्पर शत्रुरूप हो जाएँ। विघ्नताम् =अथवा परस्पर के कार्यों में विघ्न पैदा करें।

[विकेश्यः द्वारा यातुधानियों की उन्मत्तता को सूचित किया है। देखो मन्त्र (३) में "मूरम्" पद। इन यातुधानियों के तोक, नाती तथा स्वसाएँ भी हैं। अतः ये मानुषी हैं। मनुष्यजाति के ही भिन्न-भिन्न वर्ग की हैं। अराय्यः अ+रा [दाने]+युक् (अष्टा० ७।३।३३)।

पञ्चम अनुवाक समाप्त

---

१. सूक्त का अर्थ सायणकृत अर्थ के आधार पर किया है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् विद्वान्। यथा "ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्" (ऋ० १०।७१।११) तथा "ब्रह्मा को जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः" (निरुक्त १।३।८)।

अनुवाक ६

सूक्त २६

(१-६)। वसिष्ठः। अभीवर्तनमणिः। अनुष्टुप्।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥१॥

(येन) जिस (अभीवर्तेन) परराष्ट्र की ओर या सम्मुख प्रवृत्त होनेवाले सेनाधिपति रूप (मणिना) पुरुष-रत्न द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् (अभिवावृधे) सब ओर बढ़ा, वृद्धि को प्राप्त हुआ है, (तेन) उस पुरुष-रत्न के सहयोग द्वारा (ब्रह्मणस्पते) हे वेदपति, वैदिक विद्वान्! (अस्मान्) हम राष्ट्रपतियों को, (राष्ट्राय) राष्ट्रोन्नति के लिये, (अभिवर्धय) अभिवृद्ध कर।

[इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८।३७) यथा—"इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा।" वरुण है प्रत्येक राष्ट्र का निर्वाचित राष्ट्रपति, और इन्द्र है राष्ट्र-समूहों का निर्वाचित साम्राज्य या अधिपति। ब्रह्मणस्पति है वैदिक विद्वान्, ब्रह्मा। प्रत्येक राष्ट्र में नियत ब्रह्मा तत्-तत् राष्ट्र के धर्मकार्यों का निर्वारण करता है। प्रत्येक राष्ट्र की धार्मिक उन्नति द्वारा मानो वह साम्राज्य की सामूहिक उन्नति में सहायक होता है। अभिवर्तते अनेन इति अभीवर्तः सेनाधिपतिः। यह साम्राज्योन्नति के लिये मणिरूप है, रत्नरूप है। "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते" (आप्टे)।]

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥२॥

[हे अभीवर्त सेनाधिपति!] (सपत्नान्) मुझ राजा की, सपत्नी के समान वर्तमान परस्पर विद्रोही प्रजाजनों को (अभिवृत्य) घेरकर, (याः नो अरातयः) जो राज्य-कर नहीं देते अतः हमारे शत्रु हैं उन्हें (अभि, वृत्य) घेरकर, (यः नो दुरस्यति) जो हमारे साथ दुष्टकर्म [युद्ध] करना चाहता है (अभि, वृत्य) उसे भी घेरकर, तथा (पृतन्यन्तम्) सेना का संग्रह करना चाहते हुए को (अभि, वृत्य) घेरकर (तिष्ठ) उस-उसका तू अधिष्ठाता हो जा। उन्हें निजपादाधीन कर।

[अभिवृत्य=अभि+वृञ् आवरणे। पृतन्यन्तम्=पृतनां सेनाम् आत्मनः इच्छन्तम्, पृतना+क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अष्टा०

७।४।३९) इत्याकारलोपः। दुरस्यति=दुष्टं कर्म कर्तुमिच्छति, दुष्टशब्दस्य दुरस् भावः (अष्टा० ७।४।३६)। सपत्नान्=एक ही राजा के राज्य में वर्तमान परस्पर विद्रोही प्रजाजन।]

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥

[हे सेनाधिपति!] (देवः) धन देनेवाले (सविता) ऐश्वर्य के अधिष्ठाता कोषाध्यक्ष ने (त्वा) तुझे (अभि, अवीवृधत्) बढ़ाया है, (सोमः) सेनाध्यक्ष ने (अभि, अवीवृधत्) तुझे बढ़ाया है। (विश्वा भूतानि) राष्ट्र की सब भौतिक शक्तियों ने (त्वा अभि अवीवृधन्) तुझे बढ़ाया है। जिस प्रकार कि तू (अभीवर्तः) शत्रु की ओर प्रवृत्त होनेवाला (अससि) हो सके।

[देवः=दानाद् वा (निरुक्त ७।४।१४)। सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिः), ऐश्वर्य अर्थ अभिप्रेत है। ऐश्वर्य का अधिष्ठाता है राज्य का कोषाध्यक्ष। सोमः=सेना का प्रेरक, सेना के आगे-आगे चलनेवाला सेनानायक (यजुः० १७।४९)। विश्वा भूतानि=राष्ट्र की सब शक्तियाँ, अर्थात् खनिज पदार्थ, वन्य पदार्थ तथा कृषिजन्य पदार्थ आदि।]

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥४॥

(अभीवर्तः) शत्रु की ओर प्रवृत्त हुआ, (सपत्नक्षयणः) शत्रु का क्षय करनेवाला, (मणिः) सेनाधिपति रूप पुरुष रत्न (अभिभवः) शत्रु का पराभव करता है। (राष्ट्राय) राष्ट्रोन्नति करने के लिये, (सपत्नेभ्यः पराभुवे) तथा शत्रुओं के पराभव के लिये, (मह्यम्) मेरे साथ (बध्यताम्) दृढ़ बन्धन में वह बद्ध हो जाय।

[मन्त्र में राष्ट्रपति अपने साथ सेनाधिपति के दृढ़ बन्धन की अभिलाषा करता है।]

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

(असौ सूर्यः उद् अगात्) वह सूर्य उदित हुआ है, (मामकम्) मेरा (इदम् वचः) यह वचन भी (उद् अगात्) उदित हुआ है, (यथा) "जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रु का हनन करनेवाला (असानि) हो जाऊँ, (असपत्नः) शत्रुरहित हुआ (सपत्नहा) शत्रु का हनन करनेवाला हो जाऊँ।"

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

(सपत्नक्षयणः) सपत्न-शत्रु का क्षय करनेवाला, (वृषा) तथा सुख-वर्षा करनेवाला (अभिराष्ट्रः) शत्रुराजा के राष्ट्र को अभिगत अर्थात् प्राप्त हुआ, (विषासहिः) अवशिष्ट शत्रुओं का भी पराभव करनेवाला [मैं हो जाऊँ] । (यथा) जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (एषाम् वीराणाम्) इन सैनिक वीरों का (च) और (जनस्य) जनता का (विराजानि) मैं विशेष प्रकार से राजा बन जाऊँ, या इनका नियन्ता हो जाऊँ ।

[मन्त्र में राष्ट्रपति, जिसने कि शत्रु के राष्ट्र पर विजय पाई है वह सेनाधिपति से कहता है कि तू मुझे सहायता प्रदान कर जिस प्रकार कि मैं शत्रु के वीरों अर्थात् सैनिकों, तथा प्रजाजनों पर राज्य कर सकूं ।]

सूक्त ३०

(१-४) । अथर्वा (आयुष्काम), विश्वे देवाः । त्रिष्टुभ्;
३ शाक्वरगर्भा विराड् जगती ।

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् ।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥१॥

(विश्वे देवाः) हे सब देवो ! (वसवः) तथा वसुओ ! (इमम्) इसकी (रक्षत) रक्षा करो, (उत) तथा (आदित्याः) हे आदित्यो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस आयुष्काम पुरुष के सम्बन्ध में (जागृत) जागरूक अर्थात् सावधान रहो । (इमम्) इसे (सनाभिः) सम्बन्धी (उत वा) अथवा (अन्य-नाभिः) असम्बन्धी, (यः) जोकि (पौरुषेयः) पुरुष द्वारा प्राप्त (वधः) वध है उसे (मा प्रापत्) न गिराए, प्राप्त कराए ।

[उपनयन कर्म में सूक्त का विनियोग हुआ है (सायण) । वसु और आदित्य कोटि में गुरु विवक्षित हैं । रुद्रकोटि के गुरु भी अभिप्रेत हैं । इन सबको सम्बोधित कर ब्रह्मचारी का पिता ब्रह्मचर्याश्रम के निवासियों के प्रति ब्रह्मचारी को सुपुर्द कर इसकी रक्षा के लिये प्रार्थना करता है । सनाभिः =समानो नाभिः गर्भाशयो यस्यासौ सनाभिः (सायण), एक परिवार या कुल का सम्बन्धी । नाभिः=णह बन्धने (दिवादिः) । "पौरुषेयः वधः" द्वारा यह भी ब्रह्मचारी का पिता प्रार्थना करता है कि इस पर किसी भी पुरुष द्वारा की गई चोट न पहुँचे ।

ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः देवाः=ओषधियों, पशुओं, जलों के मध्य

में काम करनेवाले व्यवहारी अर्थात् व्यापारी लोग "दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार" आदि (दिवादिः) । ओषधियों के व्यवहारी हैं वन्य तथा कृषि-जन्य पदार्थों के व्यापारी; पशुओं के व्यवहारी हैं पशुपालक तथा इनके क्रय-विक्रय करनेवाले; अप्सु के व्यापारी हैं नौकाओं द्वारा व्यापार करनेवाले, व्यवहारी ।]

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥२॥

(देवाः) हे गुरुदेवो ! (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पिता-माता हैं, (ये च पुत्राः) और जो पुत्र हैं, (सचेतसः) वे एकचित्त होकर (मे) मेरे (इदम् उक्तम्) इस कथन को (शृणुत) सुनो कि (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके प्रति (एतम्) इस ब्रह्मचारी को (परिददामि) मैं सौंपता हूँ, (एनम्) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे) जरावस्था के लिये (वहाथ) तुम प्राप्त कराओ ।

[ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुओं के पितर अर्थात् माता-पिता आदि बुजुर्ग भी रहते हैं, और गुरुओं के पुत्र भी । ब्रह्मचारी का पिता, ब्रह्मचारी की रक्षा के लिये उन सबके प्रति कहता है कि मैं तुम सबके प्रति इसे सौंपता हूँ, तुम सब एकचित्त होकर इसकी रक्षा करो, और इस प्रकार इसे सुरक्षित करो कि यह जरावस्था तक पहुँच सके, उससे पूर्व इसकी मृत्यु न हो । वहाथ=वह प्रापणे (भ्वादिः) ।]

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥३॥

(देवाः) हे देवो ! (ये) जो (दिवि) द्युलोक में (स्थ) तुम हो, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, (ओषधीषु) ओषधियों में, (पशुषु) पशुओं में, (अप्सु) जलों में (अन्तः) इनके मध्य में हो । (ते) वे (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिये (जरसम् आयुः) जरावस्था तक की आयु (कृणुत) तुम करो, (शतम् अन्यान्) शतविध अन्य (मृत्यून्) मृत्युओं को (परिवृणक्तु) परिवर्जित करे [परमेश्वर ।]

[ऋषि दयानन्द द्युलोक, अन्तरिक्ष में भी देवों की सत्ता मानते हैं । सत्यार्थप्रकाश समुल्लास आठ के अनुसार यथा "जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें उसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से

भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता । तो क्या इन असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है, इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है । कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है ।"

यजुर्वेद के अनुसार भी नाकलोक में मुक्त आत्माओं की विद्यमानता है (३१।१६) । यजुर्वेद के इस मन्त्र में "साध्याः" हैं वे जिन्होंने योग के अष्टाङ्गों को सिद्ध कर लिया है । तथा पूर्वे के दो अभिप्राय हैं—(१) पूर्वसृष्टिकाल के अथवा (२) वर्तमान सृष्टि में भी जो अष्टाङ्ग योग में पूर्ण हुए हैं, पूर्व पूरणे(भ्वादिः)। या पूरी आप्यायने, आप्यायनम्, ओप्यायी वृद्धौ (भ्वादिः) ।]

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥४॥

(येषाम्) जिन [सद्गृहस्थियों] के (प्रयाजाः) प्रकृष्ट पञ्चमहायज्ञ हैं, (उत वा) या (अनुयाजाः) आनुषङ्गिक याग हैं, (हुतभागाः) अग्निहोत्र तथा बलिवैश्वयज्ञ में आहुतियाँ देकर जो अन्नभागी हैं, अन्न ग्रहण करते हैं, (च) और (अहुतादः) बिना आहुतियाँ दिये अन्नादन करते हैं, वे संन्यासी या विरक्त (देवाः) दिव्य मनुष्य हैं; (येषाम्) तथा जिन (वः) तुम्हारे लिये (पञ्च) विस्तृत (प्रदिशः) दिशाएँ (विभक्ताः) विभक्त हैं [जोकि पृथिवी, वायु आदि हैं] (तान् वः) उन तुमको, (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिये (सत्रसदः) त्राण करने में स्थित (कृणोमि) मैं परमेश्वर नियत करता हूँ । पञ्च=पचि विस्तारे (चुरादिः) ।

[मन्त्र में याज्ञिक-प्रसिद्ध प्रयाजों और अनुयाजों का वर्णन नहीं है । ये हैं इध्म से लेकर वनस्पति पर्यन्त ११ (निरुक्त ८।२।४ से ८।३।२२) ।]

सूक्त ३१

(१-४) । ब्रह्मा । आशापालाः, वास्तोष्पतयः । अनुष्टुप्;
३ विराट् त्रिष्टुप्; ४ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥१॥

(आशानाम्) दिशाओं के (आशापालेभ्यः) दिक्-पालक, (चतुर्भ्यः) चार (अमृतेभ्यः)अमृत(भूतस्याध्यक्षेभ्यः) भूत-भौतिक जगत् के अध्यक्षों के

लिये (वयम्) हम (इदम्)[1] अब (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) परिचर्या करते हैं ।

[इदम्=इदानीम् (सायण) । परिचर्या=सेवा । चार दिशाएँ= पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर । इन चार दिशाओं के अध्यक्ष हैं चार अमृत अध्यक्ष; पूर्वदिक् का अध्यक्ष है अग्नि, "प्राची दिगग्निरधिपतिः", दक्षिणा दिक् का अध्यक्ष है इन्द्र, "दक्षिणा दिगिन्द्रो अधिपतिः" पश्चिम दिक् का अध्यक्ष है वरुण, "वरुणो अधिपतिः", उत्तर दिक् का अध्यक्ष है सोम, "सोमो अधिपतिः" (अथर्व० ३।२७।१-४) । विधेम=परिचरणकर्मा (निघं० ३।५) ।]

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसो अंहसः ॥२॥

(देवाः) हे देवो ! (ये) जो (आशानाम् आशापालाः) दिशाओं के दिक्पाल (चत्वारः) चार (स्थन) तुम हो, (ते) वे तुम (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति अर्थात् कष्टों के (पाशेभ्यः) फंदों से (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ाओ (अंहसः अंहसः) तथा निर्ऋति के हेतुभूत प्रत्येक पाप से छुड़ाओ ।

[चार देव हैं मन्त्र (१) में कथित अर्थात् अग्नि, इन्द्र, वरुण तथा सोम । ये चार नाम परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों के प्रतिपादक हैं । अग्नि ज्ञानाग्नि देकर, इन्द्र शक्ति देकर, वरुण दण्ड देकर पापकर्मों से, पाप से निवारित करता, अथर्व० (४।१६।१-९), और सोम अर्थात् चन्द्रमा के सदृश शान्ति प्रदान करता है ।]

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥३॥

(अस्रामः) स्राम रोग से रहित हुआ, (त्वा) तुझे (हविषा) हवि द्वारा (यजामि) मैं पूजता हूँ, या तुझे यज्ञाग्नि द्वारा आहुतियाँ देता हूँ, (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ (त्वा) तुझे (घृतेन) घृत द्वारा (जुहोमि) आहुतियाँ देता हूँ । (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं का (आशापालः) दिक्पाल (तुरीयः देवः) चतुर्थ देव है (सः) वह (नः) हमारे लिए (इह) इस जीवन में (सुभूतम्) उत्तम स्थिति (आवक्षत्) प्राप्त कराए । वह प्रापणे (भ्वादिः) ।

[स्राम-रोग प्रवाही रोग है, सम्भवतः अतिसार । स्रामाः स्रु (स्रवित होना, स्रुत होना) । यज्ञ करने के लिये शरीर स्वस्थ तथा अविकृताङ्ग होना

---

१. अथवा "इदम्" है परिचर्या-कर्म, जोकि विधेमद्योतित क्रिया का कर्म-विशेषण है ।

चाहिए । घृतरूपी हविः[1] श्रेष्ठ हविः है । सब दिशाओं का दिक्पाल एक है, जिसे कि "तुरीय" कहा है । इसे "चतुर्थः पादः" भी कहा है । जोकि ओङ्कार है (माण्डूक्योपनिषद्, सन्दर्भ १२) । चार दिशाओं के दिक्पालों का पृथक्-पृथक् कथन मन्त्र (२) में हुआ है । मन्त्र (३) में चार दिशाओं, अवान्तर दिशाओं, ध्रुवा, ऊर्ध्वा दिशाओं के एकपति का कथन "तुरीय" पद द्वारा हुआ है । सुभूतम्=सु+भू, सत्तायाम् (भ्वादिः), सत्ता है स्थिति । सुभूतम् को मन्त्र (४) में स्वस्ति कहा है । स्वस्ति=सु+अस्+ति । तुरीय-परमेश्वर है ब्रह्म । देखो सूक्त ३२, मन्त्र (१) में "महद्-ब्रह्म" ।]

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥४॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये, (उत) तथा (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) उत्तम स्थिति (अस्तु) हो, (गोभ्यः) गौओं के लिये, (जगते) जगत् के लिये या जङ्गम प्राणिसमूह के लिए, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (स्वस्ति) उत्तमस्थिति हो । (विश्वम्) समग्र संसार (सुभूतम्) उत्तम स्थितिवाला, (सुविदत्रम्) उत्तम धन को प्राप्त तथा सबका त्राण करनेवाला (नः) हमारे लिये हो, ताकि (ज्योग् एव) चिरकाल तक ही (सूर्यम्) सूर्य का (दृशेम) दर्शन करें । अथवा स्वस्ति=कल्याण या कुशलता ।

[सुविदत्रम्=सुविद्, इगुपधत्त्वात् "कः" प्रत्ययः+त्रम्, त्रैङ् पालने या त्राण (औणादिक) "ड:" प्रत्ययः ।]

सूक्त ३२

(१-४) । ब्रह्मन् । द्यावापृथिव्ये । अनुष्टुप्; २ ककुम्मती ।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

(जनासः) हे उत्पन्न मनुष्यो ! (इदम् विदथ) यह जानो (महद् ब्रह्म) महद्-ब्रह्म का (वदिष्यति) यह कथन करेगा कि (न तत्) न वह (पृथिव्याम्) केवल पृथिवी में है, (नो दिवि) न केवल द्युलोक में है, (येन) जिस द्वारा कि (वीरुधः) विरोहण करनेवाली ओषधियां (प्राणन्ति) प्राण धारण करती हैं, जीवित हैं ।

[न पृथिव्याम् नो दिवि=अपितु वह सर्वत्र विद्यमान है । वह है

१. घृतरूपी हविः अथवा घृत और हविः ।

महद्-ब्रह्म । सायण ने "महद्-ब्रह्म" का अर्थ किया है । "ब्रह्मणः प्रथमकार्यम् आपः" । सम्भवतः इसलिये कि वीरुधें आपः द्वारा ही "प्राणन्ति" हैं । परन्तु मन्त्र में महद्-ब्रह्म द्वारा समग्र जगत् को, चाहे वह जड़ हो या चेतन, अध्यात्म दृष्टि से देखा है । समग्र जगत् उसी द्वारा प्राणधारण कर रहा है, केवल "आपः" ही नहीं ।]

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

(आसाम्) इन ओषधियों का (स्थाम) स्थान (अन्तरिक्षे[1]) ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाले में है (इव) जैसेकि (श्रान्तसदाम्) जगत् के धन्धों से थके हुए विरक्त व्यक्तियों का वह विश्रामस्थान है । (अस्य भूतस्य) इस भूत-भौतिक के (तत्) उस (आ स्थानम्) व्यापी-स्थान को (वेधसः) मेधावी भी (विदुः) जानते हैं (न वा) अथवा नहीं जानते ।

[यह सन्देहास्पद है] । वेधसः=वेधा मेधाविनाम (निघं० ३।१५) विदुः नवा=यथा—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

जिसे ब्रह्म अज्ञेय है, उसे तो वह ज्ञेय है, और जिसे ब्रह्म ज्ञेय है उसे वह नहीं जानता । (अविज्ञातम्, विजानताम्) ज्ञेयवादियों को ब्रह्म अविज्ञात है, और अज्ञेयवादियों को ब्रह्म विज्ञात है ।

[जाननेवाला जीवात्मा अल्पज्ञ और सीमित है, और ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है । अल्पज्ञ और सीमित, सर्वज्ञ और निःसीम को जानने की शक्ति नहीं रखता । इस औपनिषद वचन द्वारा ज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद का अन्तिम निर्णय हो गया । इस वचन में "वि" का विशेष महत्त्व है । "वि" का अभिप्राय है विशेषतया जानना । ब्रह्म का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, सामान्य ज्ञान ही हो सकता है । मतम्=मन ज्ञाने (दिवादिः), मनु अवबोधने (तनादिः) ।]

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥३॥

१. "अन्तरिक्ष" को आकाश भी कहा है, यथा "आकाशस्तल्लिंगात्" (ब्रह्मसूत्र वेदान्त) । ब्रह्मसूत्र में "आकाश" का प्रयोग "ब्रह्म" के लिए हुआ है जोकि सर्वाधार है । तथा अन्तरिक्षम्=अन्तराक्षान्तं भवति (निरुक्त २।३।१०), क्षि निवासे (तुदादिः) ।

(रोदसी) हे द्यौः-तथा-पृथिवी ! (रेजमाने) कम्पन करते हुए तुम (भूमिः च) अर्थात् भूमि और पृथिवी तुम दो ने, (यद्) जिस ब्रह्म को (निरतक्षतम्) घड़ा, प्रकट किया, (तत्) वह ब्रह्म (अद्य, सर्वदा) आज तक और सदा से (आर्द्रम्) दयार्द्रहृदय रहा है, (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसेकि समुद्रगामिनी नदियाँ सदा आर्द्र रहती हैं, (प्रभूत जल होने से)।

[समग्र द्यौः और पृथिवी सदा गतिवाले हैं, इसे कम्पन से सूचित किया है। कम्पन करनेवाला है, ब्रह्म। ब्रह्म द्वारा ही इन सबमें गतियाँ हो रही हैं। ब्रह्माण्ड की गतियों का करनेवाला कोई चेतन-तत्त्व होना चाहिए, यह इन गतियों द्वारा सूचित होता है। यह ही ब्रह्म को घड़ना है, ज्ञापित करना है। मन्त्र में निरतक्षतम् की भावना निम्न मन्त्र द्वारा सूचित भी होती है। यथा—

कि३ं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
—यजुः० १७।२०

मन्त्र में निष्टतक्षुः और भुवनानि धारयन् यदध्यतिष्ठत्, तथा वनम् द्वारा ब्रह्म का सम्बन्ध घड़ने के साथ सूचित होता है। निस्ततक्षुः= निस्ततक्ष [परमेश्वरः] महीधर; बहुवचनं पूजार्थम्, उव्वटः। अथवा निस्ततक्षुः प्राकृतिक-शक्तयः। परमेश्वर तो तक्षा है, वह प्राकृतिक-शक्तियों की सहायता से तक्षण करता है। अतः सहायक शक्तियों में भी तक्षण क्रिया का सम्बन्ध दर्शाया है।]

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम्।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः॥४॥

(विश्वम्) समस्त ब्रह्माण्ड ने (अन्याम्) इस प्रकृति को (अभीवार) सब ओर से घेरा हुआ है। (तद्) वह ब्रह्माण्ड (अन्यस्याम्) तद्भिन्न प्रकृति में (अधि श्रितम्) आश्रित है। (विश्ववेदसे) विश्व के वेत्ता (दिवे च) और द्योतमान, (पृथिव्यै च) और पृथिवी के सदृश प्रथित और आधारभूत ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है, या मैं करता हूँ।

[सूक्त में महद्-ब्रह्म का वर्णन प्रतिज्ञात हुआ है (मन्त्र १)। अतः उसकी विभूति का वर्णन मन्त्र में हुआ है, उस महद्-ब्रह्म को नमस्कार किया है। "विश्ववेदसे" द्वारा महद्-ब्रह्म को विश्ववेत्ता कहा है। अतः मन्त्र के प्रथमपाद में पठित "विश्वम्" पद ब्रह्माण्डवाची प्रतीत होता है। मन्त्र से यह अतिस्पष्ट है कि सूक्त में उदक का वर्णन नहीं, अपितु आधारभूत ब्रह्म का ही वर्णन है। अधिक स्पष्टता के लिए मन्त्र में ब्रह्माण्ड, प्रकृति और महद्-ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। महद्-ब्रह्म ब्रह्माण्ड का रचयिता और प्रकृति का अधिष्ठाता है, नियन्ता है।]

सूक्त ३३

(१-४)। शन्तातिः। चन्द्रमाः, आपः। त्रिष्टुप्।

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥१॥

(हिरण्यवर्णाः) सुवर्ण के सदृश वर्णवाले, (शुचयः) शुद्ध, (पावकाः) पवित्र करनेवाले, (यासु) जिनमें (सविता) सूर्य, (यासु) और जिनमें (अग्निः) अग्नि (जातः) प्रादुर्भूत हुई। (याः) जिन (सुवर्णाः) उत्तम वर्णवाले (आपः) आप ने (अग्निम्) अग्नि को (गर्भम्) गर्भरूप में (दधिरे) धारण किया, (ताः) वे [आपः] (नः) हमें (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों।

[समग्र सूक्त में आपःपद भिन्न-भिन्न प्रकार के आपः के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। हिरण्यवर्णाः आप हैं विराट् रूपी आपः (यजुः० ३१।५)। ये आपः हैं द्रवावस्था में, अतः इनका अतिरेचन अर्थात् विरेचन हुआ (अति अरिच्यत)(यजुः० ३१।५)। ये आपः दधकती अवस्था में थे (विराट् =वि+राजृ दीप्तौ) अतः चमकीले थे। अतिविरेचन से छींटे रूप में द्युलोक के दधकते नक्षत्र-तारागण पैदा हुए। ये भी हिरण्यवर्णाः हैं। ये शुचि हैं अतः पावक हैं। ये द्रवावस्था में थे। कालान्तर में ये घनीभूत हुए और इनसे सविता अर्थात् सूर्य पैदा हुआ, और अग्नि पैदा हुई। यह अग्नि है अन्तरिक्षस्थ मेघों में स्थित मेघीय विद्युत्। स्योना=स्योमिति सुखनाम (निघं० ३।६)। मनु ने विराडवस्था को आपः कहा है। प्रारम्भ में विराट् द्रवरूप था। उसमें प्रजापति ने काम अर्थात् कामनारूपी बीज का स्थापन किया, आधान किया।]

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥२॥

(यासाम् मध्ये) जिन आपः के मध्य में, (जनानाम्) जनों के (सत्यानृते अव पश्यन्) सत्य तथा अनृत व्यवहारों को देखता हुआ (राजा वरुणः) जगत् का राजा वरुण अर्थात् पापनिवारक परमेश्वर (याति) विचरता है। (याः) जिन (सुवर्णाः) उत्तम वर्णवाले आपः में (अग्निम्) अग्नि को (गर्भम् दधिरे) गर्भरूप में धारण किया है (ताः) वे आपः (नः) हमें (शम्) शान्तिप्रद तथा (स्योनाः) सुखदायक (भवन्तु) हों।

[आपः हैं हृदयस्थ आपः (अथर्व० १०।२।११)। परमेश्वर-वरुण इन आपः में विचर रहा है। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता)। इन आपः ने अग्निः नाम के परमेश्वर को गर्भरूप में धारण किया हुआ है। अग्नि दाहक है, परमेश्वर वरुण भी पापदाहक है। इसे दर्शाने के लिए वरुण को अग्निरूप कहा है। परमेश्वर का नाम अग्नि भी है (यजुः० ३२।१)।]

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥

(यासाम्) जिन आपः का (देवाः) दिव्य-तत्त्व (दिवि) द्युलोक में (भक्षम्) भक्षण (कृण्वन्ति) करते हैं, (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधाः) बहुत प्रकार के (भवन्ति) होते हैं। (याः अग्निम्) जो अग्नि को [शेष पूर्ववत्]।

[भक्षम्=वायु, सूर्य, चन्द्र आदि देव आपः का भक्षण करते हैं, वायु में आपः का निवास है, समुद्र में ज्वार-भाटा होते रहते हैं सूर्य और चन्द्र द्वारा आकर्षण से, यह देवों द्वारा आपः का भक्षण है। अन्तरिक्ष में आपः वर्षाऋतु में नानाकृतियों में होते रहते हैं, यह बहुधा द्वारा सूचित किया है।]

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४॥

(आपः) हे आपः! (मा) मुझे (शिवेन चक्षुषा) शिवकारी चक्षु द्वारा (पश्यत) देखो, (शिवया तन्वा) शिवकारी तनू द्वारा (मे) मेरी (त्वचम्) त्वचा का (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (घृतश्चुतः) घृतस्रावी (शुचयः) और शुचि, (याः) जो तुम (पावकाः) पवित्र करनेवाले हो, (ताः) वे तुम (आपः) आप (नः) हमें (शम्) शान्तिप्रद, (स्योनाः) सुखप्रद (भवन्तु) होओ।

मन्त्र में चक्षु आदि पदों द्वारा आपः को चेतनरूप में वर्णित किया है। यह शैली भी वैदिक वर्णनों में अपनाई गयी है, यथा "अचेतनान्यपि एवं स्तूयन्ते यथा अक्षप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि।" (निरुक्त ७।२।२७)।

अथवा

[आपः पद, व्यापी परमेश्वर का व्यापक है, आप्लृ व्याप्तौ स्वादिः] तथा "ता आपः, स प्रजापतिः" (यजुः० ३२।१)। परमेश्वर चेतन है। अतः उसके साथ "शिवेन चक्षुषा" का सम्बन्ध सार्थक हो सकता है। यथा "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः" (यजुः० ७।४२)। मित्र है सूर्य (मिदि स्नेहने चरादिः), सूर्य वर्षा द्वारा स्निग्ध करता है, वरुण है आवरण करनेवाला

वायु मण्डल, अग्नि है पार्थिव अग्नि। ये सब जड़ हैं। इन्हें परमेश्वर की शिवचक्षु मार्गप्रदर्शन करा रही है। वस्तुतः परमेश्वर ही सूर्य आदि का मार्गप्रदर्शन करा रहा है, जिससे ये नियम से निज पथों पर गतियां कर रहे हैं।

तन्वा व्याप्त्या (तनु विस्तारे, तनादिः)। परमेश्वररूपी आपः "घृतश्चुतः" हैं। प्रदीप्त सूर्य आदि को भी क्षरित कर देते हैं। च्युतिर् क्षरणे, (भ्वादिः)। क्षरण=विनाश। प्रलयकाल में परमेश्वर ही इन सबको विनष्ट करता है, प्रकृति में विलीन करता है। चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः "एवमपररूपेण स्तुत्वा पररूपेण स्तौति जगतः तस्थुषश्च आत्मा जङ्गमस्य स्थावरस्य च आत्मा अन्तर्यामी" (महीधर)। सूर्य अर्थात् आदित्य में भी स्थित हुआ परमेश्वर समग्र जगत् का नियन्त्रण कर रहा है। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म (यजुः० ४०।१७)।]

सूक्त ३४

(१-५)। अथर्वा। मधुकमणिः, वनस्पतिः। अनुष्टुप्।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥१॥

(इयम्) यह (वीरुत्) विरोहणशीला लता (मधुजाता) मधुवत् पैदा हुई है, (मधुना) मधुर विधि द्वारा (त्वा) तुझे (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोरधि) मधुर खण्ड से (प्रजाता असि) तू पैदा हुई है, (सा) वह तू (नः) हमें (मधुमतः) मधुर (कृधि) कर।

[यह लता है गन्ना[1]। गन्ना जैसे सर्वतोभावेन मधुर होता है वैसे व्यक्ति सर्वतोभावेन मधुर होने की अभिलाषा प्रकट करता है, मनसा, वाचा, कर्मणा वह मधुर होना चाहता है। गन्ना गन्ने के मधुर खण्ड अर्थात् टुकड़े से पैदा होता है। गन्ने को वीरुध् अर्थात् लता कहा है, जैसे लता लम्बी होती है वैसे गन्ना भी लम्बा होता है।]

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥२॥

(मे) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) मधु हो, (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल अर्थात् जड़ में (मधूलकम्) मधु को आदान

---

१. इक्षुणा (मन्त्र ५)।

करनेवाला मन हो । (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म में (इत्) अवश्य (असः) हे मधु ! तू हो, (मम) और मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू प्राप्त हो ।

[मधूलकम्=मधु+ला (आदाने, अदादिः)+कः (कृत्र् डः औणादिकः) । क्रतु कर्मनाम (निघं० २।१) । मन में तो मधु का विचार सदा रहे, और चित्त में उसका सम्यक् ज्ञान (चिती संज्ञाने, भ्वादिः) ।]

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥३॥

(मे) मेरा (निक्रमणम्) घर से निकलना (मधुमत्) मधुररूप हो, (मे) मेरा (परायणम्) दूरगमन या अन्यों को मिलना (मधुमत्) मधुररूप हो । (वाचा) वाणी द्वारा (मधुमत्) मधुर (वदामि) मैं बोलता हूँ । (मधुसंदृशः) मधु के सदृश सर्वतोभावेन मैं मधुर (भूयासम्) हो जाऊँ ।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥४॥

(मधोः) मधु की अपेक्षा से (मधुतरः) अधिक मधुवाला, (मदुघात्) मधु के दोहन करनेवाले मधुछत्ते से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर (अस्मि) मैं हो गया हूँ । (माम् इत्) मुझे अवश्य (त्वम्) तू हे मधु मधुररस ! (वनाः) प्राप्त हो (इव) जैसे कि तू (मधुमतीम् शाखाम्) मधुरशाखारूप इक्षु को प्राप्त हुआ है ।

[किल प्रसिद्धौ । मधुमती शाखा है इक्षु अर्थात् गन्ना (मन्त्र ५) मदुघात्=मधुदुघात्, धुलोपः छान्दसः, मधुस्राविणः पदार्थविशेषात् मधुमत्तरः अतिशयेन मधुमानस्मि (सायण) । मदुघात्=मधुदुहात् ।]

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥५॥

[हे जाया !] (परितत्नुना) परितत अर्थात् सब ओर फैले हुए (इक्षुणा) गन्ने के साथ (त्वा) तेरी मैंने (परि अगाम्) परिक्रमा की है (अविद्विषे) पारस्परिक विद्वेष मिटाने के लिये, तथा (यथा) जिस प्रकार कि (माम्) मेरी (कामिनी) कामनावाली (असः) तू हो जा, (यथा) जिस प्रकार कि (मत्) मुझसे (अपगाः) अपगत हो जानेवाली, मुझे त्यागकर चले जानेवाली (न असः) तू न हो ।

१. दुहः कप् घश्च (अष्टा० ३।२।७०), इति कप् तत्संयोगेन घत्वं च (सायण) ।

सूक्त भावना का उपसंहार

सूक्त के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पति-पत्नी में परस्पर कलह है । जिसमें पति कारण बना है, अतः पत्नी पति से रूठी हुई है । पति उसे स्वानुकूल करना चाहता है । इसलिये वह अपने-आपको मधुर-व्यवहारवाला बनाता है, और पत्नी को निश्चय कराता है कि मैं तेरे प्रति मधुर व्यवहार-वाला हो गया हूँ । एतदर्थ वह मधुररसवाले गन्ने के साथ, पत्नी की परिक्रमा करता है । परिक्रमा पूज्य व्यक्ति की की जाती है । इस द्वारा वह पत्नी को अपनी पूज्या मानता है । "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" (मनु), और दोनों में अनुकूलता पुनः हो जाती है ।

सूक्त ३५

(१-४) । अथर्वा । हिरण्यम्; इन्द्राग्नी उत विश्वेदेवाः ।
जगती; ४ अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुभ् ।

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥

(दाक्षायणाः) वृद्धि के निवासभूत आचार्यों ने, (सुमनस्यमानाः) सुप्रसन्न हुए, (शतानीकाय) सौ वर्षों तक के जीवन के लिये, (यद् हिरण्यम्) जो हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य को (आबध्नन्) बाँधा था [निज शरीरों में, उसे च्युत न होने दिया था] (तत्) उस वीर्य को (ते) तेरे शरीर में (बध्नामि) मैं बाँधता हूँ, स्थिर करता हूँ, (आयुषे) सुखी जीवन के लिए, (वर्चसे) तेज के लिये, (बलाय) शारीरिक बल के लिये, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवनकाल के लिये, (शतशारदाय) सौ वर्षों तक जीवन के लिए ।

[ब्रह्मचारी का आचार्य ब्रह्मचारी को वीर्य स्थिर रखने की विधि सिखाता है । दाक्षायणाः=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)+अयनाः । अनीकाय=अन प्राणने (अदादिः) । तथा "दक्षः बलनाम" (निघं० २।९) । दाक्षायणाः=दक्षिणायण+अण् (स्वार्थे) । आबध्नन्=इस द्वारा नित्य वैदिक प्रथा का कथन किया है, ब्रह्मचारी को इस प्रथा के सम्बन्ध में विश्वास दिलाने के लिए । मन्त्र (२) में इसका विशेष कथन हुआ है ।]

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

(न एनम्) न इसे (रक्षांसि) राक्षसी कर्म, (न पिशाचाः) न पैशाची कर्म (सहन्ते) पराभूत करते हैं, (हि) निश्चय से (एतत् ओजः) यह ओज

(प्रथमजम्) प्रथम आश्रम में पैदा होता है, (देवानाम्) और इन्द्रिय-देवों का है। (यः) जो (दाक्षायणम्) दक्ष अर्थात् वृद्धि और बल के अयन अर्थात् निवासभूत, (हिरण्यम्) हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य का (बिभर्त्ति) धारण-पोषण करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवितों में (आयुः) निज आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है।

[देवानाम्=नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् (यजुः० ४०।४)। देवा द्योतनात्मकाः चक्षुरादीनीन्द्रियाणि (महीधर)। राक्षसी कर्म हैं तामसिक, तमोगुण प्रधान और पैशाचीकर्म हैं राजसिक, रजोगुणप्रधान। "ओजः= शरीरधारको बलहेतुः अष्टमो धातुविशेषः। हिरण्यं रेतोरूपं तेजः" (सायण)। यतः हिरण्य है "रेतो-रूप ओज"।

अतः इसका "अबध्नन्" (मन्त्र १) रस्सी द्वारा सम्भव नहीं हो सकता, अपितु शरीर में ही बन्धन सम्भव है, अर्थात् च्युत न होने देना है, ऊर्ध्वरेताः होना रूपी बन्धन है।]

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या᳘णि।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरद्धिरण्यम् ॥३॥

["यह रेतोरूप ओज"] (अपां तेजः) रक्तरूपी आपः का तेज, ज्योति, ओज, और बल है, (उत) तथा (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के, (वीर्याणि) वीर्यों रूप है। (इव) जैसेकि (इन्द्रे अधि) जीवात्मा में (इन्द्रियाणि) इन्द्रशक्तियाँ धारित हैं वैसे (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में, हम आचार्य ऐन्द्रियिक बल या वीर्य (धारयामः) स्थापित करते हैं, (तत्) उस (हिरण्यम्) हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य को, (दक्षमाणः) वृद्धि और बल प्राप्त होता हुआ ब्रह्मचारी (बिभरत्) परिपुष्ट करे।

[शरीरस्थ वीर्य वनस्पतियों के खाने से पैदा होता है, अतः वानस्पत्य है, वनस्पतियों का परिणामरूप है। हिरण्य अर्थात् वीर्य "अपाम्" तेजः, ज्योतिः आदि रूप है। यह "आप" शरीरस्थ रक्तरूप हैं, जोकि विधिपूर्वक शरीर में स्थापित किये गये हैं। यथा, "को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अपाचीः पुरुषे तिरश्चीः।" (अथर्व० १०।२।११)। मन्त्र में सिन्धु है हृदय। व्याख्या यथा स्थान में देखो। सामान्य आपः में मन्त्रोक्त गुण नहीं होते।]

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥४॥

(समानाम्) चान्द्रवर्षों के (मासाम्) मासों सम्बन्धी (ऋतुभिः) ऋतुओं के [ज्ञान[1]] द्वारा (संवत्सरस्य) तथा सौरवर्ष के [मासों सम्बन्धी ऋतुओं के [ज्ञान[1]] द्वारा (वयम्) हम गुरुजन (त्वा) हे ब्रह्मचारिन्! तुझे पूरित करते हैं, (पृ पूरणे) तथा (पयसा) दुग्ध आदि सात्त्विक अन्न द्वारा (पिपर्मि) मैं आचार्य तुझे परिपालित करता हूँ। (इन्द्राग्नी) साम्राज्य का इन्द्र अर्थात् सम्राट्, तथा अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री तथा (विश्वेदेवाः) सब दिव्य अधिकारी (अहृणीयमानाः) रोष के बिना, (ते) तेरे लिये [हे ब्रह्मचारिन्!] (अनु मन्यन्ताम्) अनुमोदित करें, स्वीकृत करें।

[मन्त्र में वयम् द्वारा बहुवचन तथा पिपर्मि द्वारा एकवचन के कथन से पदान्वय क्लिष्ट हुआ है। अहृणीयमानाः=हृणीङ् रोषणे (कण्ड्वादिः)। गुरुकुलों की पाठविधि तथा भोजन की व्यवस्था केवल गुरुजनों तथा आचार्य के अधीन हो जाने से साम्राज्य के अधिकारियों में दोष होना सम्भावित है। इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८।३७)। पिपर्मि=पॄ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः)। ह्रस्वान्तोऽयमित्येके (जुहोत्यादिः)।]

सूक्त ३५ का सार

कौशिक सूत्रानुसार (५७।३१) उपनयनकर्मण्यपि आयुष्कामस्य ब्रह्मचारिणः आज्यहोमे विनियुक्तम् कहा है। उपनयन है समीप प्राप्त करना, उप (समीप)+नयन (णीञ् प्रापणे)। आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन कर उसे अपने समीप प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट कर लेता है। एतदनुसार ही सूक्तार्थ किया गया है। अतः सूक्त में "हिरण्य" का अर्थ है रेतः अर्थात् वीर्य, और "प्रथमजम् ओजः" का अर्थ है प्रथमाश्रम में पैदा हुआ ओज (मन्त्र २)। उपनयन और इसके उद्देश्य की व्याख्या (अथर्व० ११।७।३) में देखो।

प्रथम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ ॥

---

१. ज्ञान यथा "चान्द्र वर्ष=३५४ दिन का। चान्द्र मास है दर्श से दर्श तक २९½ दिन का। संवत्सर है पृथिवी का सूर्य-की-परिक्रमा का काल ३६५ दिनों का, और प्रति चतुर्थ वर्ष ३६६ दिनों का। ऋतुएँ हैं ६। इत्यादि ज्ञान ब्रह्मचारी को गुरुजन देते हैं। यह कालज्ञान है।

द्वितीय काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

(१-५)। वेनः। ब्रह्मात्मा। त्रिष्टुभ्।

वे॑नस्तत् प॑श्यत् प॒रमं॒ गुहा॒ यद् यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑रूपम्।
इ॒दं पृश्नि॑रदुहज्जाय॑मानाः स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत व्राः ॥१॥

(वेनः) कामनावाला उपासक (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है, साक्षात् करता है, (परमम्) जो ब्रह्म कि परश्रीरूप है, (यत् गुहा) जो हृदय-गुहा में विद्यमान है, (यत्र) जिसमें (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड (एकरूपम् भवति) एकरूप हो जाता है [प्रलय में]। (इदम्) इस ब्रह्म को (पृश्निः) व्याप्तवर्णवाले द्युलोक ने (अदुहत्) दोहा है, (जायमानाः) पैदा हुए, (स्वर्विदः) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान (व्राः) द्युलोक का आवरण किये हुए नक्षत्र-तारा-मण्डल (अभि) इसके अभिमुख होकर (अनूषत) मानो इसकी स्तुतियाँ कर रहे हैं।

[परमम्=पर+मा, लक्ष्मी या श्री। यथा "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" (यजु० ३१।२२)। पृश्निः=अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिभिः (निरुक्त० २।४।१४)। अदुहत्=मानो द्युलोक ने "इदं ब्रह्म" का दोहन कर दुग्धवत् शुभ्र नक्षत्र-तारामण्डलों को प्राप्त किया है।]

प्र तद् वो॑चेद॒मृत॑स्य वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॑ प॒रमं॒ गुहा॒ यत्।
त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुष्पि॒तास॑त् ॥२॥

(गन्धर्वः) गौ अर्थात् वेदवाणी को धारण करनेवाला, (अमृतस्य विद्वान्) अविनाशी ब्रह्म को जाननेवाला, (तत्) उस ब्रह्म का (प्रवोचेद्) प्रवचन करता है, (परमम् धाम) जो ब्रह्म कि परमधाम है, अन्तिम प्राप्य स्थान है, (यत्) जो (गुहा) हृदयगुहा में है। (अस्य) इस ब्रह्म के (त्रीणि पदानि) तीन पाद (गुहा निहिता=निहितानि) हृदय-गुहा में निहित हैं। (यः) जो उपासक (तानि वेद) उन पादों को जानता है (सः) वह (पितुः पिता) पितामह के सदृश (असत्) पूजनीय है या हो जाता है।

[गन्धर्वः=गाम् वेदवाणीं(निघं० १।११)धारयतीति। त्रीणि पदानि

(यजुः० ३१।३, ४)। जो इन तीन पादों का भी प्रवचन कर सकता है वह पितामह के सदृश पूजनीय होता है। ये तीन पाद भी उसकी हृदयगुहा में निहित होते हैं, अतः उसे प्रत्यक्ष होते हैं।]

स नः॑ पि॒ता ज॑नि॒ता स उ॒त बन्धु॒र्धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यो दे॒वानां॑ नाम॒ध एक॑ ए॒व तं सं॑प्र॒श्नं भुव॑ना यन्ति॒ सर्वा॑ ॥३॥

(सः) वह (नः) हमारा (पिता) रक्षक है, (जनिता) जन्मदाता है, (उत) तथा (सः) वह (बन्धुः) बन्धु है। (धामानि) सब नामों, स्थानों और जन्मों को, (विश्वा भुवनानि) और सब भुवनों को (वेद) जानता है। (यः) जो (देवानाम्) देवों के (नामधः) नामों को धारण करता है (एक एव) परन्तु है एक ही। (तम् संप्रश्नम्) जिसके विज्ञान के लिए सम्यक्-प्रश्न करने होते हैं उसे (सर्वा भुवना) सब भुवन (यन्ति) प्राप्त हैं। या प्रलयकाल में उसमें लीन हो जाते हैं।

[नामधः=अग्नि आदि नामों को धारण करता है, यथा (यजुः० ३२।१)। धामानि=त्रयाणि भवन्ति नामानि, स्थानानि जन्मानि (निरुक्त० ९।२८)।]

परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्य आ॑य॒मुपा॑तिष्ठे प्रथम॒जामृ॒तस्य॑।
वाच॑मिव व॒क्तरि॑ भुवने॒ष्ठा धा॒स्युरे॒ष न॒न्वे॒३॑षो अ॒ग्निः ॥४॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक की (परि) परिक्रमा [मानसिक] करके (सद्यः) शीघ्र (आयम्) मैं आया हूँ, (ऋतस्य) सत्य के (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पादक परमेश्वर का (उपातिष्ठे) मैंने उपस्थान किया है, उसकी उपासना की है। (वक्तरि) वक्ता में स्थित (वाचम् इव) वाणी को जैसे मनुष्य जान लेता है, वैसे मुझमें स्थित परमेश्वर को मैंने जान लिया है, (भुवनेष्ठाः) वह भुवन, अर्थात् उत्पन्न ब्रह्माण्ड में स्थित है, अतः मुझमें भी स्थित है। (एषः) यह परमेश्वर (ननु) निश्चय से (अग्निः) सर्वाग्रणी है। (धास्युः) वह सबके धारण-पोषण को चाहता है। धा+असुन्+क्यच्।

[अभिप्राय यह कि व्यक्ति कहता है कि मैंने द्युलोक और पृथिवी-लोक की मानसिक परिक्रमा कर शीघ्र जान लिया है कि वस्तुतः सारतत्त्व, जगत् में एक ईश्वर ही है, अतः मैंने ईश्वर की ही उपासना की है। परमेश्वर मुझ में भी स्थित है, अतः मुझमें वह प्राप्त है। अतः इसकी उपासना के लिए मुझे अन्यत्र मन्दिर आदि में जाना नहीं होता, और न किसी अन्य देव की उपासना करनी पड़ती है, यतः परमेश्वर ही सर्वाग्रणी है।]

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥५॥

(विश्वा भुवनानि) सब भुवनों की (परि) परिक्रमा करके (आयम्) मैं आया हूँ, (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (कम् तन्तुम्) सुखस्वरूप तान्ते का (दृशे) दर्शन करने के लिए। (अमृतम् आनशानाः) अमृत-परमेश्वर को प्राप्त (देवाः) देव (यत्र) जिस (समाने) एक (योनौ अधि) जगद्-योनि में (ऐरयन्त) गति करते हैं, विचरते हैं।

[आनशानाः=अशूङ् व्याप्तौ, लिटि कानच् (सायण)। ऐरयन्त=ईर गतौ (अदादिः)।]

सूक्त २

(१-५)। मातृनामा। गन्धर्वाः, अप्सरसः। त्रिष्टुप्; १ विराड् जगती; ४ त्रिपदा विराण्नामा गायत्री; ५ भुरिगनुष्टुप्।

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥१॥

(दिव्यः) द्युलोक में विद्यमान, (गन्धर्वः) पृथिवी का धारण करने वाला, (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (यः पति) जो स्वामी है, (एकः एव) वह एक ही (विक्षु नमस्यः) प्रजाओं में नमस्कारयोग्य और (ईड्यः) स्तुति-योग्य है। (दिव्यम् देवम्) दिव्यदेव (तम्, त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (यौमि) मैं अपने साथ संयुक्त करता हूँ। (नमस्ते अस्तु) तुझे नमस्कार हो। (दिवि ते सधस्थम्) द्युलोक में तेरा साथ बैठने का स्थान है, सहवास है।

[गन्धर्वः=गाम् पृथिवीं धारयतीति (निघं० १।१)। यौमि=यु मिश्रणे (अदादिः), मिश्रित करना अर्थात् सम्बद्ध करना। द्युलोक में सूर्य, तारागण का भी वास है और परमेश्वर का भी वास है। द्युलोक परमेश्वर की ज्योति द्वारा भासमान हो रहा है। देखने पर पृथिवी से भिन्न द्युलोक ही प्रतीत होता है, जोकि पृथिवी पर छत रूप में छाया हुआ है। अतः इसे परमेश्वर का स्थान कहा है।]

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२॥

(दिवि) द्युलोक में स्पर्श किया हुआ, (यजतः) यजनीय, (सूर्यत्वक्) त्वचारूप में सूर्य का रक्षक, (दैव्यस्य हरसः) ऐन्द्रियिक कोपों का (अवयाता) पृथक् करनेवाला, (गन्धर्वः) पृथिवी का धारण करनेवाला परमेश्वर (मृडात्) हमें सुखी करे। (यः भुवनस्य पतिः) जो उत्पन्न जगत् का पति है, वह (एक एव) एक ही (नमस्यः) नमस्कारयोग्य है, (सुशेवाः) और उत्तम सुखप्रदाता है।

[द्युलोक में परमेश्वर के स्पर्शमात्र से नक्षत्र-तारागण भासमान हो रहे हैं। जैसे अस्मदादि के शरीरों की रक्षा त्वचा द्वारा हो रही है, वैसे सूर्य की रक्षा परमेश्वररूपी त्वचा द्वारा हो रही है। देवाः हैं इन्द्रियाँ। ये विषयों में लिप्त हुई निज क्रोधों को प्रकट करती हैं। इनके क्रोधों को परमेश्वर ही शान्त करता है। यथा "ब्रह्मोडुपेन प्रतरेद् विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" (श्वेता० उप० २।८)। ब्रह्मोडुप=ब्रह्मरूपी नौका। स्रोतांसि=इन्द्रियस्रोतांसि। ये स्रोत विषयसमुद्र में मनुष्य को बहा ले जाते हैं, अतः भयानक हैं। हरः क्रोधनाम (निघं० २।१३)। सुशेवाः=सु+शेव्+असुन्। शेवम् सुखनाम (निघं० ३।६)। तथा "शेव इति सुखनाम शिष्यतेः वकारो नामकरणः, विभाषितगुणः" (निरुक्त १०।२।१७)। शिष्लृ विशेषणे (रुधादिः)। सुशेवाः=सु+शेवृ सेवने (भ्वादिः), अनायासेन सेव्यः, शेवृ इति तालव्यादिः पठ्यते (सायण)।]

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

(अनवद्याभिः) अनिन्दनीय अर्थात् प्रशस्त (आभिः) इन अप्सराओं के साथ (गन्धर्वः) गौओं अर्थात् पृथिवी आदि का धारण करनेवाला सूर्य, (सम्, उ, जग्मे) संगत अर्थात् सम्बद्ध हुआ, (अप्सरासु अपि) अप्सराओं में भी (गन्धर्वः आसीत्) गन्धर्व की सत्ता थी। (आसाम्) इन अप्सराओं का (सदनम्) घर (समुद्रम्) समुद्र है, यह वेदवेत्ता (मे आहुः) मुझे कहते हैं, (यतः) जहाँ से (सद्यः) शीघ्र (आ च यन्ति) ये आती हैं, (परा च यन्ति) और पराङ्मुख होकर चली जाती हैं।

[गन्धर्व है सूर्य और अप्सराएँ हैं सूर्यरश्मियाँ। ये अप्सराएँ रूपवाली हैं। रश्मियों का सम्बन्ध रूप के साथ है। ये स्वयं रूपवाली हैं, और पदार्थों को भी रूपवान् करती हैं। इनका सदन है समुद्र अर्थात् सूर्य या द्युलोक, जहाँ से कुछ क्षणों में ही ये पृथिवी पर आ जाती हैं और अस्तकाल में वापिस चली जाती हैं। इन रश्मियों में भी सूर्य की ही सत्ता है, सूर्य द्वारा ही ये चमकती हैं। अप्सरसः=अप्स इति रूपनाम, तद् राः भवन्ति (निरुक्त ५।१३)।]

अभ्रियें दिद्युन्नक्षंत्रियें या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यों वो देवीर्नम् इत् कृणोमि ॥४॥

(अभ्रिये) मेघस्थ (दिद्युत्) हे द्युतिमति ! विद्युत् ! (नक्षत्रिये) नक्षत्रस्थ, हे द्युतिमति ! विद्युत् ! (याः) जो (विश्वावसुम्) समग्र वसुओं के स्वामी सूर्य के साथ (सचध्वे) तुम संगत हुई हो। (ताभ्यः देवीः वः) उन दिव्यगुणोंवाली तुम्हारे लिए (नमः इत् कृणोमि) अन्नाहुतियाँ प्रदान करता हूँ।

[मेघस्थ तथा द्युलोकस्थ चमक विद्युत्‌रूपा है। नमः=हविर्लक्षणम् अन्नम् (सायण)। नमः अन्ननाम (निघं० २।७)। विश्वावसुम्=पार्थिव तथा अन्य ग्रहों के वसुओं अर्थात् सम्पत्तियों का स्वामी सूर्य है। सूर्य से विभक्त पृथिवी आदि ग्रह हैं[1]]

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यों गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥५॥

(याः) जो (क्लन्दाः) ग्लानिप्रद[1] हैं, (तमिषीचयः[2]) तमस् अर्थात् अन्धकार में चयन होने अर्थात् बहनेवाली, (अक्षकामाः) इन्द्रियों के विनाश करने की कामनावाली हैं, (मनोमुहः) मन का मोहन अर्थात् वैचित्य करनेवाली हैं, (ताभ्यः गन्धर्वपत्नीभ्यः) उन गन्धर्वपत्नियों (अप्सराभ्यः) अप्सराओं के लिए (नमः) अन्नाहुतियाँ (अकरम्) मैंने की हैं, प्रदत्त की हैं।

[अक्षकामाः=अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि नाशयितुं कामयमानाः (सायण)। नमः=हविर्लक्षणम्, अन्नम् (सायण)। गन्धर्व है चन्द्रमा, जोकि सौर-रश्मियों को धारण करता है, और गन्धर्वपत्नियाँ हैं चान्द्रप्रभाएँ। यथा "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु:० १८।४०) तथा निरुक्त[3] (२।२।६)। मन का मोहन है वैचित्य, अर्थात् चितिशून्यता, ज्ञान से रहित होना। रात्रीकाल में मन ज्ञानरहित हो जाता है और मनुष्य सो जाते हैं। क्लन्दाः=चान्द्रप्रभाएँ रात्री में ग्लानि अर्थात् हर्षक्षय कर देती हैं, दिन में अनुभूयमान हर्ष का क्षय कर देती हैं "ग्लै हर्षक्षये" (भ्वादिः)। मन्त्र में रात्रीकाल का वर्णन हुआ है। मन्त्र ४ में दिनकाल का वर्णन हुआ है। दोनों कालों के प्रारम्भ में अग्निहोत्र में आहुतियों के प्रदान का कथन किया

१. क्लमु (ग्लानौ, दिवादिः) + दाः।
२. तमिषी=तमसि (वर्णव्यत्यय, वर्णविकार हैं,) छान्दस।
३. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ (ऋ० १।८४।१५)।

है। चन्द्रमा की प्रभाएँ अप्सराएँ हैं, यतः ये रूपवाली हैं, "अप्सः" इति रूपनाम, "मन्त्र ३ की व्याख्या"।]

सूक्त ३

(१-६)। अङ्गिराः। भैषज्यम्। अनुष्टुभ्; ६ त्रिपदा स्वराडुपरिष्टान्महाबृहती।

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥१॥

(पर्वतात् अधि) मेघ से (अदः यत्) वह जो (अवत्कम्) रक्षा करने वाला [उदक] (अवधावति) नीचे की ओर दौड़कर आता है, (तत्) उसे (ते) तेरे लिए (भेषजम्) औषधरूप (कृणोमि) मैं करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि [हे भेषज !] (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असति) तू है।

[पर्वतः मेघनाम (निघं० १।१०)। अवत्कम्=अवतम् अवनम् करोतीति। मन्त्र में मेघ से बरसे उदक का कथन हुआ है। मेघ से बरसा उदक शुद्ध होता है। शुद्ध जल द्वारा जलचिकित्सा अभिप्रेत है।]

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥२॥

(अङ्ग) हे उदक औषध ! (आत्) इस तुझ उदक औषध के पश्चात् (ते) तेरे सजातीय (कुवित्) बहुत अर्थात् (शतम्) सैकड़ों (या=यानि) जो (भेषजानि) औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू हे उदक ! (उत्तमम्) सर्वोत्तम (असि) है, (अनास्रावम्) आस्राव को हटानेवाला (अरोगणम्) और रोगनिवर्तक। आस्राव=फोके से पीप का बहना, अतीसार और अतिमूत्र।

[आस्राव है पके फोड़े की पीप को स्रवित कर ठीक कर देना। तथा अनास्राव है अतीसार और अतिमूत्र रोग का निवर्तन करना। कुवित्= बहुनाम (निघं० ३।१)।]

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥३॥

(असुराः) प्राणप्रदाता या प्राणशक्तिसम्पन्न खनक, (इदम् महत्) इस महान् (अरुस्राणम्) घाव को बहा देनेवाले [उदक को प्राप्ति के लिए] (नीचैः) नीचे की ओर (खनन्ति) भूमि को खोदते हैं। (तत्) वह उदक

(आस्रावस्य) आस्राव का (भेषजम्) औषध है, (तत् उ) वह निश्चय से (रोगम्, अनीनशत्) रोग को नष्ट कर देता है ।

[मन्त्र में कूपखनन का वर्णन है, महौषध उदक की प्राप्ति के लिए । नीचैः=इसीलिए कूप को "अवतः" कहते हैं (निघं० ३।२३) । अवतः= अव (नीचे की ओर)+तः ("ततः" ताना हुआ, विस्तृत हुआ, फैला हुआ), तनु विस्तारे (तनादिः) । असुराः=असुः प्राणः,[1] तद्-वन्तः; रः मत्वर्थीयः) ।]

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥४॥

(उपजीकाः) दीमकें (समुद्रात् अधि) समुद्र से (भेषजम्) औषध को (उद् भरन्ति) उद्धृत करती हैं, ऊपर की ओर लाती हैं । (तत्) वह (आस्रावस्य) आस्राव की (भेषजम्) औषध है, (तत् उ) वह निश्चय से (रोगम्, अशीशमत्) रोग को शान्त कर देती है ।

[दीमकों का सामुद्रिक जल में निवास अनुपपन्न है । अतः समुद्रात् का अभिप्राय है "समुद्रतटात्" । जैसेकि "गङ्गायां घोषाः" वाक्य में घोष-जाति के मनुष्यों का निवास प्रवाहित-गङ्गा में अनुपपन्न है, अतः गङ्गायाम् का अभिप्राय है "गङ्गा-तटे" । समुद्र-तट पर दीमकें वल्मीक को पैदा कर सकती हैं, जिसेकि Ant-Hill कहते हैं । वल्मीक यतः समुद्र के तट पर है, इसलिए इसके निर्माण में सामुद्रिक लवण का भी मिश्रण हो जाता है । लवणमिश्रित वल्मीक की मिट्टी आस्राव के शामन में विशेषोपकारी है, यह अभिप्राय है । सामुद्रिक तट पर निर्मित वल्मीक में सामुद्रिक जल सिमसिम कर निज लवण को वल्मीक में मिश्रित कर देता है । इसलिये सामुद्रिक वल्मीक में विशेष गुणाधान हो जाता है ।]

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥५॥

(पृथिव्याः अधि) पृथिवी से (उद्भृतम्) उद्धृत [वल्मीक], (इदम्) यह (महत्) बड़ा (अरुस्राणम्) घावस्रावी है । (तद्) वह (आस्रावस्य भेषजम्) आस्राव का औषध है, (तद् उ) वह [भी] निश्चय से (रोगम् अनीनशत्) रोग को नष्ट कर देता है ।

[मन्त्र (४) में समुद्रोत्थित वल्मीक का वर्णन हुआ है, और मन्त्र (५) में असामुद्रिक वल्मीक का वर्णन हुआ है । दोनों ही आस्राव के औषध

१. अनवत्त्वम् (निरुक्त १०।३।२४), अन प्राणने (अदादिः) । उपजीका अर्थात् दीमकें प्राणवान् हैं, यतः ये काष्ठ को भी खाकर, उसे मिट्टी में परिवर्तित कर देती हैं ।

हैं । आस्राव है मुखपरिपाक का पीप, अतीसार, तथा अतिमूत्र । अतिमूत्र है बार-बार मूत्रण, तथा Diabetes । दस्तों का आना भी सम्भवतः आस्राव है ।]

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः
पतन्तु रक्षसाम् ॥६॥

(अपः=आपः) जलरूप (ओषधयः) ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (शिवाः) कल्याणकारी, तथा (शम्) रोगशामक हों । (इन्द्रस्य वज्रः) मेघस्थ विद्युत् का वज्र (रक्षसः) रोगरूपी राक्षस का (अपहन्तु) अपहनन करे, (रक्षसाम्) रोगकीटाणुओं के (विसृष्टाः) प्रयुक्त (इषवः) रोगरूपी इषु (आराद्) हमसे दूर (पतन्तु) गिरें, हम पर प्रहार न करें ।

[इन्द्रस्य वज्रः=मेघस्थ विद्युत् । अतः अपः=आपः को ओषधियाँ कहा है । आपः स्त्रीलिङ्गी बहुवचनान्त है ओषधयः भी स्त्रीलिङ्गी बहु-वचनान्त है । आपः को सर्वौषध कहने के अभिप्राय से मन्त्र में आपः का पुनः कथन हुआ है (मन्त्र १) ।]

सूक्त ४

(१-६) । अथर्वा । चन्द्रमाः, जङ्गिडः । अनुष्टुभ्;
१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः ।

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥१॥

(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये, (महते रणाय) महा-रमणीय कर्म के लिए, अथवा महायुद्ध के लिए, (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए, (सदा एव दक्षमाणाः) सदा ही वृद्धि को प्राप्त हुए (वयम्) हम, (मणिम्) रत्नरूप, (विष्कन्धदूषणम्) शरीरशोषणरूपी दोष का निवारण करनेवाले जङ्गिड को (बिभृमः) विशेषरूप में धारण करते हैं ।

[दीर्घायुत्वाय=दीर्घ+इण्+उण् प्रत्यय (सायण) । रणाय=रमु क्रीडायाम्, (भ्वादिः) अथवा रण=युद्ध । अरिष्यन्तः=अ+रिष हिंसायाम् (भ्वादिः) । दक्षमाणाः=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः) । विष्कन्ध=वि+स्कन्दिर्=विशेषशोषणे (भ्वादिः) । जङ्गिडम् (अथर्व० १९।३४।१-४; १९।३५।१ आदि) । रणाय=रोगों के जीवकीटाणुओं के साथ महायुद्ध (मन्त्र २, ३, ४) ।]

जङ्गिडो जम्भाद् विंशराद् विष्कन्धाद् अभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परिणः पातु विश्वतः ॥२॥

(सहस्रवीर्यः) अपरिमित शक्तिवाला, (मणिः) रत्नरूप, (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (जम्भात्) जम्भाई से या हनुओं के जकड़न से, (विशरात्) शारीरिक हिंसा से, (विष्कन्धात्) शरीर के शोषण से, (अभिशोचनात्) मानसिक शोक से, (विश्वतः) तथा सब प्रकार के रोगों से (नः) हमारी (परिपातु) पूर्णतया रक्षा करे।

[जङ्गिड सहस्रवीर्य है, अतः नाना रोगों से रक्षा कर सकता है। जम्भसम्बन्धी रोग यथा "हनुग्रह" (पैप्पलाद ११।२।१०), तथा "संहनुः" (अथर्व० ५।२८।१३; ८।१।१६)।]

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥३॥

(अयम्) यह (विष्कन्धम्) शोषण रोग को (सहते) पराभूत करता है, (अयम्) यह (अत्त्रिणः) भक्षक रोगकीटाणुओं [germs] का (बाधते) वध करता है। (अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषधरूप (जङ्गिडः) जङ्गिड (नः) हमें (अंहसः पातु) पाप से सुरक्षित करे। [विश्वभेषजः=सहस्रवीर्यः (मन्त्र २)। अत्त्रिणः=अद् भक्षणे (अदादिः)+त्रिनिप्रत्ययः (सायण)।

[अत्त्रिणः=त्रिप् (उणा० ४।६८)। त्रिनिच्, त्रिप् च (दशपादी उणा०)।]

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥४॥

(देवैः) दिव्य [वैद्यों] द्वारा (दत्तेन) दिये, (मणिना) रत्नरूप, (मयोभुवा) सुखोत्पादक (जङ्गिडेन) जङ्गिड द्वारा, (व्यायामे) प्रयत्न करने पर, (विष्कन्धम्) शोषक रोग को, (सर्वा रक्षांसि) तथा सब राक्षसों को (सहामहे) हम पराभूत करते हैं।

[देवैः=दिव्यगुणी, (सम्भवतः वैद्य, जोकि जङ्गिड के गुणों को जानते हैं) व्यायामे=शरीर के अङ्गों का आयाम अर्थात् विस्तार, तथा (वि) तद्-विरुद्ध संकोच करना (सम्भवतः व्यायाम करने पर), व्यायाम द्वारा शरीर तथा स्वस्थ शक्तिसम्पन्न होता है। रक्षांसि=अत्त्रिणः (मन्त्र ३)।]

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥

(शणश्च जङ्गिडश्च) शण और जङ्गिड (मा) मुझे (विष्कन्धात्) शोषक रोग से (अभि) साक्षात् (रक्षताम्) रक्षित करें। (अन्यः) एक शण (अरण्यात्) अरण्य से (आभृतः) आहृत हुआ है, लाया गया है, (अन्यः) तथा उससे भिन्न जङ्गिड (कृष्याः) कृष्युत्पन्न पौधों के रसों से।

[रस पौधों से उत्पन्न होते हैं। रसेभ्यः में बहुवचन द्वारा सूचित होता है कि कृष्युत्पादित पौधों के पत्तों, शाखाओं, और जड़ों से जङ्गिड रस एकत्रित किया जाता है। शण भी औषध है।]

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान जङ्गिडः प ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

(कृत्यादूषिः) छेदनक्रिया का निवारण करनेवाला (अयम्) यह [जङ्गिड] (मणिः) रत्न है, (अथो) तथा (अरातिदूषिः) शत्रुरूप [रोग] कीटाणुओं का निवारण करनेवाला है। (अथो) तथा (सहस्वान्) बलवान् (जङ्गिडः) जङ्गिड (नः आयूंषि) हमारी आयुओं को (प्र तारिषत्) प्रवृद्ध करे।

[सहस्वान्=सहः बलनाम (निघं० २।६)। प्र तारिषत्=प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः (सायण)। अथवा हमारी आयुओं को रोगनद से तैराए, पार करे। तॄ प्लवनसंतरणयोः (भ्वादिः)। कृत्या=कृती छेदने (तुदादिः)।]

सूक्त ५

(१-७)। भृगुः अथर्वा। इन्द्रः। त्रिष्टुभः, १, २ उपरिष्टाद् बृहती; (१ निचृत्, २ विराज्), ३ विराट् पथ्या बृहती; ४ जगती पुरोविराज्।

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥१॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (जुषस्व) तू सेवन कर, (प्रवह) प्रवाहरूप में प्राप्त हो, (आ याहि) आ (हरिभ्याम्) हरण करनेवाले दो अश्वों के द्वारा, (शूर) हे शौर्ययुक्त! (इह) इस पृथिवी पर (मतेः) मननीय (सुतस्य) अभिषुत (मधोः) मधुर जल का (पिब) पान कर, (चकानः) और तृप्त हुआ (मदाय) हमारी प्रसन्नता के लिए (चारुः) रुचिकर हो।

[मन्त्र में कविता के शब्दों में सूर्य का वर्णन हुआ है। जुषस्व द्वारा मधुर जल का सेवन अभिप्रेत है। मधु उदकनाम (निघं० १।१२)। सूर्य

रश्म्यग्रों द्वारा सामुद्रिक जल का पान करता है। यद्यपि सामुद्रिक जल नमकीन होता है, मधुर नहीं, परन्तु सूर्य की तीव्र रश्मियों के द्वारा अभिषुत हुए जल का सूर्य पान करता है, जोकि नमकीन नहीं होता। रश्मियों के अग्रभागों को मुख कहा है, जिन द्वारा सूर्य जलपान करता है। चकानः= चक तृप्तौ (भ्वादिः)+शानच्। तृप्ति का अभिप्राय है जल का प्रभूत पान कर तृप्ति। वर्षा ऋतु में जल का प्रभूत पान करना होता है।]

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (मधोः) मधुर जल के [प्रभूतांश द्वारा] (जठरम् पृणस्व) निज पेट को पूरित कर ले, (नव्यः न) जैसेकि नवीनोदित चन्द्रमा करता है, (दिवो न) तथा जैसे द्युलोक के जठर को, (स्वः न) जैसे अन्तरिक्ष को तू पूरित करता है। (अस्य सुतस्य) इस अभिषुत जल सम्बन्धी (मदाः सुवाचः) हर्ष भरी उत्तम वाणियाँ (त्वा अगुः) तुझे तेरी प्रशंसा के लिये प्राप्त हों या प्राप्त हुई हैं।

[नव्यः=चन्द्रमा अमावस्या के पश्चात् नवोदित होता है। अमावस्या की रात्रि में सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ वास करते हैं। अतः इनमें सामुद्रिक जल के आकर्षण करने की शक्ति बढ़ जाती है, समुद्र में उच्चोच्च लहरें चन्द्रमा की ओर उठती हैं। यह है नवोदित चन्द्रमा की जठरपूर्ति। वर्षाऋतु में द्युलोक तथा अन्तरिक्ष भी जल द्वारा पूरित हो जाते हैं। तथा मनुष्यों से प्रसन्नताभरी वाणियाँ उच्चारित होती हैं। सुतस्य=अभिषुतस्य (सायण)। अभिषवः=Distillation, अर्क निकालना, सूर्य का समुद्र से विशुद्ध जल लेना, अपनी रश्मियों द्वारा यह विशुद्ध जल अर्करूप है।]

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥३॥

(यः) जो (तुराषाट्) त्वरया अर्थात् शीघ्रता से [मेघ का] पराभव करता, (मित्रः) [वर्षा द्वारा] स्निग्ध करनेवाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य (वृत्रम्) आवरणकारी मेघ का (जघान) हनन करता है, (न) जैसेकि (यतीः) प्रयत्नशील अर्थात् शीघ्रप्रवाहिनी नदियाँ (वलम्) आवरणकारी तट-द्वय का हनन करती हैं, तथा जो इन्द्र (भृगुः न) भर्जन करनेवाले प्रतप्त सूर्य के सदृश (वृत्रम्) आवरणकारी मेघ का (बिभेद) भेदन करता है, वह

सूर्य (सोमस्य मदे) जल के पान के मद में (शत्रून्) अन्धकार और शैत्य आदि शत्रुओं का (ससहे) पराभव करता है। सोमस्य; सोम=water=जल (आप्टे)।

[वृत्रम्=तत्को वृत्रः, मेघ इति नैरुक्ताः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति (निरुक्त २।५।१६)। वलम्=वरम्, वृञ् वरणे (क्र्यादिः; रलयोरभेदः)]

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥४॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (त्वा) तुझमें (सुतासः) अभिषुत जल (आ विशन्तु) आ प्रविष्ट हों। (कुक्षी पृणस्व) दोनों कोखों को (पृणस्व) पूरित कर ले, भर ले, (विड्ढि) और बढ़। (शक्र) हे शक्तिशालिन्! (धिया) निजकर्म के साथ (नः) हमारी ओर (आ इहि) आ। (हवम्, श्रुधि) मेरे आह्वान को सुन। (मे गिरः जुषस्व) मेरी वाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर (इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगियों के साथ (इह) इस पृथिवी में (मत्स्व) हर्ष को प्राप्त हो, (महे रणाय) मेघ के साथ महायुद्ध के लिए।

[मन्त्र में कविता के शब्दों में वर्णन हुआ है। "श्रुधि हवम्" और "गिरः जुषस्व", तथा "कुक्षी" और "मत्स्व" द्वारा इन्द्र चेतन है, और अन्य वर्णनों द्वारा दृश्यमान सूर्यरूप में अचेतन भी प्रतीत होता है। निरुक्त में कहा है कि "अचेतनेष्वपि चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि" (७।२।६)। जुषस्व=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)। कुक्षी=सूर्य की दो कुक्षी हैं उत्तरायण तथा दक्षिणायन; दोनों अयनों में सूर्य अभिषुत जल को कुक्षियों में भरता रहता है। मत्स्व=मदी हर्षे (सायण)। स्वयुग्भिः=इन्द्र के सहयोगी अर्थात् साथी हैं, अन्तरिक्षवायु तथा आदित्यरश्मियाँ। अभिषुत जल है रश्मियों के ताप द्वारा वाष्पीभूत सामुद्रिक जल। यह वायुरूपी सीढ़ी द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचता है।]

विशेष

दो कुक्षियाँ वस्तुतः जुगाली करनेवाले पशुओं में होती हैं। कुक्षि है उदर, पेट। पशु जब घास को चर्वित करते हैं, चबाते हैं, तो वह अर्ध-चर्वित घास पहिले एक कुक्षि में जाता है, जिसे हम "जग्धाशय" कह सकते हैं। जुगाली करते समय वह अर्ध-चर्वित घास शनैः-शनैः पाकाशय में पहुँचता रहता है। जग्धाशय को कुक्षि इसलिए कहते हैं कि अर्ध-चर्वित घास कुत्सित

अवस्था में वहाँ पहुँचता है। कु=कुत्सितरूप में+क्षि=क्षीण हुआ, घास प्रथम जग्धाशय में पहुँचता है, तत्साम्यात् पाकाशय को भी कुक्षि कहते हैं। परन्तु इन्द्र के सम्बन्ध में जो दो कुक्षियाँ हैं, उनका स्पष्टीकरण भी कर दिया है।

इन्द्रस्य नु प्रावोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥५॥

(इन्द्रस्य) इन्द्र अर्थात् सूर्य के (नु) निश्चय से (वीर्याणि) वीरकर्मों का (प्रावोचम्) मैंने कथन किया है, या कथन करता हूँ, (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रख्यातकर्मों को (वज्री) वज्रधारी ने (चकार) किया है। (अहिम्) मेघ का (अहन्) हनन किया है, (अनु) तत्पश्चात् (अपः) जल को (ततर्द) काटा है, और (पर्वतानाम्) मेघों सम्बन्धी या पर्वतों सम्बन्धी (वक्षणाः) नदियों को (अभिनत्) विदारित किया है।

[प्रथमानि=प्रथ प्रख्याने (भ्वादिः)। वक्षणाः नदीनाम (निघं० १।१३)। पर्वतः मेघनाम (निघं० १।१०)। अहिम्=अहिः अयनात् एति अन्तरिक्षे (निरुक्त २।५।१७)।]

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६॥

(पर्वते) पर्वत अर्थात् मेघ में (शिश्रियाणम्) आश्रय पाए हुए (अहिम्) मेघ की (अहन्) इन्द्र ने हत्या की। (त्वष्टा) प्रदीप्त विद्युत् ने या वायु ने (अस्मै) इस इन्द्र के लिए (स्वर्यम्) उपतापकारी तथा शब्दायमान (वज्रम्) वज्र को (ततक्ष) घड़ा, निर्मित किया। (वाश्राः) शब्द करती हुईं (धेनवः इव) दुधार गौओं के सदृश, (स्यन्दमानाः) प्रवाहित होती हुईं, (अञ्जः) तथा शब्दायमान (आपः) नदियों के जल (समुद्रम्) समुद्र की ओर (अवजग्मुः) गतिमान् हुए।

[त्वष्टा=त्विषेर्वा स्यात् दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरुक्त ८।२।१३)। त्वष्टा अन्तरिक्षस्थानी है, अतः विद्युत् है, या वायु। अहिः=मेघः (मन्त्र ५)। स्वर्यम्=स्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वादिः)। मेघगर्जना में शब्द भी होता है और प्रतप्त विद्युत् भी चमकती है। प्रतप्त विद्युत् प्रपात वज्र है। धेनवः=धेट् पाने (भ्वादिः)। गौएँ दूध पिलाने के लिए हम्भा-रव करती हुईं बछड़े की ओर जाती हैं। अञ्जः=अजि शब्दार्थः (चुरादिः)। अव=अवस्तात्, नीचे की ओर। नदी-जल समुद्र की ओर गति करते हैं, यतः उनका मार्ग क्रमशः समुद्र की ओर झुकता हुआ होता है।]

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥७॥

(वृषायमाणः) वर्षा करनेवाले के सदृश आचरण करते हुए इन्द्र ने (सोमम्) जल को (अवृणीत) स्वीकृत किया, (त्रिकद्रुकेषु) तीन कद्रुक स्थानों में उसने (सुतस्य) अभिषुत जल को (अपिबत्) पीया। (मघवा) इन्द्र ने (सायकम्, वज्रम्) अन्तकारी अर्थात् शत्रुघातक वज्र को (आदत्त) ग्रहण किया, और (अहीनाम्) मेघों में से (प्रथमजाम् एनम्) प्रथमोत्पन्न इस मेघ का (अहन्) उसने हनन किया। वर्षा करनेवाले हैं, वायु या विद्युत्। तद्वत् इन्द्र भी वर्षा करता है।

[सोम=जल (आप्टे)। त्रिकद्रुक=त्रि+कम्[1]=सुखकारी+द्रु (गतौ[2])+क (कु+डः, औणादिकः); तीन सुखकारी स्थान हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः; यथा 'ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिकद्रुकाः' आपस्तम्ब; (सायण)। ज्योतिः=द्यौः, गौः (पृथिवी, निघं० १।१), आयुः, वायुः, प्राणप्रद वायु, अन्तरिक्षस्थानी। वायु में आदि वकार का लोप है। सायकम्=षो अन्तकर्मणि (दिवादिः)। प्रथमजाम्=प्रथम+जन् (विट्, अष्टा० ३।२।६७)+आत्त्वम् (अष्टा० ६।४।४१)। प्रथमजा अहि=वर्षाकाल में प्रथमोत्पन्न मेघ।]

प्रथम अनुवाक समाप्त

---

१. कम् सुखनाम, यथा नाक पद में, कम्=सुखम् (निरुक्त २।४।१४)।
२. गतौ, गमेः त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिः। प्राप्त्यर्थ अभिप्रेत है। पृथिवी से अन्न प्राप्त होता है, अन्तरिक्ष से प्राणप्रद वायु, द्यौः से ताप, प्रकाश। अतः ये तीनों स्थान सुखप्रद हैं।

अनुवाक २

सूक्त ६

(१-५)। शौनकः (सम्पत्कामः)। अग्निः। त्रिष्टुभ्, ४ चतुष्पदा आर्षी पंक्तिः; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (त्वा) तुझे (समाः) चान्द्रवर्ष, (ऋतवः) ऋतुएँ, (संवत्सराः) सौरवर्ष, (ऋषयः) ऋषि, (यानि सत्या=सत्यानि) और जो सत्यकर्म हैं वे (वर्धयन्तु) बढ़ाएँ। (दिव्येन) दिव्य (रोचनेन) रुचिकर प्रदीप्ति द्वारा (दीदिहि) चमक और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों प्रकृष्ट-दिशाओं को (आ भाहि) पूर्णतया प्रकाशित कर।

[दीदिहि=दीदयति ज्वलतिकर्मा (निघं० १।१६)। अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। ऋषिकोटि के व्यक्तियों के परामर्शानुसार प्रधानमन्त्री शासन करे, यह अभिप्राय है।]

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥२॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (सम् इध्यस्व) सम्यक्-वृद्धि को तू प्राप्त हो। (च) और (इमम्) इस प्रजाजन को (प्रवर्धय) प्रवृद्ध कर। (उत् च तिष्ठ) ऊँची निज गद्दी पर (तिष्ठ) स्थित हो (महते सौभगाय) प्रजाजन के महासौभाग्य के लिए। (अग्ने) हे अग्रणि! (ते उपसत्तारः) तेरे समीप अर्थात् आश्रम में स्थित प्रजाजन (मा रिषन्) हिंसित न हों। (ते) तेरे शासन में (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ (यशसः) यशस्वी हों (मा अन्ये) अन्य नहीं।

[मन्त्र में ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के यश बढ़ाने का कथन किया है, ताकि अन्य प्रजाजन भी इस यश की प्राप्ति के लिये यत्न करें और राष्ट्र अधिकाधिक सत्त्वगुणी हो सके।]

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥३॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (इमे ब्राह्मणाः) ये ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ (त्वाम् वृणते) तेरा चुनाव करते हैं? (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (नः संवरणे) हमारे सम्यक्-चुनाव में (शिवः) प्रजाजन के लिए कल्याणकारी (भव) तू हो! (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (सपत्नहा) तू शत्रुओं का हनन कर, (अभिमातिजित्) अभिमानियों पर विजय प्राप्त कर। (स्वे गये) निज राष्ट्रगृह में (अप्रयुच्छन्) प्रमाद किये बिना (जागृहि) जागरूक हो, सावधान रह।

[वृणते और संवरणे में समानाभिप्राय है, चुनाव। स्वे गये=अग्नि, राष्ट्र को अपना घर जानकर उसकी सदा रक्षा करे। गयः गृहनाम (निघं० ३।४)। ब्राह्मणाः वृणते=ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ, अग्रणी प्रधानमन्त्री का चुनाव करें। राष्ट्र में प्रधानमन्त्री किसी एक राजनैतिक पार्टी द्वारा निर्वाचित न होना चाहिए, अपितु राष्ट्र के ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों द्वारा निर्वाचित होना चाहिए, यह मन्त्र में अभिप्रेत है। एतदर्थ ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों को प्रमाणपत्र राजकीय सभाओं द्वारा मिलने चाहियें। तीन सभाओं का निर्माण राजा करे। राजार्यसभा, विद्यार्य सभा, तथा धर्मार्यसभा का। राजार्यसभा तो राज्य के शासन का प्रबन्ध करे। विद्यार्यसभा राज्य में विद्या का तथा धर्मार्यसभा राज्य में धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करे। धार्मिक शिक्षा के बिना शासन और विद्या, यथेष्ट उपकारी नहीं हो सकते। वेद में कहा है कि—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान्॥
—ऋ० ३।३८।६

राजाना=राजानौ। त्रीणि सदांसि=तीन सभाएँ।]

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (स्वेन क्षत्रेण) निज क्षत्र द्वारा (संरभस्व) उग्रता का काम अर्थात् युद्ध कर, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (मित्रधा) मित्र राजाओं का पोषण करनेवाला तू (मित्रेण) स्नेही मन्त्री द्वारा [उनके पोषण के लिए] (यतस्व) यत्न किया कर। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (सजाताम्) एक ही साम्राज्य में उत्पन्न (राज्ञाम्) राजाओं का (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ हुआ तू (इह) इस साम्राज्य में (विहव्यः) विरोधी या विविध राजाओं द्वारा आह्वानयोग्य हुआ (दीदिहि) प्रकाशित हो।

[राजा दो प्रकार के हैं, सजात तथा विजात। अपने साम्राज्य में उत्पन्न राजा सजात हैं, वे हैं यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजुः० ८।३७), तथा विजात हैं अन्य साम्राज्यों में उत्पन्न राजा। क्षत्र हैं क्षत्रिय-सैनिक। मित्रधा=मित्र+धात्र्+विच् (सायण)। दीदिहि= दीदयति ज्वलतिकर्मा (निघं० १।१६)। मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि निज साम्राज्य के राजाओं में परस्पर विवाद की अवस्था में प्रधानमन्त्री उनमें मध्यस्थ होकर विवाद में निर्णय दे।]

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

(निहः) नितरां हनन करनेवाले विषयज दोषों से [सायण] (अति तर) हमें तैरा, (अति स्रिधः) शोषण करनेवाले दोषों से तैरा, (अति अचित्तीः) अज्ञानमयी चित्तवृत्तियों से तैरा, (अति द्विषः) द्वेषभावनाओं से तैरा। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (विश्वा दुरिता=विश्वानि दुरितानि) सब दुरितों को (त्वम्) तू भी (तर) तैर, (अथ) तदनन्तर (सहवीरम्) वीर पुत्रोंसहित (रयिम्) ऐश्वर्य (दाः) हमें दे।

[मन्त्र में "तर" पद के प्रयोग द्वारा दोषों को "नद" कहा है। इन्हें तर जाना सूचित किया है। दुरिता तर=दुरितानि परासुव। स्रिधः= स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः (सायण)। अतितर=अतितारय, अन्तर्णीत-ण्यर्थ (सायण)।]

सूक्त ७

(१-५)। अथर्वा। भैषज्यम्; आयुः, वनस्पतिः। अनुष्टुप्; १ भुरिज्; ४ विराडुपरिष्टाद्बृहती।

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

(अघद्विष्टा) पाप से द्वेष अर्थात् अप्रीति करनेवाली, (देवजाता) दिव्य व्यक्तियों में प्रकट हुई, (शपथयोपनी) शपथों से हटानेवाली (वीरुत्) ओषधिरूपी परमेश्वर-माता, (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के शपथों को (मत् अधि) मुझसे (प्राणैक्षीत्) प्रक्षालित करती है, धो देती है, (इव) जैसेकि (मलम्) मल को (आपः) जल प्रक्षालित करते हैं, धो देते हैं।

[द्विष्टा=द्विष अप्रीतौ, कर्तरि क्तः (सायण)। योपनी=युप विमोहने, विमोहन=निवारण (सायण)। प्राणैक्षीत्=प्र+णिजिर् शौचपोषणयोः,

छान्दसे लुङि (सायण)। वीरुत्=परमेश्वर माता ओषधिरूपा है। यथा "भेषजमसि भेषजम्" (यजुः० ३।५९)।]

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥२॥

(यः च) और जो (सापत्नः) शत्रु द्वारा हमारे प्रति किया गया (शपथः) शपथ है, (यः शपथः च) और जो (जाम्याः) गृहोत्पन्न किसी स्त्री द्वारा हमारे प्रति किया गया शपथ है, (ब्रह्मा यत् मन्युतः शपात्) वेदविद् ने कुपित होकर जो शाप दिया है, (तत् सर्वम्) वह सब (नः) हमारे (अधःपदम्) पैरों के नीचे हो, पैरों तले कुचल दिया जाय।

[शपथ और शाप में भेद है (निरुक्त, शपथाभिशापौ, ७।१।३)। शपथ स्वयम् ली जाती है और शाप दूसरे को दिया जाता है। सूक्त में शपथ और शाप दोनों का कथन हुआ है। ब्रह्मा द्वारा शाप का कथन हुआ है, और सपत्नों द्वारा शपथों का।]

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥३॥

(दिवः) द्युलोक से (मूलम्) जड़ (अवततम्) नीचे की ओर फैली है, (पृथिव्याः अधि) और पृथिवी से (उत्ततम्) ऊपर को फैली है। (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) हजारों ग्रन्थियोंवाले जगत्-वृक्ष द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर [हे परमेश्वर मातः]।

[यह जगत्-वृक्ष है, अश्वत्थ वृक्ष। यथा "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्" (गीता १५।१)। वृक्ष की शोभा पत्तों द्वारा होती है, न कि पत्तोंरहित शाखाओं द्वारा। संसार-वृक्ष की शोभा वैदिक छन्दों द्वारा होती है। वेदों के बिना संसार शोभा-रहित है। संसार-वृक्ष का मूल ऊर्ध्व में है। ऊर्ध्व में स्थित नक्षत्र-तारा तथा आदित्य की रश्मियों पर पृथिवी आश्रित है, और ऊर्ध्वस्थ आदित्य से ही प्रकट हुई है। संसार-वृक्ष की ग्रन्थियां हैं, संसार-वृक्ष के घटक अवयव, जोकि हमारी रक्षा कर रहे हैं।]

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥४॥

[हे परमेश्वरमातः!] (माम् परि पाहि) मेरी सब ओर से रक्षा कर, (मे प्रजाम् परि) मेरी प्रजा की सब ओर से रक्षा कर, (नः यद् धनम्)

हमारा जो धन है उसकी (परि पाहि) सब ओर से रक्षा कर। (अरातिः नः मा तारीत्) अदान भावना या अज्ञानी शत्रु हमारा अतिक्रमण न करे, (नः मा तारिषुः अभिमातयः) निज शक्ति का अभिमान करनेवाले हमारा अतिक्रमण न करें।

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥५॥

(शपथः) शपथ अर्थात् शाप (शप्तारम्) शाप देनेवाले को (एतु) प्राप्त हो। (यः) जो (सुहार्त्) उत्तम हृदयवाला है (तेन) उसके साथ (सह) हमारा सहवास हो। (चक्षुर्मन्त्रस्य) आँखों के इशारों द्वारा जो गुप्त भाषण करता है (दुर्हार्दः) अतः जो दुष्टहृदय है उसकी (पृष्टीः अपि) पसलियों को भी (शृणीमसि) हम तोड़ देते हैं।

[शाप देनेवाला दुष्टहृदय होता है, अतः यह दुष्टता उसे ही दूषित करती है। इसका प्रभाव उस पर नहीं होता, जिसे कि शाप दिया जाता है। शपथः का अभिप्राय है शाप, न कि शपथ।]

सूक्त ८

(१-५)। भृग्वङ्गिराः। वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्। अनुष्टुप्; ३ पथ्यापंक्तिः; ४ विराज्; ५ निचृत् पथ्यापंक्तिः।

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥१॥

(भगवती[1]) यशस्वी, (विचृतौ) बन्ध को काटनेवाले, (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारा (उदगाताम्) उदित हुए हैं, वे (क्षेत्रियस्य) शरीर-क्षेत्र के (अधमम्) अधोभाग के, (उत्तमम्) तथा ऊर्ध्वभाग के (पाशम्) फन्दे को (वि मुञ्चताम्) विमुक्त करें।

[क्षेत्र=शरीर। यथा "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३।१)। "क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः" (अष्टा० ५।२।९२) का वर्णन प्रतीत नहीं होता। ये दो तारा हैं मूला-नक्षत्र में, अर्थात् वृश्चिक-राशि के पुच्छ के अन्त में। सम्भवतः इन दो तारों का उदयकाल विशिष्ट-शारीरिक रोग के उन्मूलन के लिए उपयोगी हो। इसलिये इन दो ताराओं को भगवती कहा है, ये रोगोन्मूलन के यशवाले हैं। रोग और रोगोपचार का सम्बन्ध काल के साथ भी होता है।]

१. भग=यश। यथा—
"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥"

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥२॥

(इयम् रात्री) यह उषाकालीना रात्री (अप उच्छतु) क्षेत्रियरोग का विवासन करे, अपनयन करे, (अभिकृत्वरीः) साक्षात् रोगमूल को काटनेवाली वीरुधें (अप उच्छन्तु) क्षेत्रिय रोग का विवासन करें, अपनयन करें। (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय रोग का (नाशयन्) नाश करती हुई (वीरुत्) वीरुत् (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय रोग का (अप उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे।

[यह रात्री तमोमयी नहीं, अपितु उषाकालीना रात्री है, जोकि तमोविवासन कर सकती है, इसे सवित्-काल[1] कह सकते हैं, जबकि द्युलोक रश्मियों द्वारा आकीर्ण[1] होता है, और अधस्तात् अर्थात् पृथिवी पर अभी अन्धकार होता है (निरुक्त १२।२।१२)। अभिप्राय यह है कि उषाकालीना रात्री जैसे तमस् का नाश करती है, वैसे वीरुत् क्षेत्रिय रोग का नाश करे। यह वीरुत् सम्भवतः मन्त्र (३) में कथित यव-पललि या तिलपिञ्जा है। इसे हृदयगत कर मन्त्र (२) में वीरुत् का कथन हुआ है।]

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥३॥

(बभ्रोः) भरण-पोषण करनेवाले (अर्जुनकाण्डस्य) अर्जुनवृक्ष की, तथा (यवस्य) जौं की (पलाल्या) पराल द्वारा, तथा (तिलस्य तिलपिञ्जया) तिल की तिलपीठी द्वारा निर्मित (वीरुत्) विरोहणशील लता, (क्षेत्रिय-नाशनी) जोकि शारीरिक रोग का विनाश करनेवाली है, वह (ते) हे रुग्ण! तेरे (क्षेत्रियम्) शारीरिक रोग का (उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे, निवारण करे।

[बभ्रोः=भृञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। पलाल्या=अर्जुन वृक्ष के काण्ड से उत्पन्न पत्तों की पराल द्वारा। पिञ्जया=तिलों की हिंसा अर्थात् हनन द्वारा प्राप्त पीढ़ी द्वारा (चुरादिः)।]

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥४॥

हे रुग्ण! (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) हलों से उत्पन्न (नमः) अन्न, (ईषायुगेभ्यः) ईषा और युगों से प्राप्त (नमः) अन्न (वीरुत्) वीरुत् रूप

१. तस्य कालो यदा द्यौरपहृततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति।
अधस्तात् तद्वेलायां तपो भवति। (संदेश्येभ्यः)।

है। (क्षेत्रियनाशनी) वह शारीरिक रोग का नाश करती है, (क्षेत्रियम्) वह (ते) तेरे शारीरिक रोग का (अप उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे, उसे निवारित करे।

[हलों से प्राप्त कृष्यन्न को वीरुत् कहा है। पौष्टिक अन्न के सेवन से बल बढ़ता है। बल की प्राप्ति से रोग शरीर पर आक्रमण नहीं करते। ईषा है शकट के अग्रभाग का डण्डा और युग हैं जुआ, बैलों के कन्धों पर रखने की लकड़ी। ते=दो बार अन्वय। लाङ्गल आदि कृषिकर्म में अत्युपकारी हैं, अतः इनकी सहायता से उत्पन्न अन्न कहा है, यद्यपि अन्न कृषिभूमि से प्राप्त होता है।]

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥५॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः) ध्वस्त-इन्द्रियवालों के लिए (नमः) अन्न प्रदान हो, (संदेश्येभ्यः) अन्नोत्पादन का सम्यक् निर्देश करने योग्य व्यक्ति के लिए (नमः) अन्नप्रदान हो। (क्षेत्रस्य पतये) खेत के स्वामी तथा रक्षक श्रमी के लिए (नमः) अन्नप्रदान हो। (वीरुत्) अन्नरूपी वीरुत् (क्षेत्रियनाशनी) शरीर-क्षेत्र के रोग का नाश करनेवाली है (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) शरीर-क्षेत्र के रोग का विवासन करे, अपनयन करे, उसका निवारण करे।

[वीरुत् है अन्नरूप। नमः अन्ननाम(निघं० २।७)। सनिस्रसाक्षेभ्यः =स्रंसु (भ्वादिः) अवस्रंसने, यङ्लुकि+अक्ष (आँख तथा अन्य इन्द्रियाँ)। संदेश्य=कृषिविभाग के राज्याधिकारी, अन्य परामर्शदाता। क्षेत्र के पति अर्थात् स्वामी तथा कृषिरक्षक श्रमी।]

सायण का अभिप्राय

सनिस्रसाक्षेभ्यः=जिनके गवाक्ष अर्थात् झरोखे और द्वार विशीर्ण हो रहे हैं, उन शून्य गृहों के लिए नमस्कार हो। संदेश्येभ्यः=जो त्याग दिये जाते हैं उनमें कि मिट्टी के आदान से, उन जरद्गर्तों अर्थात् जीर्ण हुए गढ़ों को नमस्कार हो। क्षेत्रस्य पतये=शून्यगृहादिरूप क्षेत्र के अधिपति, इस नामवाले देव को नमस्कार हो। तुम्हारी प्रसन्नता से रोगशान्ति हो, यह अभिप्राय है नमस्कारों का (सायण)।

सूक्त ९

(१-५)। भृग्वङ्गिराः। वनस्पतिः; यक्ष्मनाशनम्। अनुष्टुप्,
१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥१॥

(दशवृक्ष) हे दशवृक्ष! अथवा दसवृक्षों के मेल से निर्मित औषध! (इमम्) इसे (रक्षसः ग्राह्याः अधि) राक्षसरूप रोग की जकड़ से (मुञ्च) मुक्त कर, छुड़ा, (या) जिस जकड़ ने कि (एनम्) इसे (पर्वसु) जोड़ों में (जग्राह) जकड़ा हुआ है। (अथो) तथा (वनस्पते) हे वनस्पति! या वनस्पतियों द्वारा निर्मित! (एनम्) इसे (जीवानाम् लोकम्) जीवितों के लोक के प्रति उठा।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥२॥

(अयम्) यह रोगी (आगात्) आ गया है, (उदगात्) तथा उठ आया है, (जीवानाम् व्रातम् अपि) जीवितों के समूह के प्रति भी (अगात्) आया है। (उ) तथा (पुत्राणाम्) पूर्वोत्पन्न पुत्रों का (पिता) पुनः रक्षक (अभूत्) हो गया है, (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अतिशय भाग्यशाली हो गया है।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥३॥

(अयम्) इस रोगी ने (अधीतीः) स्मर्तव्य विषयों को (अध्यगात्) स्मरण कर लिया है, और (जीवपुराः) जीवितों के पुरों को (अधि अगन्) प्राप्त हो गया है। (अस्य) इस रोगी के, (हि) निश्चय से, (शतम्, भिषजः) सैकड़ों चिकित्सक हैं, (उत) तथा (सहस्रम्) हजारों (वीरुधः) ओषधियाँ हैं।

[अगन्=मो नो धातोः (अष्टा० ८।२।६४), इति नत्वम् (सायण)।]

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥४॥

(देवाः) देवों ने (ते) तेरे (चीतिम्) चीत्कार को (अविदन्) जाना, (ब्रह्माणः) वेदवेत्ताओं तथा ब्रह्मज्ञों ने, (उत) तथा (वीरुधः) वीरुधों के ज्ञाता चिकित्सकों ने तेरे चीत्कार को जाना। (भूम्याम् अधि) भूमिनिवासी

(विश्वे देवाः) सब देवों ने (ते चीतिम्) तेरे चीत्कार को (अविदन्) जाना ।

[वीरुधः=विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः (सायण, मन्त्र ३ । इस व्युत्पत्ति के अनुसार वीरुधः का अर्थ चिकित्सक भी सम्भव है। अथवा वीरुधः=वीरुधां ज्ञातारः, लाक्षणिक प्रयोग, यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्ति।" मन्त्र २, ३ में भूतकाल-प्रयोगों द्वारा, तथा अन्य वर्णनों द्वारा ज्ञात होता है कि रोगी रोगोन्मुक्त हो चुका था । मन्त्र ४ में रोगोन्मुक्त के चीत्कार का पुनः कथन हुआ है। अतः वह पुनः रोगाक्रान्त हो गया है। इसलिए उसके रोग के स्थिर शमन के लिए परमेश्वर से याचनार्थ मन्त्र ५ कहा है।]

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥५॥

हे रुग्ण ! (यः चकार) जिसने तुझे पैदा किया है (स निष्करत्) वह तेरे रोग का शमन करे, (स एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सर्वश्रेष्ठ महाचिकित्सक है। (स एव) वह ही (भिषजा) निजभिषक् रूप द्वारा (तुभ्यम्) तेरे लिए (भेषजानि) औषधें (कृणवत्) करे। (शुचिः) जो भिषक् रूप कि पवित्र है, [अर्थात् जो परमेश्वर कि पवित्ररूप है, वह तुझे पवित्र करके तुझे रोगोन्मुक्त करे।]

[परमेश्वर भेषज भी है, यथा "भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै" ॥ (यजुः० ३।५९), अर्थात् परमेश्वर भिषक् भी है और भेषज भी । उसकी इच्छामात्र से सर्वरोग-निवृत्ति हो जाती है।]

सूक्त १०

(१-८)। भृग्वङ्गिराः । निर्ऋतिः, द्यावापृथिव्यादिनाना देवताः । १ त्रिष्टुभ्; २ सप्तपदा अष्टिः । ३-५, ७, ८ सप्तपदा धृष्टिः; ६ सप्तपदा अत्यष्टिः (एवा त्वामिति द्वौ औष्णिहौ पादौ)।

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

हे पुरुष ! (क्षेत्रियात्) क्षेत्र अर्थात् शरीरसम्बन्धी रोग से, (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति से, (जामिशंसात्) बहिन के प्रति की गई दुरिच्छा से (द्रुहः) द्रोह से, (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से, अर्थात् असत्यवचन आदि से (त्वा मुञ्चामि) तुझे मैं [चिकित्सक] मुक्त करता हूँ। (ब्रह्मणा) वेदोक्त

विधि द्वारा (त्वा) तुझे (अनागसम्) पापरहित (कृणोमि) मैं करता हूँ। (ते) तेरे लिए (द्यावापृथिवी उभे) द्यौः और पृथिवी दोनों (शिवे स्ताम्) कल्याणकारी हों।[1]

[वरुस्य पाशात्=अनृत भाषण से प्राप्त पाश आदि (अथर्व० ४।१६।७ आदि)। ब्रह्मणा (अथर्व० ६।२६।२)।]

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः । एवाहं त्वां
क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥२॥

(अद्भिः सह अग्निः) जल के साथ अग्नि (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी तथा रोग का शमन करनेवाली हो। (ओषधीभिः सह) ओषधियों के साथ (सोमः) सोम-ओषधि (शम्) सुखकारी तथा रोग का शमन करनेवाला हो (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत्, [अर्थात् क्षेत्रिय आदि से मुक्त कर मैं प्रयोक्ता "शम्" सुखी होता हूँ।]

[अद्भिः सह अग्निः=जलचिकित्सा के साथ यज्ञियाग्निः । सोमः सहौषधीभिः=सोमो वीरुधामधिपतिः (अथर्व० ५।२४।७)। वीरुधः=ओषधयः।]

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥३॥

(अन्तरिक्षे वातः) अन्तरिक्ष में वायु (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी हो, और (वयः धात्) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु परिपुष्ट करे, (प्रदिशः चतस्रः) विस्तृत चार दिशाएँ (ते) तेरे लिये (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों। (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्...) क्षेत्रिय आदि से, पूर्ववत् ।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

(इमाः याः) ये जो (देवीः) द्योतमान (चतस्रः प्रदिशः) चार प्रकृष्ट

१. मन्त्र में शारीरिक रोग, तथा मानसिक दुरिच्छा आदि रोगों का कथन हुआ है।

दिशाएँ हैं, (वातपत्नीः) वायु जिन का पति है, रक्षक है, जिन्हें कि (सूर्यः अभि विचष्टे) सूर्य सब ओर से देखता है, प्रकाशित करता है [वे तेरे लिये "सूर्यसहित, शम् भवन्तु")] (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्…) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत् ।

[विचष्टे=चष्टे पश्यतिकर्मा (निघं० ३।११) । अभि=अभितः, सर्वतः(सायण)। देवीः=देवो दानाद् वा दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा" (निरुक्त ७।४।१५) ।]

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥५॥

(तासु अन्तः) उन द्योतमान दिशाओं के मध्य, (जरसि) जरावस्था में (त्वा) तुझे (आ दधामि) मैं स्थापित करता हूँ । (निर्ऋतिः यक्ष्मः) कृच्छ्रापत्तिरूप यक्ष्म (पराचैः) परे के अर्थात् दूर के मार्गों द्वारा (प्र एतु) प्रगत हो जाय । (एवाहम्) इस प्रकार मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्…) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत् ।

[मन्त्र में कष्टदायक यक्ष्मरोग का वर्णन हुआ है । यक्ष्मरोगी को, जबकि वह विशेषतया वृद्धावस्था में हो, तो उसका निवास द्योतमान तथा खुले घर में होना चाहिए । यथा "ता वां वास्तून्यश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि । (ऋ० १।१५४।६) गावः=सूर्यरश्मयः । भूरिशृङ्गाः=बहुज्वलनाः, बहुप्रदीप्ताः" शृङ्गाणि ज्वलतो नाम(निघं० १।१०)। उरुगायस्य=महागृहस्य । वृष्णः=वर्षाकारिणः सूर्यस्य, अथवा रश्मीणाम् वर्षाकारिणः सूर्यस्य ।]

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६॥

(अवद्यात्) निन्दनीय या अकथनीय (दुरितात् यक्ष्मात्) दुष्परिणामी यक्ष्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, छूट गया है, (द्रुहः) द्रोहभावना से, (पाशात्) वरुण के पाश से, (ग्राह्याः च) और जकड़न से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, छूट गया है । (एवाहम्) इस प्रकार मैं चिकित्सक (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्…) क्षेत्रिय रोग आदि से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत् ।

[अमुक्थाः से ज्ञात होता है कि व्यक्ति यक्ष्म आदि से मुक्त हो गया है । इसे ही "मुञ्चामि" द्वारा कहा है ।]

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥७॥

(अहाः अरातिम्) शत्रुसदृश वर्तमान क्षेत्रिय रोग आदि का तूँने त्याग कर दिया है, (स्योनम् अविदः) सुख को तूने प्राप्त किया है । (भद्रे सुकृतस्य लोके अपि) सुखदायक और कल्याणकारी, सुकर्मियों के इस लोक में भी (अभूः) तूं हो गया है । (एवाहम्) इस प्रकार मैं चिकित्सक (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्…) क्षत्रिय रोग आदि से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत् ।

[अहाः ओहाक् त्यागे(जुहोत्यादिः) । स्योनम् सुखनाम(निघं० ३।६) भद्रे=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः) । सुकृतस्य लोके=अस्मिन् भूलोके (सायण) ।]

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥८॥

(ऋतम्) सत्यस्वरूप (सूर्यम्) सूर्य को,(तमसः ग्राह्याःअधि)तमस् की जकड़न से (मुञ्चन्तः) मुक्त करती हुई (देवाः) दिव्य शक्तियों ने (एनसः) तमस् रूपी पाप से (निः असृजन्) विमुक्त कर दिया । (एवाहम्) इसी प्रकार मैं चिकित्सक (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्…) क्षेत्रिय आदि रोग से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत् ।

[ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।१०) । सूर्य सदा एकरूप रहता है अतः सत्यरूप है, इसके स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता । उत्तरायण में दक्षिणायन में इसकी गति होते हुए भी यह अपने प्रकाशस्वरूप में सदा बना रहता है । एनसः=सूर्य को "ग्रहण" घेर लेता है, यह उसके पाप के कारण होता है— ऐसा कहा जाता है । आकाशीय-देव इसे इस पाप से मुक्त कर देते हैं । सूर्य और पृथिवी के मध्य में जब चन्द्रमा व्यवधायक होता है, तब सूर्यग्रहण होता है—यह भी आकाशीय दिव्यशक्तियों के कारण होता है । और दिव्यशक्तियों के प्रभाव द्वारा जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के मध्य से हट जाता है, तो सूर्य ग्रहण से सूर्य छूट जाता है, मानो वह पाप से मुक्त हो गया है "निरेणस" हो गया है ।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त

अनुवाक ३

सूक्त ११

(१-५) शुक्रः । कृत्याप्रतिहरणम्, कृत्यादूषणम् ।
१ चतुष्पदा विराड् गायत्री; २-५ त्रिपदा परोष्णिक्
(४ पिपीलिकामध्या निचृत्) ।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥१॥

हे जीवात्मन् ! (दूष्याः) दूषित चित्तवृत्तियों का (दूषिरसि) दूषक अर्थात् निवारक तू है, (हेत्याः) विषयरूपी अस्त्रों का (हेतिः) अस्त्ररूप तू है, (मेन्याः) घातक मनोवृत्ति का (मेनिः) घातक (असि) तू है। (श्रेयांसम्) अपने से श्रेष्ठ गुरु को (आप्नुहि) प्राप्त कर [उसकी सेवा किया कर] (समम्) और स्वसम्मान व्यक्तियों का (अतिक्राम) अतिक्रमण कर, उनसे आगे बढ़ ।

[मेनिः वज्रनाम (निघं० २।२०), मीञ् हिंसायाम् (क्र्यादिः)+नि (औणादिक)। हेतिः=हि गतौ (स्वादिः), जोकि शत्रु की ओर गमन करता है, अर्थात् अस्त्र, न कि शस्त्र, जोकि शत्रु के हननार्थ प्रयोक्ता के हाथ में रहता है।]

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥२॥

[हे अतिक्रमण किये हुए जीवित पुरुष!] (स्रक्त्यः) मालायोग्य (असि) तू है, (प्रतिसरः असि) विषयों के प्रतिकूल होकर उनकी ओर तू सरण करता है, (प्रत्यभिचरणः असि) उनके प्रतिकूल होकर उनका अभिचार अर्थात् विनाशकारी तू है। पुनरपि (श्रेयांसम्) श्रेष्ठ गुरु को (आप्नुहि) प्राप्त कर, उसकी सेवा कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उससे आगे बढ़ ।

[स्रक्त्यः=स्रक्=स्रज्, सृज् विसर्गे+तिः (औणादिक)+यत् प्रत्यय। समम्=श्रेष्ठता में सम हुए व्यक्ति का भी अतिक्रमण कर, उससे भी आगे बढ़। स्रजम्="पुष्पितात् यथा स्रजं पुष्पनिकरं जनाः आददते" (अथर्व० १।१४।१), (सायण)। स्रक्त्यः का अर्थ "स्रक्तिः तिलकवृक्षः तत्र भवः, तिलकवृक्षनिर्मितः" यह अर्थ सायण ने किया है। परन्तु सूक्त ११, मन्त्र ४ में स्रक्त्य को सूरिः कहा है, जिसका अर्थ किया है "अभिज्ञः" (सायण)। तिलकवृक्षनिर्मित काष्ठमणि "अभिज्ञ" कैसे सम्भव है, तथा उस काष्ठमणि को कहना कि "आप्नुहि श्रेयांसम्"—यह कैसे उपपन्न हो सकता है?]

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥३॥

हे जीवात्मन्! (तम्) उस दुरित को (अभिचर) विनष्ट कर (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम् वयम्) और जिसके साथ हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं। (श्रेयांसम् आप्नुहि) एतदर्थ श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त हो, उसकी सेवा कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उससे भी आगे बढ़ ।

[जो दुरित और दुर्विचार हैं, वे जीवन में शत्रुरूप हैं। यदि उन्हें हम अपनाते रहें तो उनका विनाश अर्थात् निवारण नहीं हो सकता। उनका निवारण तभी हो सकता है यदि हम भी उनसे द्वेष करें, प्रीति न करें और एतदर्थ श्रेष्ठ गुरुओं का सत्संग करते रहें, और उनकी सेवा शुश्रूषा करते रहें।]

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥४॥

हे जीवात्मन्! (सूरिः असि) तू अभिज्ञ है, (वर्चोधाः असि) तेजधारी है, (तनूपानः असि) शरीर का रक्षक है। (श्रेयांसम् आप्नुहि, समम् अतिक्राम) अर्थ, पूर्ववत् ।

[सायण ने सूरि का अर्थ "अभिज्ञ" किया है। अभिज्ञ का अर्थ होता है ज्ञानवान्, ज्ञानी। यह अर्थ तिलकवृक्ष की मणि अर्थात् काष्ठखण्ड में उपपन्न नहीं हो सकता, जीवात्मा में ही उपपन्न हो सकता है। ज्ञानधर्म जीवात्मा का है।]

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥५॥

हे जीवात्मन्! (शुक्रः असि) कामक्रोध आदि का तू शोषक है, (भ्राजः असि) दीप्तिस्वरूप तू है, (स्वः असि) आदित्यसदृश स्वप्रकाशमान तू है, (ज्योतिः असि) ज्योतिस्वरूप तू है। (श्रेयांसम् आप्नुहि) श्रेष्ठ गुरु को तू प्राप्त कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उनसे आगे बढ़ ।

[मन्त्र के वर्णन में तिलकवृक्ष की मणि अर्थात् काष्ठखण्ड में अनुपपन्न है, जैसेकि सायण ने कहा है।]

सूक्त १२

(१-८)। भारद्वाजः। नानादेवताः। त्रिष्टुप्; २ जगती; ७, ८ अनुष्टुप्।

द्यावापृथिवी उर्व॑१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१॥

(इह) इस पृथिवी पर (मयि तप्यमाने) मेरे तपश्चर्या करते हुए, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष, (क्षेत्रस्य पत्नी) संसार क्षेत्र की रक्षिका शक्ति [अग्नि, वायु, और सूर्य आदि,] (उरुगायः) महागीयमान (अद्भुतः) अद्भुत परमेश्वर, (उत) तथा (वातगोपम्) वायु द्वारा सुरक्षित या वायु का रक्षक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (वे) वे सब (तप्यन्ताम्) तपश्चर्या करते हुए प्रतीत हों।

[जैसे सुखी को सब संसार सुखमय और दुःखी को दुःखमय प्रतीत होता है, वैसे तपस्वी को संसार तपश्चर्या करता हुआ प्रतीत होता है। परमेश्वर भी उसे तपस्वी प्रतीत होता है, जो कि विश्राम किये बिना संसार की रचना और पालना करता रहता है। अन्तरिक्षपद दो बार पठित है। प्रथम पठित अन्तरिक्ष है संसारव्यापी महा अन्तरिक्ष, और द्वितीय अन्तरिक्ष सीमित है वहाँ तक, जितनी सीमा में वायु का निवास है, इसे "वातगोपम्" कहा है।]

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

(देवाः) हे मेरे दिव्य विचारो! (ये) जोकि (यज्ञियाः स्थ) पूजनीय हो, (इदम् शृणुत) इस मेरे कथन को सुनो—(भरद्वाजः) कि शक्ति भरा मेरा मन (मह्यम्) मेरे लिये (उक्थानि) सूक्तियों का (शंसति) कथन करता है कि (सः) वह दुर्विचार (बद्धः) बंधा हुआ होकर (दुरिते) दुष्फल में (नियुज्यताम्) नियुक्त हो (यः) जोकि (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस (मनः) मन की (हिनस्ति) हिंसा करता है।

[भरद्वाजः=मनः, जो कि शक्ति भरा है (यजु० १३।५५), यथा "भरद्वाजऽऋषिः मनो गृह्णामि।" भरद्वाजः=भरत्+वाजः बलनाम(निघं० २।९)। मन्त्र में भरद्वाजः पद यौगिकार्थ है। अस्माकम् मनः=शिवसंकल्पी मन। पाशे बद्धः=अशिव संकल्प हिंसा करता है शिवसंकल्प की, और तद्द्वारा मन की। अशिव संकल्पों के बाधक हैं यज्ञिय भाव, अतः देवों अर्थात् दिव्यभावों को सम्बोधित किया है।]

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥३॥

(इन्द्र) हे इन्द्रियों के अधिष्ठातः जीवात्मन्!, (सोमप) हे वीर्य का पान करनेवाले! (इदम् शृणुहि) यह सुन (यत्) जिसे कि (शोचता हृदा) शोकाविष्ट हृदय के साथ (त्वा) तेरा मैं (जोहवीमि) बार-बार आह्वान करता हूँ। (तम्) उसे (वृश्चामि) मैं काटता हूँ, (इव) जैसेकि (कुलिशेन) परशु द्वारा (वृक्षम्) वृक्ष को काटा जाता है (यः) जोकि (अस्माकम्) हमारे (इदम् मनः) इस शिवसंकल्पी मन की हिंसा करता है।

[इन्द्र=सूक्त ११ में प्रोक्त शुक्र आदि गुणों से सम्पन्न जीवात्मा। सोमप=वीर्यपायी ऊर्ध्वरेता जीवात्मा। सोम=वीर्य (देखो १४।१।१-५, मत्कृत भाष्य)। जोहवीमि=ह्वयतेर्यङ्लुगन्त रूप। शोचता हृदा=हे जीवात्मन्! शुक्र आदि होते हुए तथा सोमप होते हुए भी, जो अशिवसंकल्पी रूपी शत्रु तेरा परित्याग नहीं कर रहा, इसलिये मैं तेरा गुरु शोकाविष्ट हृदयवाला हूँ। मन में अशिवसंकल्पों का रहना, यह मन की हिंसा है।]

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥४॥

(सामगेभिः) साम के गानेवाले (आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः) आदित्यों, वसुओं, और अङ्गिराओं अर्थात् रुद्रों की सहायता द्वारा, और (अशीतिभिः तिसृभिः) और ८० तृचों द्वारा (नः पितॄणाम्) हम [गृहस्थी] माता-पिता के (इष्टापूर्तम्) इष्ट और आपूर्त को (अवतु) सुरक्षित करे [देवसम्बन्धी] (हरस्) क्रोध, इसलिये (अमुम्) उस क्रोध को (दैव्येन हरसा) देवों सम्बन्धी क्रोध द्वारा (आददे) मैं ग्रहण करता हूँ। वसु, रुद्र, आदित्य स्नातक विद्वान् हैं।

[अङ्गिरोभिः=वस्वादित्य समभिव्याहारात् अङ्गिरःशब्देन रुद्राः प्रत्येतव्याः (सायण)। अशीतिभिः तिसृभिः=सामवेद के उत्तरार्चिक में सामगान के लिये तीन-तीन ऋचाओं के तृच हैं, उनमें से ८० तृचों का कथन हुआ है। हरस्=हरः क्रोधनाम (निघं० २।१३)। दैव्येन हरसा=देवों का हरस् अर्थात् क्रोध दिव्य होता है, जिसे कि मन्यु कहते हैं, यह अवबोधपूर्वक होता है, मनु अवबोधने (तनादिः), इसलिये इसका उपादान कहा है—

"मन्युरसि[1] मन्युं मयि धेहि"। यह मन्यु गृहस्थियों के इष्टापूर्त की रक्षा करता है। इष्ट है यागादि; आपूर्त है सामाजिक उपकार कार्य, कूप, तडाग आदि कर्म।]

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥५॥

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक तथा पृथिवीलोक (मा अनु) मेरे अनुकूल (दीधीथाम्) तुम दोनों प्रदीप्त होओ, (विश्वे देवासः) हे सब देवो ! (मा अनु) मेरे अनुकूल (रभध्वम्) निज कार्यों का आरम्भ करो। (सोम्यासः) हे सौम्य स्वभावोंवाले (अङ्गिरसः पितरः) अथर्वाङ्गिरस वेद के ज्ञाता पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामना का करनेवाला (पापम् आ ऋच्छतु) पाप को प्राप्त हो।

[मा अनु=मयि तप्यमाने तप्यन्ताम् (मन्त्र १) की भावनानुसारी भावना मन्त्र ५ में प्रकट की गई है। वह भावना है "आमुं ददे हरसा दैव्येन" (मन्त्र ४) की भावना। विश्वे देवासः=द्यावापृथिवी के सदृश दीप्यमान सूर्य, चन्द्र आदि अन्य देव। अपकामस्य कर्ता=पापी होता है; बुरी कामनाएँ पापरूप होती हैं, और सुकामनाएँ पुण्यरूप होती हैं, यह अभिप्राय है। मन्त्र में यह भी निर्देश है कि अथर्ववेद में किसी के प्रति कोई अपकामना नहीं अपितु सुकामनाएँ हैं, पापियों को सन्मार्ग पर लाने के लिये।]

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभि सं तपाति ॥६॥

(मरुतः) हे मनुष्यो !, अथवा हे ऋत्विजो ! (यः) जो (नः) हमें (अति इव) अतिक्रान्त हुए के सदृश (मन्यते) अपने को मानता है, (वा) या (नः) हमारे (क्रियमाणम् ब्रह्म) किये जानेवाले वैदिक कर्म को (निन्दिषत्) निन्दा करता है। (तस्मै) उसके लिये (तपूंषि) ताप-सन्ताप (वृजिनानि) इस निन्दा कार्य से वर्जित करनेवाले (सन्तु) हों, (ब्रह्मद्विषम्) ब्रह्मद्वेषी को (द्यौः) द्यौ (अभिसंतपाति) साक्षात् संतप्त करे।

१. मन्यु है अवबोधपूर्वक की गई दैवी, मानसिक दृढ़ता। हरस् यद्यपि क्रोध है। मानव-क्रोध में द्रोहभावना होती है, देवों के क्रोध में द्रोह-भावना नहीं होती। वह मन्युपूर्वक होता है, अवबोधपूर्वक होता है। मन्यु है मनन-पूर्वक किया गया क्रोध। यह क्रोध दैव्य है, जिसमें कि द्रोह भावना का लेश भी नहीं होता। वह यथार्थ होता है, सच्चाईपूर्वक होता है।

[मरुतः=म्रियते इति मनुष्यजातिः (उणा० १।९४; दयानन्द)। मरुतः ऋत्विङ्नाम (निघं० ३।१८)। (क्रियमाणम् ब्रह्म) "किये जानेवाले मन्त्रसाध्य कर्म को" (सायण)। निन्दिषत्=सिप्; सिब् बहुलं लेटि (सायण)। ऐसे व्यक्ति को द्युलोक स्वयम् संतप्त करे। संतपाति=लेट् लकार, आडागम।]

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥७॥

(ते सप्त प्राणान्) तेरे सात प्राणों को, (तान् अष्टौ मन्यः) आठ उन धमनियों को, (ब्रह्मणा) वेदाज्ञा द्वारा, (वृश्चामि[1]) मैं काटता हूँ। (यमस्य सादनम्) यम के घर (अयाः) तू आया है, (अग्निदूतः) अग्नि द्वारा परितप्त होनेवाला, (अरंकृतः) और अलंकृत अर्थात् सुशोभित हुआ।

[सप्तप्राण=शीर्षस्थ सात गोलकों के सात प्राण। एक मुख का, दो चक्षुओं के, दो नासाछिद्रों के, दो कर्णों के प्राण। अष्टौ मन्यः="८ धमनियां कण्ठगत नाडीविशेष" (सायण)। अयाः="या प्रापणे" लुङि। अरंकृतः=शवालंकारेण विभूषितः (सायण)। यमस्य सादनम्=श्मशान भूमि। दूतः=दूङ् परितापे (दिवादिः)। जो प्रजाजन अति दुष्ट है और प्रजा में रहने के अधिकार योग्य नहीं, राजदण्डानुसार उसे मृत्युदण्ड मिला है।]

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥८॥

हे मृत्युदण्डित ! (ते पदम्) तेरे पैर को (समिद्धे) सम्यक्-प्रदीप्त (जातवेदसि) अग्नि में (आ दधामि) मैं स्थापित करता हूँ। (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) तेरे शरीर में (वेवेष्टु) प्रविष्ट हो जाय, (वाक् अपि) तेरी वाणी भी (असुम्) प्राणवायु में (गच्छतु) चली जाय। जातवेदसि=जाते जाते विद्यते इति जातवेदाः, तस्मिन् (निरुक्त ७।५।१९)।

[मन्त्र ७ के अनुसार दण्डित को श्मशानभूमि में जीवितावस्था में लाया गया है, अर्थी[2] पर मृतावस्था में नहीं। राजपुरुष ही दण्डानुसार उसका दाहकर्म करता है। पहिले वह दण्डित के पैरों को प्रज्वलित अग्नि में स्थापित करता है, ताकि जलन-पीड़ा का अनुभव उसे हो; तदनन्तर उसके शेष शरीर को अग्नि में फेंक देता है। उसके दाह की यह विधि राजदण्ड के अनुसार निश्चित हुई है।]

१. राजवधक का वचन है; आसन्नभविष्यद्-घटना अर्थात् दाहकर्म में वर्तमानकाल में प्रयोग है वृश्चामि।
२. वह फट्टा जिस पर शव को लेटा कर श्मशानभूमि तक पहुँचाया जाता है।

सूक्त १३

(१-५)। अथर्वा। बहुदेवताः तथा अग्निः। त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप्; ५ विराड् जगती।

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१॥

(अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (आयुर्दाः) आयु का तू दान करती है, (जरसम् वृणानः) जरावस्था का तू संभजन करती है [अतः जरावस्था का तू प्रदान कर], (घृतप्रतीकः) घृत द्वारा अभिव्यक्त अवयवोंवाली तथा (घृतपृष्ठः) घृत द्वारा स्पृष्ट हुई (अग्ने) हे अग्नि! (मधुचारु, गव्यम् घृतम् पीत्वा) मधुर, रुचिकर या निर्मल गोघृत पीकर (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (रक्षतात्) तू रक्षा कर, (इव) जैसेकि (पिता पुत्रान्) पिता पुत्रों की रक्षा करता है।

[सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन है, जोकि गुरुकुल में प्रवेश पा रहा है। यज्ञियाग्नि, आयु को दीर्घ करती है। यज्ञियाग्नि में गोघृत की पर्याप्त आहुतियाँ देनी चाहिएँ। यह अग्नि रोगों से रक्षा करती है। स्वरक्षार्थ प्रतिदिन ब्रह्मचारी अग्निहोत्र किया करे, यह अभिप्राय है। वृणानः=वृङ् संभक्तौ (क्र्यादिः)।]

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥२॥

हे गुरुदेव! (परिधत्त) इसे वस्त्र पहनाओ, (नः) हमारे (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) परिपुष्ट करो (जरामृत्युम्) जरावस्था में मृत्यु वाला अर्थात् (दीर्घमायुः) दीर्घायु (कृणुत) करो। (बृहस्पतिः) बृहती= वेदवाणी के पति अर्थात् आश्रम के वेदाचार्य ने (परिधातवे) पहिनने के लिए (एतद् वासः) यह वस्त्र (सोमाय राज्ञे) सौम्य स्वभाववाले, वस्त्रों से प्रदीप्त ब्रह्मचारी के लिए (प्रायच्छत्) दिया है।

[बृहस्पति है बृही=वेदवाणी का पति, परमेश्वर। यथा "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्" (ऋ० १०।७१।१)। सूक्त में ब्रह्मचर्याश्रम में बृहस्पति द्वारा वेदपति अर्थात् वेदाचार्य कथित हुआ है, जोकि ब्रह्मचर्याश्रम का मुखिया है।]

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

हे ब्रह्मचारिन्! (इदं वासः परि अधिथाः) इस वस्त्र को (स्वस्तये) कल्याण के लिए तूने पहिना है, (गृष्टीनाम्) गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करनेवाला (उ) निश्चय से (अभूः) तू हुआ है। (पुरुचीः) बहुविध कर्मों में व्याप्त (शतम्, शरदः) सौ वर्षों तक (जीव) तू जीवित रह, (रायः च) और विद्याधन की (पुष्टिम्) पुष्टि को कर, (उप संव्ययस्व) और वस्त्र को ठीक प्रकार से ओढ़ा कर।

[गृष्टीनाम्=गुरुकुल में प्रविष्ट ब्रह्मचारियों का कर्तव्य है गुरुकुल की गौओं की सेवा तथा रक्षा, जिनका दूध गुरुकुल के गुरुओं तथा ब्रह्मचारियों ने पीना है। ब्रह्मचर्यकाल में उनके पास धन केवल विद्याधन ही होता है, व्यापारिक धन नहीं। उप संव्ययस्व=प्रविष्ट ब्रह्मचारी अल्पायु होते हैं, उन्हें वस्त्रों का ठीक प्रकार से ओढ़ना भी सिखाना होता है।]

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥४॥

हे ब्रह्मचारिन्! (एहि) आ (अश्मानम्, आतिष्ठ) अश्मा पर आ खड़ा हो, (अश्मा भवतु ते तनूः) पत्थरसदृश दृढ़ हो तेरी तनू। (विश्वे देवाः) सब गुरुदेव (ते आयुः) तेरी आयुः (शतम्, शरदः) सौ वर्षों की (कृण्वन्तु) करें।

[ब्रह्मचारी को क्रियात्मक शिक्षा दी है। उसे दर्शाया है कि यह पत्थर जैसे दृढ़ाङ्ग है, वैसे तुझे कठोराङ्ग होना चाहिए, तदर्थ तू नियमपूर्वक व्यायाम किया कर, और वीर्य की रक्षा किया कर। आश्रम के सब गुरुदेव ब्रह्मचारी के खान-पान का विशेष ख्याल करें, जिससे कि ब्रह्मचारी की आयुः सौ वर्षों की हो सके। वर्ष शब्द के लिए शरदः शब्द पठित हुआ है, शरत् काल में जीवन स्वस्थ रहता है।]

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं१ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५॥

हे ब्रह्मचारिन्! (यस्य ते) जिस तेरे लिए (प्रथमवास्यम्) प्रथम पहिनने योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम तेरे पितृपक्ष के लोग लाते हैं, (तम्, त्वा) उस तुझको (विश्वे देवाः) सब गुरुदेव (अवन्तु) सुरक्षित करें। (सुवृधा वर्धमानम्) उत्तमवृद्धि से बढ़ते हुए (तम् त्वा) उस तुझ के (अनु) पश्चात् (भ्रातरः) सतीर्थ्य भाई (बहवः) बहुसंख्या में (जायन्ताम्) हों, (सुजातम्) विद्यामाता से द्विजन्मा तुझको देखकर।

[ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में प्रविष्ट हो तो उसके प्रथम पहिनने के

वस्त्र पितृपक्ष के लोग लाते हैं। ब्रह्मचारी द्विजन्मा बन कर जब स्नातक हो जाय, तब उसके पश्चात् भी जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट होते रहें, उन्हें भी अपना सतीर्थ्य भाई वह समझता रहे। तथा देखो ब्रह्मचर्यसूक्त (अथर्व० ११।५)।]

सूक्त १४

(१-६) चातनः। शाला अग्निः, तथा मन्त्रोक्तदेवताः। अनुष्टुप्; २ भुरिक्; ४ उपरिष्टाद् विराड् बृहती।

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्व१म्।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो३ नाशयामः सदान्वाः ॥१॥

(निःसालाम्) शाला से निकाल दी गई, (धृष्णुम्) धर्षक अर्थात् पराभूत करनेवाली, (धिषणम्) धर्षणशीला अर्थात् भयोत्पादिका, (एकवाद्याम्) एक ही वाद्य[1] द्वारा गीत गानेवाली, (जिघत्स्वम्) खा जानेवाली (चण्डस्य) तथा प्रचण्ड रोग की (सर्वा नप्त्यः) इन सब अपत्यरूपा, (सदान्वाः) तथा सदा कष्टसूचक शब्दों का उच्चारण करानेवाली, स्त्रीजातिक रोग कीटाणुओं का (नाशयामः) हम नाश करते हैं।

[मन्त्र १ में बहुविध रोग-कीटाणुओं का वर्णन हुआ है। ये कीटाणु स्त्री जाति के हैं। समग्र सूक्त में इन्हें स्त्रीलिङ्गी पदों द्वारा सूचित किया है।]

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥२॥

हे रोग-कीटाणुओ! (वः) तुम्हें (गोष्ठात्) गोशाला से (निर् अजामसि) हम निकालते हैं, (अक्षात्) शकट से (निर्) निकालते हैं, (उपानसात्) रसोई के पास से (निर्) निकालते हैं। (मगुन्द्याः दुहितरः) हे मगुन्दी की पुत्रियो! (वः) तुम्हें (गृहेभ्यः) घरों से (चातयामहे) हम विनष्ट कर देते हैं।

[अजामसि = अज गतिक्षेपणयोः (भ्वादिः)। अक्ष = cart (आप्टे), अर्थात् शकट। अनस् = Kitchen (आप्टे), अर्थात् रसोई। मगुन्दी = मग

१. जैसेकि "दत्तावधानां मधुलेहगीतौ" (भट्टिकाव्य) में भ्रमर की गूँज को गीति कहकर उसके वाद्य की भी कल्पना की गई है, उसकी गीति सदा एक प्रकार की होती है, अतः उसका वाद्य भी एक ही कहा है। इसी प्रकार मच्छर की घूं-घूं को वाद्य कहा जा सकता है।

गत्यर्थः + दीङ् क्षये (दिवादिः), अर्थात् गति का क्षय करनेवाली, गति अर्थात् शरीर की क्रियाशक्ति का विनाश करनेवाली, स्त्रीजातिक रोग-कीटाणु = germs। दुहितरः = नप्त्यः (मन्त्र १)। गृहेभ्यः = सालाम् (शालाम्) मन्त्र (१)। दुहितरः तथा आगामी मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गी प्रयोगों द्वारा स्त्रीजातिक रोग कीटाणु[1] निश्चित होते हैं।]

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्य१ः।
तत्र सेदिर्न्यु१च्यतु सर्वाश्च यातुधान्य१ः ॥३॥

(असौ यः) वह जो (अधरात्) नीचे अर्थात् भूतल पर (गृहः) घर है, (तत्र) वहाँ पर (अराय्यः) अराति अर्थात् शत्रुरूप, स्त्रीजाति के रोग-कीटाणु (सन्तु) हों। (तत्र) वहाँ (सेदिः) विनाशिका निर्ऋति (न्युच्यतु) नितरां समवेत अर्थात् सम्बद्ध रहे, (च) तथा (सर्वाः यातुधान्यः) सब यातनाएँ धारण करनेवाले स्त्रीजाति के रोगकीटाणु रहें।

[अभिप्राय यह कि रोगकीटाणु शाला के भूतल पर होते हैं, शाला के उपरिभाग में नहीं। अतः यज्ञादि द्वारा वहाँ उनका विनाश करते रहना चाहिए। उच्यतु = उच समवाये (दिवादिः)।]

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४॥

(भूतपतिः) भूतभौतिक जगत् का पति परमेश्वर [निजकृपा द्वारा] (इतः) यहाँ से, (च) और (इन्द्रः) इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा निज अध्यात्म शक्ति द्वारा, (सदान्वाः) सदा कष्टसूचक आवाजें पैदा करानेवाली स्त्री-जातिक रोग-कीटाणुओं को (निर् अजतु) निकाल फेंके। (गृहस्य बुध्ने) घर के मूल में अर्थात् अधोदेश में (आसीनाः ताः) उन आसीन हुई स्त्री-जातिक[2] रोग-कीटाणुओं को (इन्द्रः) सूर्य (वज्रेण) निज किरणोंरूपी वज्र द्वारा (अधि तिष्ठतु) कुचले।

[मन्त्र (३) में और मन्त्र (४) में "अधराद् गृहः" तथा "गृहस्य बुध्ने" का अभिप्राय एक ही है। सूर्य की किरणें रोग-कीटाणुओं का नाश करती हैं, "उद्यन्त्सूर्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः" (अथर्व० २।३२।१)।]

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५॥

१. रोग-कीटाणु दो प्रकार के प्रतीत होते हैं, नर और मादा।
२. जब मादा रोग-कीटाणु कुचले गये, तब नरकीटाणु पैदा ही कहाँ से होने हुए।

(सदान्वाः) हे सदा कष्ट की सूचिकाओ ! (यदि स्थ) यदि तुम हो (क्षेत्रियाणाम्) शारीरिक अंगों सम्बन्धी, (यदि वा) अथवा (पुरुषेषिताः) रुग्ण पुरुष के संग द्वारा प्रेषित हुई, (यदि स्थ) यदि तुम हो (दस्युभ्यः) उपक्षय अर्थात् निर्बल क्षयरोगों से (जाताः) उत्पन्न, तो तुम (इतः) इस शरीर से (नश्यत) नष्ट हो जाओ।

[ये, शारीरिक रोगों के कारणीभूत स्त्रीजातिक रोगकीटाणु हैं, जिन्हेंकि मन्त्र (४) में कथित उपायों द्वारा निकाल फेंका है। दस्युभ्यः= तसु उपक्षये, दसु च (दिवादिः)। सदान्वाः=सदा णू स्तवने (तुदादिः), सदा कष्टों का स्तवन करनेवाली, कथन करनेवाली, सूचना देनेवाली।]

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरम्।
अजैषं सर्वान् आजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

(आसाम्) इन सदान्वाओं के (धामानि) स्थानों को (परिअसरम्) मैंने [शीघ्र] घेर लिया है, (इव) जैसेकि (आशुः) शीघ्रगामी अश्व (गाष्ठाम्=काष्ठाम्) युद्धभूमि के अन्त तक शीघ्र पहुँच जाता है। तथा हे सदान्वाओ ! (वः) तुम्हारे (सर्वान् आजीन्) सब युद्धों को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है। अतः (सदान्वाः) हे सदान्वाओ ! (इतः) यहाँ से (नश्यत) तुम नष्ट हो जाओ।

[काष्ठा=आज्यन्तः, संग्रामान्तः (निरुक्त २।५।१६)। आशुः अश्वनाम (निघं० १।१४) परिअसरम्=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा की उक्ति है। सदान्वाओं के स्थान हैं, शरीर, इन्द्रियाँ और मन। इनमें मादा रोग-कीटाणुओं का निवास होता है। अध्यात्मशक्ति से सम्पन्न जीवात्मा इनके धामों को घेरकर इन्हें नष्ट कर देता है। मन्त्र में आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम अभिप्रेत है।]

सूक्त १५

(१-६)। ब्रह्मा। प्राणापानायुः। त्रिष्टुप्।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥१॥

(यथा) जैसे (द्यौः च, पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी लोक (न बिभीतः) नहीं डरते, (न रिष्यतः) और नहीं हिंसित होते। (एव=एवम्) इस प्रकार (मे प्राण) मेरे हे प्राण ! (मा बिभेः) तू भय न कर [और हिंसित न हो।]

[द्युलोक और पृथिवीलोक निराधार आकाश में, सततगति से घूम रहे हैं, तो भी पतनाशंका से भयभीत नहीं होते। इसी प्रकार प्रवक्ता निज प्राण को कहता है।]

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥२॥

जैसे दिन और रात्री नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर (और न हिंसित हो)। [भय हिंसा का कारण होता है, निर्भयता रक्षा करती है।]

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥३॥

जैसे सूर्य और चन्द्र नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर [और न हिंसित हो।] [अभिप्राय मन्त्र १ वत्]।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥४॥

जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर [और न हिंसित हो।]

[ब्राह्मण निज ब्राह्मी शक्ति के कारण, और क्षत्रिय निज क्षात्रशक्ति के कारण नहीं डरते।]

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥५॥

जैसे सत्य और अनृत नहीं डरते, और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर [और न हिंसित हो।]

[सत्य और अनृत वाक्‌रूप नहीं। अपितु सत्य है परमेश्वर और अनृत है ब्रह्माण्ड। परमेश्वर सदास्थायी है, और ब्रह्माण्ड का लय भी हो जाता है, अतः यह अनृत है, सदास्थायी नहीं।]

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥६॥

जैसे भूतकाल और भविष्यत् काल नहीं डरते और हिंसित नहीं होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर [और न हिंसित हो]।

[भूतकाल और भविष्यत् काल की स्थिति सदा बनी रहती है। काल नित्य है, अतः इसकी हिंसा नहीं होती।]

सूक्त १६

(१-५)। ब्रह्मा। प्राणः अपानः आयुः। १ एकपदासुरी त्रिष्टुभ्; २ एकपदा आसुर्युष्णिक्; ३ एकपदा आसुरी त्रिष्टुभ्; ४, ५ द्विपदा आसुरी गायत्री।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥१॥

(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो (मृत्योः) मृत्यु से, (स्वाहा) सु+आह, यह ठीक कहा है।

[प्राण-अपान=श्वास-प्रश्वास; या श्वासवायु और अपान वायु, गुदावायु। इन दोनों के स्वस्थ रहते मृत्यु नहीं होती। स्वाहा="स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा" (निरुक्त ८।३।२१)।]

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥२॥

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक—और—पृथिवीलोक ! तुम (उपश्रुत्या) समीप श्रवण द्वारा (मा पातम्) मेरी रक्षा करो, (स्वाहा) सु आह।

[श्रवण का सम्बन्ध वायु के साथ है, जोकि अन्तरिक्षस्थ है, अर्थात् द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में है। द्यावापृथिवी वायु के दो ढकने हैं, इन द्वारा वायु सुरक्षित रहती है। उपश्रुति=श्रुति है वेद, "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः" (मनु)। इस श्रुति का श्रवण गुरुमुख द्वारा होता है। गुरु की धीमी आवाज को भी मैं सुन सकूँ, इसलिए "उपश्रवण" का कथन हुआ है। गुरुवाक्य द्वारा वेदश्रवण से रक्षा होती है, जीवन सुधरता है।]

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥३॥

(सूर्य) हे सूर्य ! (चक्षुषा) चक्षु द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर, (स्वाहा) सु आह।

[सूर्य के प्रकाश के बिना चक्षु देख नहीं सकती, अतः सूर्य चक्षुःप्रदाता है, और तद्-द्वारा रक्षा करता है।]

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥४॥

(वैश्वानर अग्ने) सब नर-नारियों के हितकारी, अग्निवत् प्रकाशमान हे परमेश्वर ! (विश्वैः देवैः) सब इन्द्रिय-देवों द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर, (स्वाहा) सु आह।

[इन्द्रियाँ देव हैं, विषयों का द्योतन करती हैं, उन्हें प्रकाशित करती हैं। देवः द्योतनाद्वा (निरुक्त ७।४।१५)।]

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥५॥

(विश्वम्भर) विश्व का भरण-पोषण करनेवाले हे परमेश्वर ! (विश्वेन भरसा) निज समग्र भरण-पोषण द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर (स्वाहा) सु आह।

सूक्त १७

(१-७)। ब्रह्मा। प्राणः, अपानः, आयुः। १-६ एकपदा आसुरी त्रिष्टुभ्; ७ आसुरी उष्णिक्।

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥१॥

(ओजः असि) तू ओजस् रूप है, (मे) मुझे (ओजः) ओजस् (दाः) प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त में कोई देवतनाम नहीं। पूर्व सूक्त से विश्वम्भर पद का अन्वय जानना चाहिए। ओजस् है उब्ज आर्जवे (तुदादिः), वह शक्ति जिसे देखते शत्रु ऋजु हो जाता है, और शत्रुता को त्याग देता है।]

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥२॥

(सहः असि) शत्रु का पराभव करनेवाला तेज तू है, (सहः) पराभव करने का तेज (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[मन्त्र १ और मन्त्र २ में यतः विश्वम्भर पद का अन्वय है, अतः शत्रु हैं अस्मदादि के काम, क्रोध, लोभ आदि, जिन्हें कि परमेश्वर परास्त कर देता है, उपासित हुआ।]

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥३॥

(बलमसि) तू बलरूप है, (मे) मुझे (बलं दाः) बल प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥४॥

(आयुः असि) तू आयुरूप है, (मे) मुझे आयु प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[परमेश्वर नित्य है, अतः उसकी आयु अपरिमित है, मापी नहीं जा सकती। प्रार्थी दीर्घायु की प्रार्थना करता है।]

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥५॥

(श्रोत्रम् असि) तू श्रोत्ररूप है, (मे श्रोत्रम् दाः) मुझे श्रवणशक्ति प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥६॥

(चक्षुःअसि) तू चक्षुरूप है, (मे चक्षुः दाः) मुझे दृष्टि शक्ति प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[परमेश्वर के लिए कहा है "पश्यत्यचक्षुः[1] स शृणोत्यकर्णः"।]

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥७॥

(परिपाणम् असि) तू सबका पालक है, (मे परिपाणम् दाः) मैं भी सबका परिपालक होऊँ, इसकी शक्ति मुझे प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[विश्वम्भर पद का (सूक्त १६। मन्त्र ५) से अन्वय जानना चाहिए। परिपाणम् में ल्युट् कर्त्ता में है। परिपाणम्=परिपालकः।]

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

१. परमेश्वर बिना चक्षु के देखता है, यतः वह स्वयम् चक्षुरूप है।

अनुवाक ४

सूक्त १८

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥१॥

(भ्रातृव्यक्षयणम् असि) भाई के पुत्र का क्षय करनेवाला तू है, (भ्रातृव्यचातनम्) भाई के पुत्र के विनाश करने का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त १६, मन्त्र (५) से विश्वम्भर का अन्वय अभिप्रेत है। सूक्त १८ में अन्य किसी देवता का नाम नहीं। मन्त्र में जीवात्मा की उक्ति है। जीवात्मा शरीर का स्वामी है, और मन है उसका भाई, उसके कार्यों का भरण-पोषण करनेवाला। मन भरण-पोषण न कर जब विरोधी कर्म करने वाला हो जाता है, तब इसके विरोधी विचार और कर्म भ्रातृव्य अर्थात् मन के पुत्र कहलाते हैं। जीवात्मा इनके क्षय करने का सामर्थ्य विश्वम्भर-परमेश्वर से प्रार्थित करता है।]

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

(सपत्नक्षयणम् असि) सपत्न का क्षय करनेवाला तू है, (सपत्न-चातनम्) सपत्न के विनाश करने का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त में सर्वत्र विश्वम्भर पद का अन्वय अभिप्रेत है। शरीर का स्वामी या पति है जीवात्मा। जब जीवात्मा को निज दोष दूषित करने लगते हैं, तब ये दोष जीवात्मा के सपत्न कहाते हैं। एक ही पति जीवात्मा के शत्रु बन जाते हैं। जीवात्मा के शुभ विचार तो उसके मित्र होते हैं और अशुभ विचार सपत्न होते हैं।]

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

(अरायक्षयणम्, असि) अदानभावनाओं का क्षय करनेवाला तू है, (अरायचातनम्) अदान-भावनाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥४॥

(पिशाचक्षयणम् असि) पिशाचों का क्षय करनेवाला तू है, (पिशाच-

चातनम्) पिशाच भावनाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[पिशाच भावनाएँ हैं, काम, क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि। पिशाच= पिशं पिशितं मांसम् (सायण)+अच्(याचने भ्वादिः), काम आदि शारीरिक और मानसिक शक्तियों की याचना करते हैं, उन्हें चाहते हैं, उनका भक्षण करते रहते हैं। सूक्त में आध्यात्मिक भावनाओं का कथन हुआ है, और विश्वम्भर पद का अन्वय है।]

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५॥

(सदान्वाक्षयणम् असि) सदा कष्ट की आवाजों का उच्चारण कराने वाली स्त्री जातिक रोग कीटाणुओं का क्षय करनेवाला तू है, (सदान्वा-चातनम्) सदान्वाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

सूक्त १६

(१-५)। अथर्वा। अग्निः। १-४ निचृद् विषमा गायत्री; ५ भुरिग् विषमा।

अग्ने यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यत् ते तपः) जो तेरा ताप है, (तेन) उस द्वारा (तम्) उसे (प्रति तप) तपा (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) और जिसके साथ (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं।

[मन्त्र में अस्मान्-और-यम् द्वारा समाज और व्यक्ति को सूचित किया है। जो व्यक्ति समाज के साथ द्वेष करता है अतः जिसके साथ समाज प्रीति नहीं करती उसे अग्नि के प्रति समर्पित किया है, उचित दण्ड देने के लिये। द्वेष्टि=द्विष अप्रीतौ (अदादिः)। व्यक्ति तो समाज के साथ भावात्मक द्वेष करता है, इसलिये समाज उसके साथ अप्रीति करता है। सूक्त १६-२३ में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आपः का वर्णन हुआ है। अग्नि आदि नाम परमेश्वर के भी हैं। यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१)। परमेश्वर के ही नाम हैं अग्नि, आदित्य अर्थात् सूर्य, वायु, चन्द्रमा, आपः, शुक्र, ब्रह्म और प्रजापति। अतः इन ५ सूक्तों में परमेश्वर का भी वर्णन है। इन ५ सूक्तों में "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः" द्वारा मनसापरिक्रमा मन्त्रों को सूचित किया है, जिनमें कि द्वेष्टा और अप्रीति करनेवालों को परमेश्वर के जम्भ

के प्रति समर्पित किया है और समाज स्वयं उसे दण्ड नहीं देता। परमेश्वर के प्रति समर्पण इसलिये कि वह ही सच्चा न्यायकारी है, दण्डव्यवस्था के लिये। अग्नि के सम्बन्ध में "तपः" है संतापन शक्ति, "हरः" है संहार शक्ति, "अर्चिः" है ज्वाला, "शोचिः" है शोकजननशक्ति, शुच शोके (भ्वादिः), "तेजः" है प्रसिद्ध तेज। परमेश्वर के सम्बन्ध में "तपः" है "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मुण्डक० उप० मण्डक १, खण्ड १), "हरः" है संहारशक्तिः; "अर्चिः" है सौरार्चिः सौरज्वाला (यथा[1] गीता ११।१२), तेजः है परमेश्वर का तेज, तेजस्वी प्रकाश।]

अग्ने यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

(हरः की व्याख्या के लिये देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

अग्ने यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

(अर्चिः की व्याख्या के लिये देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४॥

(शोचिः की व्याख्या के लिये देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५॥

(तेजः की व्याख्या के लिये देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

"तपः हरः" आदि के अर्थ अग्नि का अर्थ परमेश्वर मानने में ही चरितार्थ होते हैं, पार्थिव अग्नि में नहीं, यह जड़ है। जड़ का सम्बोधन केवल कविता में सम्भव है।

सूक्त २०

वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

वायु का मुख्य अर्थ है परमेश्वर। जैसे अग्नि का शासक होने से अग्नि

१. अथवा "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक उप० २।२)।

है परमेश्वर, वैसे वायु का शासक होने से वायु है परमेश्वर। जैसे देवदत्त आदि नाम न केवल शरीर के हैं, और न केवल जीवात्मा के, अपितु शरीर विशिष्ट जीवात्मा के हैं, वैसे ही वायु, आदि नाम वायुविशिष्ट परमात्मा के हैं। वायु आदि परमेश्वर के शरीरसदृश हैं। उदाहरणार्थ "यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदा० उपनिषद् ब्राह्मण ७, खण्ड ७)। ब्राह्मण ७, खण्ड १ से २३ द्रष्टव्य हैं।

वायो यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

अर्थ और भाव पूर्ववत्। हरः है संहारशक्ति।

वायो यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

अर्थ और भाव पूर्ववत्। अर्चिः है ज्वाला।

वायो यत् ते शोचिस्तेन तं प्रतिशोच योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

अर्थ और भाव पूर्ववत्। शोचि है, पापियों को कर्मफल प्रदान द्वारा शोकाविष्ट करना। यह परमेश्वर करता है।

वायो यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥५॥

अर्थ और भाव पूर्ववत्। तेजः है परमेश्वर का तेजःस्वरूप, प्रकाशमय स्वरूप। वह पापियों के तेजः का अपहरण कर लेता है, और धर्मात्माओं के तेज और यश का संवर्धन करता है। तथा वायु के कारण अग्नि का प्रज्वलन होता है। वायु[1] कारण है और अग्नि कार्य है। कार्य के गुणों का आरोप कारण में हुआ है, कारणे कार्योपचारः। तथा प्रचण्ड वायु वृक्षों आदि का अपहरण करती है। अतः इसमें "हरः" गुण स्वतः विद्यमान है। ग्रीष्म ऋतु में यह प्रतप्त हो जाती है। अतः इसमें "तपः" गुण भी विद्यमान है। अर्चिः और शोचि गुण की सत्ता अग्नि के कारण होने से है।

सूक्त २१

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रतितप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

(सूर्य) हे सूर्य (यत्) जो (ते तपः) तेरा ताप है (तेन) उस द्वारा (तम्

१. वायु को "अग्निसखः" भी इसलिये कहते हैं।

प्रति) उसे (तप) तू तपा (यः अस्मान्) जो हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम् वयम् द्विष्मः) इसलिये जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते।

(सूर्य द्वारा परमेश्वर भी अभिप्रेत है जिसे कि आदित्य कहा है (यजु० ३२।१)।

सूर्य यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

(सूर्य) हे सूर्य ! (यत् ते) जो तेरा (हरः) हरणसामर्थ्य है (तेन) उस द्वारा (तं प्रति हर) उसका हरण कर...। शेष का अर्थ और भाव पूर्ववत्। सूर्य अन्धकार का हरण करता है, तद्वत् उस द्वेष्टा का हरण कर।

सूर्य यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

(अर्चिः) ज्वाला। सूर्य में गर्म ज्वालाएँ उठती रहती हैं, सूर्यरश्मियाँ भी उस ज्वाला के अंशरूप हैं।

सूर्य यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

(शोचिः) शोकित करना। शेष का अर्थ और भाव पूर्ववत्।

सूर्य यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥५॥

(तेजः) तेजप्रकाश। द्वेष्टा की आँखों से निज तेज का अपहरण करना, अथवा उसकी आंखों को चौंधिया देना।

सूक्त २२

चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रतितप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

(चन्द्र) हे चांद ! (यत् ते तपः) जो तेरा ताप है (तेन) उस द्वारा (तम् प्रति) उसे (तप)तपा, (यः) जो द्वेष्टा (अस्मान् हमारे साथ द्वेष करता है, अतः (यम्, वयम् द्विष्मः) जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते।

[चन्द्र द्वारा चन्द्रमा अर्थात् परमेश्वर भी अभिप्रेत है(यजु०३२।१)। परमेश्वरार्थ मुख्य है। वह निज आह्लादक तथा प्रदीप्त स्वरूप द्वारा आध्यात्मिक देवासुर संग्राम में आसुर विचारों तथा कर्मों को तपा देता है, संतप्त कर देता है। चदि आह्लादने दीप्तौ च (भ्वादिः)। प्राकृतिक चांद तो रात्रीकाल में अन्धकार को ही तपाता है, संतप्त करता है, हटाता है। आगामी मन्त्रों में भी परमेश्वरार्थ ही मुख्य है।]

चन्द्र यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

(प्राकृतिक चांद में हरण है अन्धकार का हरण, और परमेश्वरार्थ में हरण का अर्थ है आध्यात्मिक आसुर विचारों और कर्मों का हरण)।

चन्द्र यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

[प्राकृतिक चांद की अर्चिः अर्थात् ज्वाला है चांद द्वारा प्रतिक्षिप्त रश्मियां; परमेश्वर के सम्बन्ध में अर्चिः अर्थात् ज्वाला है, उसकी "भासा" (यथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक उपनिषद् २।२)।]

चन्द्र यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

[चन्द्र द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है, जोकि दुष्कर्मी को उसके दुष्कर्मों के फलस्वरूप में शोकान्वित करता है। प्राकृतिक चाँद में शोकान्वित करने का कोई अभिप्राय प्रतीत नहीं होता।]

चन्द्र यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥५॥

[चन्द्र द्वारा परमेश्वर ही प्रतीत होता है जोकि निज तेज द्वारा दुष्कर्मी को उसके दुष्कर्म के फलरूप में निस्तेज कर देता है।]

सूक्त २३

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥१॥

[आपः है व्यापक परमेश्वर (यजुः० ३२।१), आप्लृ व्याप्तौ (स्वादिः)। प्राकृतिक आपः अर्थात् जल में तपाने की शक्ति गौण है।]

आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥२॥

[आपः है व्यापक परमेश्वर जोकि प्रलयकाल में सबका हरण कर लेता है। प्राकृतिक आपः अर्थात् जल में यह शक्ति विद्यमान नहीं। आपः पद नित्य बहुवचनान्त ही है।]

आपो यद् वोर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥३॥

[परमेश्वरार्थ में अर्चिः है परमेश्वर की ज्वाला, जोकि प्रखर अग्नि-रूप में देवासुर संग्राम में प्रकट होती है, आध्यात्मिक देवासुर संग्राम में आसुर विचारों और कर्मों को भस्मीभूत करने के लिए। परमेश्वर तो निज इच्छामात्र से ही नाश कर देता है आसुर विचारों और कुकर्मों का, तथापि अर्चिः पद के कारण उसके आग्नेयस्वरूप का कथन किया है। आसुर विचार और कर्म हमारे द्वेष्टा हैं, द्वेष करनेवाले हैं।]

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

[परमेश्वरार्थ में परमेश्वर की शोचि है शोकित करने की शक्ति। आसुर विचारों तथा कर्मों को शोकित करना, कवितादृष्टि से है। आपः= व्यापक परमेश्वर।]

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥५॥

[परमेश्वर तेजःस्वरूप है, वह निज तेज द्वारा आसुर विचारों और कर्मों के तेज को तेजोरहित कर देता है, जिससे आसुर विचार और कर्म व्यक्ति पर निज प्रभाव नहीं कर पाते। यह कथन आध्यात्मिक देवासुर संग्राम की दृष्टि से है।]

राष्ट्रिय दृष्टि से विचार

राष्ट्रिय दृष्टि से राष्ट्र के राजा के स्वरूप पर निम्नलिखित श्लोक विशेष प्रकाश डालता है। यथा "सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्। स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६) तथा (मनु० ७।७)।

इस श्लोक में राजा को अग्नि, वायु, सूर्य [अर्कः], चन्द्र [सोमः], आपः, [वरुणः] द्वारा कहा है। वरुण है "अपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। यतः आपः का अधिपति है वरुण, इसलिए अधिपति द्वारा आपः का कथन हुआ है। अग्नि से आपः तक का कथन अथर्व० २।१९-२३ में भी हुआ है। अतः मनु० और अथर्व० में दैवतसाम्य है। अथर्व० में जो "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः" कहा है वह शत्रु राष्ट्र का राजा और वैदिकराष्ट्र का राजा है। इस प्रकार राष्ट्रिय दृष्टि से वास्तविक राष्ट्रिय शत्रुओं को निर्दिष्ट किया है।

सूक्त २४

(१-८)। ब्रह्मा। आयुष्यम्। पांक्तम्।

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

(शेरभक) शक्तिशाली अतः सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर बलात्कार या आक्रमण करनेवाले! (शेरभ) सुखपूर्वक शयन करनेवाले पर बलात्काररूप हे राजवर्ग! (वः) तुम्हारे (यातवः) यातना देनेवाले सैनिक (पुनः) फिर लौटकर (वः) तुम्हें (यन्तु) प्राप्त हों। (हेतिः) तुम्हारे अस्त्र, (किमीदिनः) अब क्या हो रहा है, ऐसे प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले तुम्हारे गुप्तचर (पुनः) फिर लौटकर तुम्हें प्राप्त हों। "यस्य स्थ तम् अत्त यो वः प्राहैत् तम् अत्त स्वा मांसान्यत्त" इसकी व्याख्या (मन्त्र २) की व्याख्या में कर दी गई है, उसे देखो।

[शेरभक=शे+रभ् (राभस्ये, भ्वादिः)+कः (करोतीति), सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर बलात्कार करनेवाले, आक्रमण करनेवाले, शेरभ अर्थात् सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर उग्ररूप हे परराष्ट्र के राजवर्ग! [शेष व्याख्या मन्त्र २ में देखो। प्राहैत्=प्राहैषीत्, हि गतौ, लुङि रूपम् (सायण)।]

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२॥

शयन करनेवाले राष्ट्र के आधार पर निजवृद्धि करनेवाले हे शत्रु-राजन्! (शेवृध) शयन करनेवाले राष्ट्र के आधार पर वृद्धिरूप हे शत्रु-राजन्! (वः यातवः) तुम्हारे यातनारूप सैनिक (पुनः) फिर (यन्तु) वापिस चले जायें, (हेतिः) अस्त्र (पुनः) फिर, (किमीदिनः) किम् इदानीम् क्या अब हो रहा है ऐसे प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले गुप्तचर वापिस चले जायें। (यस्य स्थ) जिसके तुम हो (तम् अत्त) उसे खाओ, (यः वः प्राहैत्) जिसने तुम्हें प्रेषित किया है (तम् अत्त) उसे खाओ, (स्वा मांसानि अत्त) अपने मांसों को खाओ।

[शयन किया राष्ट्र शक्तिशाली है, अतः वह निश्चिन्त हुआ सुखपूर्वक शयन करनेवाला है। परन्तु ऐसे राष्ट्र पर सैनिक आदि ने आक्रमण किया है। उन सैनिकों को शक्तिशाली राष्ट्र ने परास्त कर फिर वापिस कर दिया है। अतः उनमें पारस्परिक विद्रोह भावना हो गई है और वे

परस्पर युद्ध करके विनष्ट होते हैं, निज मांसों का ही अदन करने लगते हैं— यह अभिप्राय मन्त्र में निहित है।]

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

[म्रोक अनुम्रोक=कुटिल गतिवाले सेनाधिपति तथा तदनुरूप सेनानायक। ये कुटिल गति अर्थात् चाल से आक्रमण कर देते हैं। दो का कथन इसलिये हुआ है कि ये दो परस्पर विचार विमर्श कर आक्रमण करें। शेष का अभिप्राय पूर्ववत्। म्रुच, गत्यर्थः (भ्वादिः), कुटिल गति अभिप्रेत है, अर्थात् कुटिल चाल।]

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

[सर्पानुसर्प=म्रोक और अनुम्रोक का ही सर्पानुसर्प द्वारा पुनः कथन हुआ है। ये वे सेनाधिपति तथा तदनुरूप सेनानायक हैं, जोकि सर्प के सदृश सदा कुटिल गति अर्थात् चाल से आक्रमण करने में कुशल हैं। सर्प सदा कुटिल गति से गमन करता है, सीधी गति से नहीं। सर्प=सृप्लृ गतौ (भ्वादिः), गति अर्थात् कुटिल गति, शेष अर्थ पूर्ववत्।]

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः[1]।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

[जूर्णिः=जूरी हिंसावयोहान्योः (दिवादिः), हिंसार्थ अभिप्रेत है। जूर्णि है हिंस्र सेना, शत्रु राजा द्वारा भेजी हुई। जूर्णि स्त्रीलिङ्ग सम्बुद्ध्यन्त पद है। जूर्णिः=जूरी+क्तः+ङीष् (कृदिकारादक्तिनः इति), ततः ह्रस्वत्वम् (अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः इति)। शेष अर्थ, पूर्ववत्।]

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

[उपब्दे=उप (उपस्थित होकर युद्धस्थली में)+बद (स्थिरतापूर्वक युद्ध करनेवाली हे शत्रुसेना!)। बद स्थैर्ये (भ्वादिः)। यह शत्रु की सेना है, जोकि पराजित होकर निजराष्ट्र में वापिस लौट जाती है।]

---

१. स्त्रीलिङ्ग पद द्वारा गुप्तचर स्त्रियाँ अभिप्रेत हैं।

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥

[अर्जुनि=युद्ध में अर्जित प्रतिष्ठावाली हे शत्रुसेना, अथवा युद्ध-विजय में प्रतियत्नशील हे शत्रुसेना ! अर्ज अर्जने (भ्वादिः), अर्ज प्रतियत्ने (चुरादिः) । शेष अर्थ पूर्ववत् ।]

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

(भरूजि) भर्जन कर सकनेवाली हे शत्रुसेना ! ("पुनर्वो यन्तु" आदि पूर्ववत् । भर्जन=भ्रस्ज पाके (तुदादिः) । भर्जन=भूनना, शस्त्रास्त्रों द्वारा ।

सूक्त २४ का अभिप्राय

सूक्त २४ में दो राष्ट्रों का वर्णन हुआ है । एक राष्ट्र तो वह है जोकि शक्तिशाली होने के कारण निज शक्ति के भरोसे सुखपूर्वक शयन करता है, और समझता है कि वह सब प्रकार से सुरक्षित है, उस पर न तो कोई बलात्कार कर सकता है, और न आक्रमण । दूसरा राष्ट्र शत्रुराष्ट्र है जोकि अपने-आपको शक्तिशाली समझता है । अतः उसने सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया है, परन्तु वह वस्तुतः शक्तिशाली नहीं । अतः वह सर्पवत् कुटिल चालों का अवलम्बन किये हुए है । इन दोनों राष्ट्रों में युद्ध आरम्भ हो जाता है । सुखपूर्वक शयन किये हुआ राष्ट्र सन्मार्गगामी है, और आक्रमण करनेवाला राष्ट्र कुटिल चालों द्वारा उस पर बलात्कार तथा आक्रमण कर देता है । परिणामतः उसकी पराजय हो जाती है । सुखपूर्वक शयन करनेवाला राष्ट्र पराजित हुए राष्ट्र की सेना का हनन नहीं करता, अपितु उसे और उसकी हेति आदि अस्त्र-शस्त्र को उसके राष्ट्र में वापिस कर देता है । वापिस किए गए राष्ट्र में पराजय के कारण विद्रोह भावना उत्पन्न हो जाती है । अतः वे परस्पर में युद्ध कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, और निज प्रेषक का भी हनन कर देते हैं । सूक्त २४ द्वारा यह कथन सार्थक होता है कि सन्मार्गी राष्ट्र असन्-मार्गी राष्ट्र पर सदा विजय पाता है । असन्मार्गी राष्ट्र के सम्बन्ध में यह कथन सार्थक हो जाता है कि—

"अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

सूक्त २५

(१-५) । चातनः । वनस्पतिः । अनुष्टुभ्; ४ भुरिक् ।

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः ।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥१॥

(देवी) दिव्यगुणोंवाली (पृश्निपर्णी) चित्रपर्णोंवाली ओषधि ने (नः) हमें (शम् अकः) सुखी किया है, और (निर्ऋत्यै) कृच्छ्रापत्ति के लिए (अशम्) दुःख किया है । (कण्वजम्भनी) कण्व का नाश करनेवाली (हि) निश्चय से (उग्रा) कण्व के विनाश करने में उग्ररूपा है । (ताम्) उस (सहस्वतीम्) रोगपराभव करनेवाली का (अभक्षि) मैंने भक्षण किया है, [या मैंने अनुलेपन आदि द्वारा सेवन किया है] (सायण) ।

[कण्वस्य=पापस्य (सायण) । कण्व=कण सदृश सूक्ष्म रोग कीटाणु (germs) ।]

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।
तयाऽहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥२॥

(सहमाना) रोगों का पराभव करनेवाली (पृश्निपर्णी) चित्रपर्णी-वाली ओषधि (प्रथमा) अन्य ओषधियों में मुखिया (अजायत) पैदा हुई है । (अहम्) मैं (तया) उस द्वारा (दुर्णाम्नाम्) दुष्परिणामोंवाले रोगों को (वृश्चामि) काटता हूँ, (इव) जैसेकि (शकुनेः) पक्षी का (शिरः) सिर काटा जाता है ।

अरायमसृक् पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥

(असृक् पावानम्) शरीर के रक्त को पीनेवाले, (अरायम्) अराति अर्थात् शत्रुरोग को, (यः च) और जो (स्फातिम्) शरीर की वृद्धि का (जिहीर्षति) अपहरण करना चाहता है, (गर्भादम्) गर्भ के भक्षक (कण्वम्) कण्व का (नाशय) नाश कर (पृश्निपर्णि) हे पृश्निपर्णी ! (सहस्व च) और उसका पराभव कर ।

[कण्व, गर्भ का भक्षण करता है,—इससे ज्ञात होता है कि कण्व रोगकीटाणु हैं ।]

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४॥

(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवनापहारी (कण्वान्) कणसदृश सूक्ष्म रोगकीटाणुओं को (गिरिम् आवेशय) तू निगीर्ण[1] कर। (देवि पृश्निपर्णि) हे दिव्य गुणोंवाली पृश्निपर्णी! (त्वम्) तू (तान्) उन कण्वों को (अग्निः इव) अग्नि के सदृश (अनु दहन्) निरन्तर दहन करती हुई (इहि) जा।

[गिरिम्=गॄ निगरणे (तुदादिः)। अथवा "गिरिम् आवेशय=पर्वतं स्वसंचाररहितं प्रवेशय (सायण)]।

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॒न् जी॑वित॒योप॑नान्।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

(जीवितयोपनान्) जीवनापहारी (एनान्) इन (कण्वान्) कणसदृश सूक्ष्म रोगकीटाणुओं को (पराचः) हमसे पराङ्मुख (प्रणुद) प्रेरित कर। (यत्र) जहां [सूर्योदय होने पर] (तमांसि गच्छन्ति) अन्धकार चले जाते हैं (तत्) उस स्थान में (क्रव्यादः) मांसभक्षक रोगकीटाणु को [पृश्निपर्णी द्वारा] (अजीगमम्) मैंने भेज दिया है। मन्त्रोक्ति ओषधि प्रयोक्ता की है।

सूक्त २६

(१-५)। सविता। पशवः। त्रिष्टुप्; ३ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ४-५ अनुष्टुप् (४ भुरिक्)।

एह य॑न्तु प॒शवो॒ ये प॑रे॒युर्वा॒युर्येषां॑ सहचा॒रं जु॒जोष॑।
त्वष्टा॒ येषां॑ रूप॒धेया॑नि वे॒दास्मिन् तान् गो॒ष्ठे स॑वि॒ता नि य॑च्छतु ॥१॥

(इह) यहां (आ यन्तु) आ जांय (पशवः) पशु (ये) जोकि (पराऽईयुः) परे गये हैं [चरने के लिये], (येषाम् सहचारम् वायुः जुजोष) जिनका, साथ-विचरना, वायु ने किया है। (त्वष्टा) सूर्य (येषाम्) जिनके (रूपधेयानि) रूपों अर्थात् स्वरूपों को (वेद) जानता है, (तान्) उनको (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (सविता) प्रातःकाल का उदित हुआ सूर्य (नि यच्छतु) नियमित करे [स्थित रहने दे]। जुजोष=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है। पशु चरने के लिये गोशाला से बाहर खुले वायुमण्डल में जाते हैं, मानो वहां उनका साथी होता है वहां का वायु, उनकी रक्षा के लिये। त्वष्टा[2] है रश्मियों से आकीर्ण सूर्य, जोकि पशुओं के

१. खा जा, विनष्ट कर। २. त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः (निरुक्त ८।२।१३)।

स्वरूपों का भेदज्ञापक होता है। सविता[1] का काल है उदीयमान सूर्य; इस काल तक पशु गोशाला में ही नियमित रहते हैं।]

इ॒मं गो॒ष्ठं प॒शवः॒ सं स्र॑वन्तु॒ बृह॒स्पति॒रा न॑यतु प्रजा॒नन्।
सि॒नी॒वा॒ली न॑य॒त्वाग्र॑मेषामाज॒ग्मुषो॑ अनुमते॒ नि य॑च्छ ॥२॥

(पशवः) पशु (इमम् गोष्ठम्) इस गोशाला में (सम्) मिलकर (स्रवन्तु) शनैः-शनैः आ जायें। (बृहस्पतिः) बृहत्-पशुसमूह का रक्षक गोपाल, (प्रजानन्) प्रत्येक पशु को पहिचानता हुआ (आ नयतु) इन्हें वापिस ले आए। (सिनीवाली) अन्नाधिष्ठात्री सुन्दर बालोंवाली सेविका (एषाम्) इन पशुओं के (अग्रम्) श्रेष्ठ खाद्य को (आ नयतु) लाए। (अनुमते) हे सिनीवाली के अनुमत होती हुई तू (आ जग्मुषः) आए हुए पशुओं को (नि यच्छ) उन-उन के नियत स्थानों में उन्हें नियत कर दे, बांध दे।

[सिनीवाली तथा अनुमति, ये गृह्य-सेवा करनेवाली हैं। ये ही गृह्य-पशुओं की भी सेवाओं में नियुक्त की हुई हैं। गृह्य-सेवा करने में स्त्रियां कुशल होती हैं। वाली=स्त्रियां स्वभावतः निज केशों को संवार कर रखती हैं। ये देवपत्नियां हैं (निरुक्त ११।३।२२), दिव्यगुणोंवाले परिचारकों की पत्नियां हैं; यथा "सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः।" सिनीवाली और अनुमति सम्भवतः बृहस्पति की पत्नियां हों।]

सं सं स्र॑वन्तु प॒शवः॒ सम॒श्वाः समु॒ पूरु॑षाः।
सं धा॒न्य॑स्य॒ या स्फा॒तिः सं॑स्रा॒व्ये॑ण ह॒विषा॑ जुहोमि ॥३॥

(पशवः) गौएँ (सं सं स्रवन्तु) परस्पर मिलकर प्रवाहित होती आएँ, (अश्वः) अश्व (सम्) मिलकर आएँ, (पुरुषाः) पुरुष (सम्, उ) परस्पर मिल कर आएँ। (धान्यस्य) धान्य की (या स्फातिः) जो समृद्धि है वह (सम्) मिलकर आए, (सं स्राव्येण हविषा) परस्पर मिली हुई हवि द्वारा (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ।

[सामूहिक यज्ञ का वर्णन है, जिसमें दूध के लिये गौएँ आवें, अश्वारोही सैनिक आवें, सर्वसाधारण पुरुष तथा स्त्रियां आवें। प्रभूत धान्यादि अन्न आवे, मैं परस्पर के सहयोग से प्राप्त हवि द्वारा आहुतियां देता हूँ।]

सं सि॑ञ्चामि॒ गवां॑ क्षी॒रं समाज्ये॑न॒ बलं॒ रस॑म्।
संसि॑क्ता अ॒स्माकं॑ वी॒रा ध्रु॒वा गावो॒ मयि॒ गोप॑तौ ॥४॥

१. तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति (निरुक्त १२।२।१३)।

(गवाम् क्षीरम्) गौएँ के दूध को (सम् सिञ्चामि) समागत व्यक्तियों में मैं सींचता हूँ, उन्हें पिलाता हूँ, (आज्येन) गौओं के घृत द्वारा (बलम्) शारीरिक बल तथा (रसम्) शारीरिक रससमूह को सींचता हूँ। (अस्माकम् वीराः) हमारे वीर पुरुष तथा पुत्र (सं सिक्ताः) सम्यक् सींचे गये हैं [दूध तथा आज्य द्वारा), (मयि गोपतौ) मुझ गोस्वामी में (ध्रुवाः) स्थिर रूप में (गावः) गौएँ हों।

[रसम्=शरीर के रस, अर्थात् रक्त तथा अन्य रस।]

आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥५॥

(इदम् अस्तकम्) इस घर में (गवाम् क्षीरम्) गौएँ और गौओं का दूध (आ हरामि) मैं लाता है, (धान्यम् रसम्) धान्य तथा रस [फलादि का] (आहार्षम्) मैं लाया हूँ। (अस्माकम् वीराः) हमारे पुत्र तथा अन्य सन्तानें (आहृताः) लाए गये हैं, (पत्नीः) पुत्रों आदि की पत्नियां (आ) लाई गई हैं।

[अस्तकम्=अस्तकम् गृहनाम (निघं० ३।४)। नवनिर्मित गृह है। इसे गौओं आदि को लाकर बसाया गया है।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

अनुवाक ५

सूक्त २७

(१-७)। कपिञ्जलः। वनस्पतिः। अनुष्टुभ्।

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥१॥

(प्राशम्) प्रकर्षरूप में भोजन[1] करनेवाले को (शत्रुः) शत्रु (नेत्) नहीं (जयाति) जीते, (सहमाना अभिभूः असि) शत्रु को सहन करनेवाली तथा उसका पराभव करनेवाली तू है। (प्राशम्)[2] प्रकर्षरूप में भोजन करने वाले को उद्दिष्ट करके (प्रतिप्राशः) प्रतिद्वन्द्वी प्राशों को (ओषधे) हे ओषधि तू (जहि) मार (अरसान् कृणु) और उन्हें रसविहीन कर। (ओषधिः=पाटा) (मन्त्र ४)।

[प्राशम्=प्र+अश भोजने (क्र्यादिः)।]

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥२॥

(सुपर्णः) गरुड़ ने (त्वा) तुझे (अनु अविन्दत्) ढूंडा, तेरा अन्वेषण किया, (सूकरः) सूअर ने (नसा) नाक के द्वारा (त्वा) तुझे (अखनत्) खोद कर भूमि से निकाला। (प्राशम्……) अर्थ पूर्ववत्।

[पाटा ओषधि के पहिचान के साधन हैं सुपर्ण और सूअर।]

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्यः स्तरीतवे।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥३॥

(इन्द्रः) जीवात्मा ने (त्वा) तुझे (बाहौ) निज बाहु में (चक्रे) किया, पकड़ा, (असुरेभ्यः) असुरों के लिये, (स्तरीतवे) अर्थात् उनके विनाश के लिये (प्राशम्…) अर्थ पूर्ववत्।

---

१. अथर्व० (६।१३५।१-३)।

२. प्राशं प्रष्टारं वादिनम्, "प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्"। "क्विब्वचि" (अष्टा० वार्तिक ३।२।१७८), इत्यादिना क्विप्। "च्छ्वोः" (अष्टा० १।४।१९) इति सतुकस्य छकारस्य शकारः)। प्रतिप्राशः=प्रतिकूलप्रश्नकर्तॄन् प्रतिवादिनः (सायण)।

["बाहौ" पद द्वारा सशरीर जीवात्मा कहा है। स्तृणाति वधकर्मा (निघं० २।१९)। बाहौ=बाहुसंलग्ने हस्ते, यथा "गङ्गायां घोषाः"=गङ्गातटे घोषाः)। मन्त्र में बाँधने अर्थ का निर्देशक कोई पद नहीं।]

पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्यः स्तरीतवे ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥४॥

(पाटाम्) पाटा[1] को (इन्द्रः) जीवात्मा ने (वि आश्नात्) खाया (असुरेभ्यः) असुरों के लिये, (स्तरीतवे) अर्थात् उनके वध के लिये। (प्राशम्…) अर्थ पूर्ववत्।

[इन्द्र अर्थात् जीवात्मा ने खाया। खाना धर्म शरीर का है। अतः जीवात्मा सशरीर[2] है। प्राशम् अश भोजने (सायण)। अतः "प्राश" शब्द प्रश्नार्थक नहीं, जैसेकि सायण ने इस सूक्त में पूर्व के मन्त्र[3] में कहा है। पाटा के स्थान में "पाठा" पाठ (सायण)।]

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥५॥

(तया अहम्) उस ओषधि द्वारा मैं (शत्रून्) आसुर शत्रुओं का (साक्षे) पराभव करता हूँ, (इव) जैसेकि सशरीर जीवात्मा ने (सालावृकान्) शरीररूपी शाला अर्थात् गृह के असुरों का पराभव किया। ओषधि=मन्त्र (२)।

[साक्षे=सह (पराभवे)+सिप् (सिप् बहुलं लेटि, अष्टा० ३।१।३४)। "सिप् बहुलं छन्दसि णिद् वक्तव्यः" (अष्टा० ३।१।३४) अष्टा० वार्तिक (सायण)। सालावृकान् द्वारा प्रतीत होता है कि ये शरीरवासी वृक हैं, आसुर विचार और आसुर कर्म, आध्यात्मिक देवासुर संग्राम के।]

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥६॥

(रुद्र) हे रौद्र कर्म करनेवाले ! [मध्यस्थानी इन्द्र=विद्युत्], (जलाषभेषज) हे उदक द्वारा चिकित्सा करनेवाले, (नीलशिखण्ड) हे नीली शिखा तथा नीले पुंछ सहित मोरोंवाले ! (कर्मकृत्) हे कृषिकर्म के करनेवाले मेघ !।

१. पाटा=उत्पाटनशीला ओषधि, अर्थात् असुरों को उत्पाटन करनेवाली ओषधि (मन्त्र २)।
२. इन्द्र जीवात्मा इन्द्रियों का प्रेरक है।
३. मन्त्र (१) की टिप्पणी।

[मन्त्र में मेघ का वर्णन प्रतीत होता है। रुद्र है मध्यस्थानी इन्द्र अर्थात् विद्युत्। इन्द्र जब मेघ में चमकता है, तब उसके वज्रपात द्वारा वृक्ष आदि जलते हैं, यह उसका रौद्रकर्म है। मेघच्युत उदक शुद्ध होता है, उस शुद्ध उदक द्वारा जलचिकित्सा करनी चाहिए। भौम उदक शुद्ध नहीं होता, उसमें भौमतत्त्व मिश्रित रहते हैं। वर्षा-काल में मोर-मोरनियाँ प्रसन्न होती हैं। मेघ की वर्षा, कृषिकर्म में सहायक होती है और प्राश अर्थात् अशन-योग्य अन्न प्राप्त होता है। जलाषम् उदकनाम (निघं० १।१२)। यद्यपि इन्द्र पद द्वारा मुख्यतः सशरीर जीवात्मा का वर्णन हुआ है, तथापि सूक्त में इन्द्र पद द्व्यर्थक होने से प्रसङ्गवश अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र अर्थात् विद्युत् का तथा तत्सम्बन्धी मेघ का भी वर्णन हुआ है। यथा "वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः" (निरुक्त० ७।२।५)। अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र को रुद्र कहा है।]

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

(इन्द्र) हे इन्द्रिय शक्तियोंवाले सशरीर जीवात्मन् ! (तस्य) उसके (प्राशम्) प्रकृष्ट अशनीय भोजन को (त्वम्) तूं (जहि) नष्ट कर, (यः) जोकि (नः) हमारा (अभिदासति) क्षय करता है या हमें अपना दास बनाता है। (शक्तिभिः) निज शक्तियों के साथ (नः) हमें (अधिब्रूहि) अधिकारपूर्वक तू कथन कर, और (प्राशि=प्राशिम्) प्राशनकर्ता मुझको (उत्तरम्) उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ (कृधि) कर।

[अभिदासति=दसु उपक्षये (दिवादिः)। मन्त्र में आसुरकर्म का कथन हुआ है। यह हमारा क्षय करता और हमें निजदास करता है। जहि=उसके प्राशन के प्रभाव को नष्ट कर। आसुर कर्म असुरों में परिपुष्ट होते हैं, मानो असुरों के आसुर भोजनों के द्वारा। अतः उनका विनाश अभीष्ट है।]

सूक्त २८

(१-५)। शम्भुः। जरिमा, आयुः। त्रिष्टुप्; १ जगती; भुरिक्।

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥१॥

(जरिमन्) हे जरावस्था ! (तुभ्यम् एव) तेरे लिए ही (अयम्) यह बालक (वर्धताम्) बढ़े, (इमम्) इसे (अन्ये मृत्यवः) अन्य मृत्युएँ (मा

हिंसिषुः) न हिंसित करें (ये शतम्) जोकि १०० हैं। (माता इव) माता जैसे (उपस्थे) गोद में (पुत्रम्) पुत्र को [रखकर] (एनम्) इसे (अंहसः) पाप या मृत्यु से रक्षित करती है, वैसे (मित्रः) स्नेही पिता (एनम्) इस पुत्र को (प्रमनाः) प्रमुदित मनवाला हुआ (मित्रियात्) मित्रों से प्राप्त होनेवाले (अंहसः) पाप या मृत्यु से (पातु) सुरक्षित करे।

[जरिमा=ज वयोहानौ (ऋचादिः)+इमनिच्। तुभ्यम् एव=तुझ जरावस्था की प्राप्ति के लिये ही बढ़े, [इससे पूर्व मृत्यु को प्राप्त न हो]। शतम्=सौ वर्षों की आयु में सम्भाव्यमान सौ[1] मृत्युवें। मित्रः=मिदि स्नेहने (चुरादिः), स्नेही पिता। मित्रियात्=मित्र भी मित्र की हिंसा कर देते हैं स्वार्थवश होकर या दुराचार में फँसाकर। मातृपद के संनिधान से तत्सम्बन्धी मित्रपद स्नेही पिता का सूचक है।]

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२॥

(मित्रः) स्नेही पिता (वा) अथवा (रिशादाः) हिंसक आसुर वृत्तियों का अदन करनेवाला, नष्ट करनेवाला आचार्य, (संविदानौ) परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुए, (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (जरामृत्युम्) जरावस्था में मरनेवाला (कृणुताम्) करें। (वयुनानि विद्वान्) प्रज्ञानी (अग्निः) ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य (होता) ब्रह्मचारी में दिव्यगुणों का दाता बनकर, (तत्) उस दीर्घायु के सम्बन्धी ज्ञान तथा (देवानाम्) पृथिवी सूर्य आदि देवों की (विश्वा जनिमानि) सब उत्पत्तियों का (विवक्ति) कथन करता है।

[रिशादाः=रिशानां हिंसकानाम् अत्ता। रिश हिंसायाम्, इगुपधलक्षणः "कः"+असुन् (सायण)। मित्र अर्थात् स्नेही पिता घर में जब तक पुत्र रहे तब तक और वरुण आचार्य ब्रह्मचर्याश्रम के निवासकाल में। विश्वा जनिमा विवक्ति (अथर्व० ११।५।८)। आचार्य है वरुण (अथर्व० १५।५।१४, १५)। विषयसम्बन्धी अधिक ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्यसूक्त पठनीय है (अथर्व० ११।५।१-२६)। "विवक्ति" द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि के विज्ञान का कथन किया है। सायण के अनुसार विवक्ति="वचेः पञ्चमलकारे छान्दसः शपः श्लुः। बहुलं छन्दसि (अष्टा० ७।४।७६) इत्यभ्यासस्य इत्वम्"। "देवानाम् जनिमा" का सम्बन्ध भूगोल तथा ज्योतिषशास्त्र के साथ है।]

---

१. न जाने किस वर्ष मृत्यु हो जाय।

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥३॥

(त्वम्) हे अग्रणी परमेश्वर! तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी में उत्पन्न (पशूनाम्) पशुओं का (ईशिषे) अधिपति है, शासक है, (ये) जो पशु कि (जाताः) भूतकाल में पैदा हुए हैं, (उत वा) अपि च (ये जनित्राः) जो भविष्य में पैदा होंगे। (इमम्) इस ब्रह्मचारी को [तेरी कृपा से] (प्राणः) ऊर्ध्वकायस्थ प्राण (मा हासीत्) न त्यागे, (मा उ अपानः) और न अपान अर्थात् अधःकायस्थ अपान। (इमम्) इस ब्रह्मचारी का (वधिषुः) वध करें (मा मित्राः) न मित्र (मा उ) और न (अमित्राः) दुश्मन। पशूनाम्="तवेमे पञ्चपशवो विभक्ताः गावः अश्वाः पुरुषा[1] अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)।

[मन्त्र २ में अग्नि पद द्वारा आचार्य का वर्णन किया है, और मन्त्र ३ में अग्निपद द्वारा जगदग्नि का वर्णन अभिप्रेत है, ब्रह्मचारी के दीर्घ जीवन के लिए। यहाँ से ब्रह्मचारी के लिए आशीर्वाद अभिप्रेत है। मित्राः वधिषुः (देखो "मित्रियात् पात्वंहसः") (मन्त्र १)।]

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

हे ब्रह्मचारिन्! (द्यौः) द्युलोक (पिता) पिता और (पृथिवी माता) पृथिवी माता, ये दोनों (संविदाने) परस्पर एकमतिवाले हुए (त्वा=त्वाम्) तुझे (जरामृत्युम्) जरावस्था में मरनेवाला (कृणुताम्) करें, (यथा) जिस प्रकार कि तू (अदितेः उपस्थे) पृथिवी की गोद में (प्राणापानाभ्याम् गुपितः) प्राण और अपान द्वारा सुरक्षित हुआ, (शतम् हिमाः) सौ शरद् ऋतु (जीवाः) जीवित रहे।

[अदितेः=अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। जीवाः=जीवेः, लेटि आडागमः (सायण)। ब्रह्मचारी से कहा है कि तू निजजन्म-दाताओं को ही अपनी माता और पिता न जान, अपितु समग्र पृथ्वी और द्यौः को माता-पिता जान। यतः तूने सबसे भिक्षा द्वारा विद्याग्रहण करना और जीवनचर्या करनी है, "भिक्षामाजभार" (अथर्व० ११।५।९)। इस द्वारा ब्रह्मचारी की दृष्टि को अधिक व्यापी किया है, ताकि गृहस्थ धारण कर वह समग्र समाज को माता-पिता जानकर, समाज की सेवा करने में तत्पर रहे।

---

१. ज्ञान तथा धर्म विहीन पुरुष पशु सदृश हैं, साक्षात् पशु हैं। यथा—
"आहारनिद्राभय-मैथुनं च समानमेषां पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।"

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥५॥

(अग्ने) हे जगदग्रणी परमेश्वर ! (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (आयुषे) स्वस्थ तथा दीर्घायु के लिए, (वर्चसे) तथा तेज के लिए (नय) ले चल, मार्ग दर्शा, (राजन्) ब्रह्मचर्याश्रम के राजारूप ! (मित्र वरुण) हे मित्ररूप ! और वरुणरूप ! आचार्य ! ब्रह्मचारी के प्रति (प्रियम्, रेतः) प्रिय वीर्य (नय) तू प्राप्त करा । (अदिते) हे पृथिवी ! (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिये (माता इव) माता के सदृश (शर्म यच्छ) सुख प्रदान कर, (विश्वे देवाः) हे सब देवो ! (यथा) जिस प्रकार कि यह ब्रह्मचारी (जरदष्टिः असत्) जरावस्था को प्राप्त होनेवाला हो जाए ।

[अग्ने=अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४) । प्रियम् रेतः= इससे ब्रह्मचारी युवावस्था का प्रतीत होता है जबकि वीर्यरक्षा पर विशेष चिन्ता चाहिए । वरुण है आचार्य (अथर्व० ११।५।१४, १५) । मित्र= स्नेह करनेवाला आचार्य । अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१) । विश्वे देवाः=ब्रह्मचर्याश्रम के सब दिव्य अध्यापक ।]

सूक्त २९

(१-७) । अथर्वा । बहुदेवताः । त्रिष्टुभ्; १ अनुष्टुभ्;
४ पराबृहती निचृत्प्रस्तारपंक्तिः ।

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आधाद् बृहस्पतिः ॥१॥

(देवाः) देवों ने (पार्थिवस्य) पार्थिव शरीर के (रसे) रस अर्थात् वीर्य में, (भगस्य तन्वः बले) भग और तनू सम्बन्धी बल में, (अग्निः सूर्यः) अग्नि और सूर्य ने (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिए (आयुष्यम्) स्वस्थ तथा दीर्घायु, तथा (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर ने (वर्चः[1]) वेदाध्ययनसम्बन्धी तेज (आ धात्) ब्रह्मचारी में स्थापित किया है ।

[ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी में जिन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, उनका वर्णन मन्त्र में हुआ है । ये शक्तियाँ ब्रह्मचारी में दिव्य तत्त्वों द्वारा प्राप्त हुई हैं । भग का अर्थ है आदित्य, जोकि अभी उदित नहीं हुआ, परन्तु उदीयमान है । "अधो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते" (निरुक्त १२।२।१३)। भग की उत्सृप्त रश्मियों के कारण उषा का जन्म होता है, जोकि प्रकाश-

१. श्रुताध्ययनजन्यं तेजः (सायण) ।

मान है और अन्धकार का विनाश करती है । यह भग का ही बल है, जिसके कारण अनुदित सूर्य भी उषा को प्रकाशित कर अन्धकार का विनाश करता और जगत् को प्रकाशित करता है । यह बल अनुदित भग में है । ब्रह्मचर्य-काल को पूर्ण कर वह गृहस्थाश्रम में आया है । सूक्त में उसके गृहस्थाश्रम का वर्णन हुआ है ।]

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

(जातवेदः) हे वेदोत्पादक परमेश्वर ! (अस्मै) इसके लिए (आयुः) स्वस्थ तथा दीर्घायु (धेहि) प्रदान कर (त्वष्टः) हे रूपकृत् परमेश्वर ! (अस्मै) इसके लिए (प्रजाम्) नाना रूपाकृतियोंवाली प्रजा (अधिनिधेहि) प्रदान कर । (सवितः) हे ऐश्वर्यों के उत्पादक परमेश्वर ! (अस्मै) इसके लिए (रायस्पोषम्) धन की सम्पुष्टि (आसुव) प्रेरित कर, प्रदान कर (तव अयम्) ताकि तेरा हुआ यह गृहस्थी (शतं शरदः जीवाति) सौ शरद् ऋतु जीवित रहे ।

[जातवेदः आदि नामों द्वारा एक परमेश्वर को ही सम्बोधित किया है, इसलिए "तव" में एकवचन का प्रयोग हुआ है । शरदः=शरद् ऋतु स्वास्थ्यकारी होती है, ग्रीष्म आदि नहीं । त्वष्टः=त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति-कर्मणः (निरुक्त ८।२।१३), मानो परमेश्वर मातृगर्भ में प्रजाओं को घड़ता है, जिससे प्रजाएँ नाना रूपाकृतियों की पैदा होती हैं । सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः, ऐश्वर्य अर्थ अभिप्रेत है । आसुव=षू प्रेरणे (तुदादिः) ।]

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

(सचेतसौ) एकचित्त हुए तुम दोनों हे माता-पिता ! (नः) हमारे इस सद्गृहस्थी को (आशीः) आशीर्वाद, (ऊर्जम्) बल और प्राण से सम्पन्न अन्न, (उत) तथा (सौप्रजास्त्वम्) उत्तम प्रजा, (दक्षम्) दक्षता, (द्रविणम्) तथा धन (धत्तम्) प्रदान करो । (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (अयम्) यह सद्गृहस्थी (क्षेत्राणि) निज स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर, (सहसा) आसुर शत्रुपराभव द्वारा, (जयम् कृण्वानः) जय प्राप्त कर (अन्यान् सपत्नान्) अन्य शत्रुओं को (अधरान्) पराजित करे ।

[मन्त्र में आशीर्वाद तथा ऊर्ज आदि को प्राप्त कर और निज त्रिविध शरीरों पर विजय प्राप्त कर, आसुर भावों और कर्मों को पराजित करने की अभिलाषा प्रकट की है । ऊर्जम्=ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः), अर्थात्

बल और प्राण देनेवाला अन्न। ब्रह्मचारी के गुरुवर्ग, सद्गृहस्थी में, (नः) द्वारा निज आत्मीयता प्रकट करते हैं। सौप्रजास्त्वम्=सुप्रजसो भावः सौप्रजास्त्वम् शोभनापत्यत्वम्, असिच् समासान्तः (अष्टा० ५।४।१२२) (सायण)।]

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

(इन्द्रेण दत्तः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की कृपा से दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण नामक आचार्य द्वारा अनुशासित हुआ, (मरुद्भिः) प्रजाओं द्वारा (उग्रः) उद्गूर्ण बलशाली हुआ, तथा गुरुओं द्वारा (प्रहितः) प्रेषित हुआ, (नः) हम माता-पिता आदि के घर (आगन्) आया है। (द्यावापृथिवी) हे द्यौ और पृथिवी (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में (एषः) यह (मा क्षुधत्) न क्षुधार्त्त हो, (मा तृषत्) न तृषार्त हो।

[यह सद्गृहस्थ परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मचर्य के दीर्घकाल के पश्चात् जीवित हुआ हम सम्बन्धियों के घर वापिस आया है। वरुण है आचार्य (अथर्व० ११।५।१४, १५)। मरुद्भिः=मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १।९४, दयानन्द)। अर्थात् मानुष प्रजाजनों से भिक्षा प्राप्त कर बलशाली हुआ। माता-पिता आदि कहते हैं कि हे द्यौः-पृथिवी! अब यह तुम दोनों की व्याप्त गोद में आया है, अतः पृथिवी अन्नप्रदान द्वारा और द्यौः वर्षा द्वारा शुद्ध जल देकर, तुम दोनों इसकी क्षुधा और तृषा का निवारण करते रहो। आगन्=गमेर्लुङि "मो नो धातोः" (अष्टा० ८।२।६४) इति नत्वम् (सायणः)।]

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥५॥

(ऊर्जस्वती द्यावापृथिवी) हे बलशाली और प्राणप्रद द्युलोक और पृथिवीलोक! (अस्मै) इसके लिए (ऊर्जम्) बलकारी तथा प्राणप्रद अन्न (धत्तम्) प्रदान करो, (पयस्वती) हे जलवाली द्यौः और पृथिवी! (अस्मै) इसके लिये (पयः) शुद्ध जल (धत्तम्) प्रदान करो। (द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी ने (अस्मै) इसके लिए (ऊर्जम्) बलकारी और प्राणप्रद अन्न (अधाताम्) प्रदान कर दिया है। (विश्वे देवाः) सब देवों ने, (मरुतः) मानसून वायुओं ने, (आपः) तथा अन्य जलों ने (ऊर्जम्) बलशाली और प्राणप्रद अन्न प्रदान कर दिया है।

[मरुतः=मानसून वायुएँ (अथर्व० ४।२७।४, ५), तथा समग्र सूक्त

२७। आपः=कूपजल तथा उत्सजल[1] (अथर्व० ४।२७।२)। "उत्स" जल पृथिवी से चश्मे रूप में प्राप्त होता है। इन सब जलों के कारण ऊर्जा प्राप्त होता है।]

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥६॥

हे सद्गृहस्थिन्! (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (शिवाभिः) कल्याणकारी जलों द्वारा (तर्पयामि) मैं वैद्य (मन्त्र ७) तृप्त करता हूं। (अनमीवः) रोगरहित, (सुवर्चाः) उत्तम तेजवाला हुआ (मोदिषीष्ठाः[2]) तू प्रमुदित हो। (सवासिनौ) तुम दोनों [पति-पत्नी] सहवासी हुए (एतम् मन्थम्) इस मठे का (पिबताम्) पान किया करो, और (अश्विनोः) सूर्य-चन्द्र के (मायाम् रूपम्) मायारूप को (परिधाय) धारण कर [विचरो।]

[जल-चिकित्सा द्वारा हृदय तृप्त रहता, रोगरहित और प्रमुदित होता है। हृदय के रोग न होने पर समग्र शरीर स्वस्थ रहता है, और तेज बढ़ता है। इसके लिए मठा पीते रहना चाहिए। यह दधि का मठा है। इससे पति-पत्नी का रूप सूर्य और चन्द्र के समान चमकता है। यह रूप मायारूप है, कृत्रिम है। पत्नी चन्द्र है और पति सूर्य है। चन्द्र निज चमक सूर्य से पाता है, और पत्नी पति से।]

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आसुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥७॥

(विद्धः) प्रजा के दुःखों से विद्ध हुए (इन्द्रः) परमेश्वर ने (अग्रे) प्रारम्भ में (स्वधाम्) अन्नरूप, (अजराम्), जरानिवारक, (एताम्, ऊर्जाम्) इस ऊर्जा को (ससृजे) पैदा किया, (सा ते एषा) हे पति! वह यह ऊर्जा तेरे लिए है। (तया) उस ऊर्जा द्वारा (त्वम्) तू (जीव) जीवित रह (शरदः) शरद्-ऋतुओं में, (सुवर्चाः) और उत्तम तेजवाला बन। (माते आ सुस्रोत्) वह पी हुई ऊर्जा तेरे शरीर से स्रवित[3] न हो, (भिषजः) वैद्य (ते) तेरे लिए (अक्रन्) इसकी चिकित्सा करें।

---

१. उत्सः=उत्+षणु (दाने), जोकि पृथिवी से ऊर्ध्वगतिक होकर जल प्रदान करता है।

२. मोदिषीष्ठाः=मुद हर्षे आशिषि लिङ् (सायण)।

३. यह ऊर्जा वीर्यरूप में परिणतरूपा है।

सूक्त ३०

(१-५) । प्रजापतिः, अश्विनौ । अनुष्टुप्; १ पथ्यापंक्तिः; ३ भुरिक् ।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

(यथा) जिस प्रकार (भूम्या अधि) भूमि के ऊपर (वातः) प्रचण्ड वायु (इदम् तृणम्) इस तृण को (मथायति) मथित करती है, अनवस्थित करती है, (एव=एवम्) इसी प्रकार [हे पत्नी !] (ते मनः) तेरे मन को (मथ्नामि) मैं [पति] मथित करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (माम्, कामिनी) मेरी कामना करनेवाली [मुझे चाहनेवाली] (असः) तू हो जाय, (यथा) जिस प्रकार कि (मत् अपगाः न असः) मुझसे हटकर [मुझे छोड़कर] चले जानेवाली तू न हो ।

[मन्त्र में पति से रुष्ट हुई पत्नी का वर्णन है, जोकि पति को त्यागकर चले जाने में प्रवृत्त है । अपगाः=अप+गम्=गमेर्विट्[1] (अष्टा० ३।२।६७)+आत्[2] (अष्टा० ६।४।४१) ।]

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ॥
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥२॥

(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमाः के सदृश वर्तमान माता-पिता ! तुम दोनों (कामिना=कामिनौ) परस्पर कामनावाले वर-वधू को (सम् च इत् नयाथः) परस्पर समीप प्राप्त करते हो, (सं च वक्षथः) और संवहन करते हो, उन्हें परस्पर मिलाते हो । (वां) तुम दोनों के (भगासः) ऐश्वर्यादि (सम् अग्मत) परस्पर संगत हो गये हैं, परस्पर मिल गये हैं, एक हो गये हैं, (चित्तानि) चित्तों के संकल्प (सम्) परस्पर मिल गये हैं, एक हो गए हैं, (व्रता सम् उ) व्रतकर्म निश्चय से (सम्) परस्पर मिल गए हैं, एक हो गए हैं । मन्त्र में वर-वधू के प्रति कथन हुआ है ।

[माता-पिता को सूर्य और चन्द्रमा कहा है । पिता है सूर्य और माता है चन्द्रमा । निरुक्त—सूर्याचन्द्रमसावित्येके (१२।१।१) । चन्द्रमा सूर्य से शक्ति प्राप्त कर चमकता है । पत्नी भी पति से उत्पादक शक्ति प्राप्त कर पुत्रवती नाम से प्रसिद्ध होती है ।

सं नयाथः=सम् णीञ् प्रापणे । सं वक्षथः=सम्+वह अर्थात् परस्पर विवाहकर्म करते हो । वक्षथः=वह्+सिप् (सिप् बहुलं लेटि) (अष्टा० ३।१।३४), वहेर्लेटि अडागमः (सायण) । वर के विवाह के लिए वर के माता-पिता अश्विनौ अर्थात् घुड़सवार होकर बरात के आगे-आगे चलते हैं, यथा "सूर्याया अश्विना वरा, अश्विनास्तामुभा वरा" (अथर्व० १।८, ९), तथा "यदश्विना पृच्छमाना वयातम्" (अथर्व० १।१४) । अधिक स्पष्टता के लिए देखो मत्कृत अथर्ववेदभाष्य ।]

१. जनसनखनक्रमो विट् ।
२. विड्वनोरनुनासिकस्यात् ।

यत् सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥३॥

(सुपर्णाः) उत्तम-पालन में समर्थ (विवक्षवः[1]) विवाह की इच्छावाले (अनमीवाः) रोगरहित अर्थात् स्वस्थ (विवक्षवः) विवाह की इच्छावाले, (यत्) जिस गृहस्थ में जाते हैं, (तत्र) उस गृहस्थ में (मे) मेरा (हवम्) आह्वान (गच्छतात्) पहुँचे, (इव) यथा (शल्यः) बाण का लोहाग्रभाग (कुल्मलम्) बाणदण्ड में पहुँचता है, [और वहाँ सुरक्षित तथा धारित हो जाता है ।]

[हवम्=अर्थात् उस गृहस्थ के लिए मुझे आहूत किया जाए, गृहस्थ सम्बन्ध के लिए मुझे आमन्त्रित किया जाए । गृहस्थकर्म में मैं इस प्रकार रसुक्षित तथा धारित हूँगा, जैसेकि शल्य शल्यदण्ड में सुरक्षित और धारित हो जाता है । कुल्मलम्=कुड्मलम्=कुडि रक्षणे (चुरादिः)+मल धारणे (भ्वादिः) । कुल्मलम्=कुड्मलम्, डलयोरभेदः ।]

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥४॥

कन्याओं के (अन्तरम्) मनों में (यद्) जो होता है (तद्) वह (बाह्यम्) बाहर के कर्मों में प्रकट होता है और जो (बाह्यम्) बाहर के कर्मों में होता है (तद्) वह (अन्तरम्) उनके मनों में होता है, अर्थात् कन्याएँ छल-कपट से रहित होती हैं । (ओषधे) हे ओषधि ! (विश्वरूपाणाम्) नानारूपोंवाली या विश्व में रूपवती कन्याओं के (मनः) मन को (गृभाय) वश में कर ।

[गृभाय=गृहाण । ग्रह+शायच् । ओषधि-सेवन द्वारा मन को परवश किया जा सकता है । सात्त्विक, राजस, और तमोगुणी अन्नों के

१. वि+वह्+सन्+उ+प्रथमा बहुवचन । इसलिए ही विवक्षवः में 'उ' हुआ है । यथा "सनाशंसभिक्ष उः" (अष्टा० ३।२।१६८) ।

सेवन से मन की वृत्तियाँ सत्त्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न अन्न, भिन्न-भिन्न ओषधिरूप ही हैं। इसीलिए कहा है कि "रजस्तमो मोपगा मा प्रमेष्ठाः" (अथर्व० ८।२।१)।]

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥५॥

(इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की कामनावाली (आगन्) आई है, और (अहम्) मैं वर (जनिकामः) जाया की कामनावाला (आगमम्) आया हूँ। (कनिक्रदत्) बार-बार क्रन्दन करता हुआ (अश्वः) अश्व (यथा) जिस प्रकार (सह) [क्षुधा के] साथ [घास-चारे की ओर आता है, वैसे (भगेन सह) ऐश्वर्य और सम्पत्ति के साथ (अहम्) मैं (आगमम्) आया हूँ [विवाह के लिये]।

[गृहस्थ में ऐश्वर्य और सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, अतः वर ऐश्वर्य-सम्पत्ति के साथ विवाह के लिए आया है।]

सूक्त ३१

(१-५)। काण्वः। महीदेवता तथा चन्द्रमाः। अनुष्टुभ्;
२ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; ३ आर्षी त्रिष्टुभ्;
४ प्रागुक्ता बृहती; ५ प्रागुक्ता त्रिष्टुभ्।

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥१॥

(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (या) जो (मही दृषत्) बड़ी शिला है, (विश्वस्य क्रिमेः) सब क्रिमियों की (तर्हणी) हिंसा अर्थात् हनन करनेवाली, (तया) उस द्वारा (क्रिमीन्[1]) क्रिमियों को (सम् पिनष्मि) सम्यक्तया मैं पीसता हूँ, (दृषदा) पत्थर की चक्की द्वारा (इव) जैसे (खल्वान्) चणों को पीसा जाता है।

[परमेश्वर की महती शिला है, सूर्यरूपी शिला। सौरचिकित्सा का वर्णन है, सूर्य की रश्मियों के प्रयोग द्वारा क्रिमियों के नाश का विधान हुआ है। शरीरान्तर्गतान् सर्वान् क्षुद्रजन्तून् (सायण)। इससे प्रकट होता है कि मन्त्र में रोगजनक कीटाणुओं (germs) का वर्णन हुआ है। ये अदृष्ट कीटाणु हैं, (मन्त्र २)। अदृष्ट, जोकि अतिसूक्ष्म होने से आँख से देखे नहीं जा सकते।]

१. कृञ् हिंसायाम् (क्र्यादिः) तथा कृ हिंसायाम् (स्वादिः)।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अलगण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥२॥

(दृष्टम्, अदृष्टम्) चक्षु द्वारा देखे गये और उस द्वारा न देखे गये को (अतृहम्) मैंने हिंसित कर दिया है, (अथो) तथा (कुरूरुम्) कुरूरु को (अतृहम्) मैंने हिंसित कर दिया है। (अलगण्डून्) निवारणीय गण्डोओं को, (सर्वान् शलुनान्) सब गतिशील (क्रिमीन्) क्रिमियों को, (वचसा) वैदिक वचन के अनुसार हम [वैद्य] (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं।

[ये नाना नामोंवाले क्रिमि हैं, जोकि शरीरान्तर्गत हैं। अलगण्डु, गण्डोए प्रतीत होते हैं, जोकि लम्बे होते हैं, कभी मुख से और प्रायः गुदा द्वार से निकलते हैं। शलुनान्=शल संचलने, शल गतौ (भ्वादिः)। अदृष्ट क्रिमि हैं रोग-कीटाणु (germs)। कुरूरुम्=सम्भवतः अतिक्रूर अर्थात् हननकारी ?]

अलगण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

अलगण्डून्) निवारणीय गण्डोओं का (महता) महाबली (वधेन) वधकारी औषध द्वारा (हन्मि) मैं (वैद्य) हनन करता हूँ (दूनाः) परिताप देनेवाले, (अदूनाः) परिताप न देनेवाले, (अरसाः) रसरहित (अभूवन्) हो गए हैं, शुष्क हो गए हैं, शक्तिहीन हो गए हैं। (शिष्टान्) जो शेष बचे हैं शरीर में, (अशिष्टान्) और जो शेष नहीं रहे अर्थात् मार दिए गए हैं, उनको (वाचा) वेदोक्त विधि द्वारा (नि तिरामि) मैं [वैद्य] शरीर से बाहिर कर देता हूँ, (यथा) जिस प्रकार से कि (क्रिमीणाम्) क्रिमियों में (नकिः) न कोई (उच्छिषातै) शेष रहे [शरीर में।]

[उच्छिषातै="वैतोऽन्यत्र" (अष्टा० ३।४।९६) इति ऐत्वम्, लेटि आडागमः (सायण)।]

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य[1]मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

(अन्वान्त्र्यम्) छोटी और बड़ी आन्तों[1] के, (शीर्षण्यम्) सिर के, (अथो) और (पार्ष्टेयम्[2]) छाती अर्थात् फुफुस के, (क्रिमीन्) क्रिमियों को,

१. लम्बी आँतें तथा मोटी (कोलोन)।
२. पृष्टि अर्थात् पसलियों सम्बन्धी।

(अवस्कवम्) शरीर में अन्तःप्रवेश करके वर्तमान, (व्यध्वरम्) तथा शरीर के विविध मार्गों में वर्तमान (क्रिमीन्) क्रिमियों को (वचसा) वैदिक वचनों के अनुसार (जम्भयामसि) हम [वैद्य] नष्ट करते हैं।

[अवस्कवम्=अवाक् गमनस्वभावम्, अन्तः प्रविश्य वर्तमानम् (सायण)। शीर्षण्यम्=सिर में वर्तमान सम्भवतः जूएँ अथवा सिर के भीतर के भाग में अर्थात् मस्तिष्क में वर्तमान।]

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥८॥

(ये क्रिमयः) जो कृमि (पर्वतेषु) पर्वतों में हैं, (वनेषु) वनों में हैं, (ओषधीषु) ओषधियों में हैं, (पशुषु) पशुओं में हैं, (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं। (ये) जो (अस्माकम् तन्वः) हमारे शरीरों में (आ विविशुः) प्रविष्ट हो गए हैं, (क्रिमीणाम् तत् सर्वं जनिम) कृमियों की उस सब उत्पत्ति का (हन्मि) मैं वैद्य हनन करता हूँ।

[आ विविशुः=व्रणमुखेन, अन्नपानादिद्वारेण वा प्रविष्टाः (सायण)। आ=आगत्य, पर्वत आदि से आकर प्रविष्ट हुए हैं।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त

अनुवाक ६

सूक्त ३२

(१-६)। काण्वः। आदित्यः। अनुष्टुप्; १ त्रिपदा भुरिक् गायत्री; ६ चतुष्पदा निचृत् उष्णिक्।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥

(उद्यन् आदित्यः) उदित होता हुआ आदित्य (क्रिमीन् हन्तु) क्रिमियों का हनन करे, (निम्लोचन् हन्तु) और अस्त होता हुआ हनन करे (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा, (ये क्रिमयः) जो क्रिमि कि (गवि अन्तः) पृथिवी में हैं।

[सूर्य उदित होता हुआ और अस्त होता हुआ लाल होता है। सूर्य की लालिमा क्रिमियों के हनन में विशेष उपयोगी है। ये क्रिमि रोगकीटाणु (germs) हैं; स्थूल क्रिमि नहीं। क्रिमि=कृञ् हिंसायाम् (क्र्यादिः), जोकि रोगोत्पादन द्वारा हिंसित करते हैं। गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१), न कि चतुष्पाद् गौ।]

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥

(विश्वरूपम्) नानारूपों या आकृतियोंवाले, (चतुरक्षम्) चार आँखोंवाले, (सारङ्गम्) विविध रंगोंवाले, (अर्जुनम्) शुभ्रवर्णवाले, (क्रिमिम्) क्रिमि की (शृणामि) मैं हिंसा करता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्टीः) पसलियों को, (अपि यत् शिरः) और जो सिर है, उसे भी (वृश्चामि) मैं काटता हूँ।

[इस प्रकार के क्रिमि कौन से हैं, यह अनुसंधेय है।]

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥

(क्रिमयः) हे क्रिमियो! (वः) तुम्हारा (हन्मि) मैं हनन करता हूँ, (अत्रिवत्) अत्रि की तरह, (कण्ववत्) कण्व की तरह, (जमदग्निवत्) प्रज्वलित अग्निवाले की तरह। (अगस्त्यस्य) अगस्त्यसम्बन्धी (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त ब्रह्मास्त्र के द्वारा (अहम्) मैं (क्रिमीन्) क्रिमियों को (संपिनष्मि) सम्यक् पीसता हूँ।

[अत्रि:[1]=अदनकर्त्ता परमेश्वर, यथा "दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे । स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ।। अथर्व० (१३।२।१२) । मन्त्र में सूर्य का वर्णन है, जिसे कि अत्रि ने द्युलोक में धारित किया है । अतः अत्रि है अदनकर्त्ता परमेश्वर । परमेश्वर प्रलयकाल में सब का अदन करता है और सृष्टिकाल में भी प्राणियों के कर्मफलानुसार उनका अदन करता रहता है । इसलिये इसे "अत्ता" भी कहते हैं "अत्ता चराचर-ग्रहणात् ।" वैद्य कहता है कि परमेश्वर जैसे अदन करता है, नाश करता है, वैसे मैं भी क्रिमियों को पीसता हूँ, नष्ट करता हूँ । मन्त्र में अत्रि=उद्धत मन्त्र में अत्रिः । "अत्रि" के अदनस्वरूप का निर्देश किया है, जिससे कि दर्शाया है कि "अत्रि" अद्धातु द्वारा निष्पन्न है । कण्ववत्=कण्वः मेधाविनाम (निघं० ३।१५) । कण्व मेधावी है जोकि कणसदृश सूक्ष्म रोगकृमियों का विनाश करता है । वैद्य कहता है कि मैं भी कण्ववत् रोगकृमियों का नाश करता हूँ । जमदग्निवत्=जमदग्नि है वह व्यक्ति जो यज्ञियाग्नि को प्रज्वलित कर उसमें रोगनाशक औषधों की आहुतियाँ देता है । वैद्य कहता है कि मैं भी क्रिमिरोगी को रोगनाशक औषध खिलाकर उसके क्रिमियों का नाश करता हूँ । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा=अगस्त्य है सूर्य, जोकि "अग" अर्थात् गतिरहित[2] है, द्युलोक में स्थिर है और "स्त्य" अर्थात् अन्तरिक्ष में मेघसंघ को स्थापित करता है "स्त्यै ष्टयै शब्दसंघातयोः"(भ्वादिः) और मेघगर्जना करता है । यह सूर्य "विश्वदृष्टः" है, सब द्वारा दृष्ट है और क्रिमियों को मारता है [प्रमृणन् क्रिमीन्], (अथर्व० ५।२३।६) । यह सूर्य उदित है, जो कि निज प्रखर रश्मियों द्वारा क्रिमिनाशक है । परन्तु (अथर्व० २।३२।१) आदित्य अभी उदित नहीं हुआ, वह उद्यन् है और निम्लोचन् है । इस अवस्था का आदित्य निज रश्मियों की लालिमा द्वारा क्रिमियों का नाश करता है । उदित सूर्य और अनुदित आदित्य के गुणों में अन्तर है, भेद है । इसलिये मन्त्र ३ (अथर्व० २।३२) में ब्रह्मणा पद द्वारा उद्यन् सूर्य के रश्मि

१. अत्रिः=अदनकर्त्ता । यथा अद्+त्रिः (उणा० ४।६९) अत्रिः को मन्त्र १३।२।१२ में 'अत्रिः' कहा है । अत्रि पद यौगिकार्थक है, यह अत्रि पद का मौलिक स्वरूप है ।

२. यथा, "एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् । यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन" (अथर्व० ११।४।२१) । 'एकं पादं नोत्खिदति'-द्वारा आदित्य को गतिरहित सूचित किया है । आदित्य जो प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण यह है कि पृथिवी निज कक्षा पर पश्चिम से पूर्व की ओर प्रतिदिन भ्रमण करती है, जोकि पूरा भ्रमण २४ घण्टे में होता है ।

समूह को ब्रह्मास्त्र कहा है । "उद्यन्" सूर्य की लाल रश्मियों का यह विशेष गुण है कि वे [ब्रह्मणा] ब्रह्मास्त्ररूप हैं, रोगकीटाणुओं के विनाश में ।]

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ।।४।।

(क्रिमीणाम्) क्रिमियों का (राजा) राजा (हतः) मर गया है, (उत) तथा (एषाम्) इनका (स्थपतिः[1]) कारीगर (हतः) मर गया है । (क्रिमिः) क्रिमि (हतः) मर गया है, (हतमाता, हतभ्राता, हतस्वसा) यह मृतमाता, मृतभ्राता और मृतबहिनवाला हो गया है ।

[अभिप्राय यह कि क्रिमियों के समग्र कुल को मार दिया है । हत-मातेत्यादिषु नित्यं प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि" (अष्टा० ५।४।१५८)इति प्रतिषेधः(सायण) । यतः क्रिमियों के राजा का वर्णन हुआ है, इसलिये जैसे कि राजा के चारों ओर उसके अनुयायी बैठते हैं, उसी प्रकार क्रिमि-राजा के चारों ओर बैठनेवाले स्थपति आदि का वर्णन मन्त्र में कवितारूप में हुआ है ।]

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ।।५।।

(अस्य) इस क्रिमि-राजा के (वेशसः) गृह में प्रविष्ट, (परिवेशसः) तथा चारों ओर के घरों में प्रविष्ट [परिचर-भृत्यादि] (हताः) मर गए हैं, या मार दिये गए हैं । (अथो) तथा (ये क्षुल्लका इव) क्षुद्रसदृश हैं (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमि मर गये हैं, या मार दिये हैं ।

[क्षुल्लकाः=क्षुत् (क्षुधा)+ला (आदाने, अदादिः), जोकि क्षुधा के कारण समीप लाए गये हैं, नौकरी के लिये लाए गये हैं ।]

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ।।६।।

(ते) तेरे (शृङ्गे=दो सींगों को (प्रशृणामि) मैं हिंसित करता हूँ, (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (वितुदायसि) तू विशेषतया व्यथा करता है । (ते) तेरे (कुषुम्भम्=कुसुम्भ को (भिनद्मि) मैं तोड़ देता हूँ (यः) जोकि (ते) तेरा (विषधानः) विषधारक है ।

[मन्त्र में विच्छु-क्रिमि का वर्णन है । कुषुम्भ=कुसुम्भ, संन्यासियों

१. सम्भवतः स्थिर मकान आदि का पति अर्थात् निर्माता, जिसेकि "राज" कहते हैं, जोकि मकानों का कारीगर है ।

का जलपात्र, जिसे कि तुम्बा कहते हैं। इसे बिच्छु के विषधान से उपमित किया है। वितुदायसि=तुद व्यथने (तुदादिः)।]

विशेष विचार

germs (क्रिमि, रोगजनक कीटाणु)

"your guide to Health" के आधार पर, सारांश, हिन्दी अनुवाद germs मनुष्य के भयानक शत्रु हैं। ये अतिसूक्ष्म[1] हैं जोकि अतिशक्तिशाली अनुवीक्षण यन्त्र [microscope] द्वारा भी दृष्ट नहीं होते। germs इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनकी कई हजार संख्या, एक इञ्च लम्बी line बना सकती है। ये पृथिवीतल पर जल में, तथा वायुमण्डल में फैले रहते हैं। हमारे भोज्य पदार्थों में, हथेली, गुदा आदि में भी विद्यमान रहते हैं। पशुओं के पैरों में, तथा मक्खियों के पैरों तथा पंखों में भी इन germs की सत्ता होती है। सूर्य की रश्मियाँ इन germs की घातिका हैं।

सूक्त ३३

(१-७)। ब्रह्मा। यक्ष्मनिबर्हणम्, चन्द्रमाः, आयुष्यम्। अनुष्टुप्; ३ ककुम्मती; ४ चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक्; ५ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; ६ उष्णिक् गर्भा निचृदनुष्टुप्

अ॒क्षिभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॑ज्जि॒ह्वाया॒ वि वृ॑हामि ते ॥१॥

(अक्षिभ्याम्) दोनों आँखों से, (ते) तेरे (नासिकाभ्याम्) दोनों नासिका छिद्रों से, (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात् अधि) ओष्ठ के अधः प्रदेश अर्थात् ठोड़ी से, (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से, (जिह्वायाः) जिह्वा से (ते) तेरे (शीर्षण्यम्, यक्ष्मम्) सिर में स्थित यक्ष्म को (विवृहामि) मैं निकालता हूँ। यह "शीर्षण्य" यक्ष्म है। विवृहामि=उद्धरामि, उन्मूलयामि, वृहू उद्-यमने (तुदादिः)।

1. जो अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा दृष्ट होते हैं वे "परापुरः" दस्यु हैं; जो इस मन्त्र द्वारा भी, अति सूक्ष्म होने के कारण अदृष्ट हैं वे 'निपुरः' दस्यु हैं। ये germs ही हैं, जोकि हमारे शरीरों में प्रविष्ट होकर दस्युओं अर्थात् उपक्षयों को करते रहते हैं (दसु उपक्षये, दिवादिः)। ये क्रिमि "दस्यु" हैं। अथवा "परापुरः" हैं बड़े पुरों अर्थात् शरीरोंवाले यथा "मलप" तथा फीतेदार क्रिमि (Tape-worm), और "निपुरः" हैं गुदा में खारिश पैदा करनेवाले चमूने।

ग्री॒वाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॑त्।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒॑मंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि ते ॥२॥

(ते) तेरी (ग्रीवाभ्यः) गर्दन की अस्थियों से, (उष्णिहाभ्यः) ऊर्ध्व की ओर रक्त से स्निग्ध या स्नात नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हंसली और छाती की अस्थियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ की अस्थियों से, (अंसाभ्याम्) अंसों की अस्थियों से, (बाहुभ्याम्) बाहुओं से (ते) तेरे (दोषण्यं यक्ष्मम्) दोषण्य यक्ष्म को (विवृहामि) मैं निकालता हूँ। इस यक्ष्म को "दोषण्य" कहा है।

[ग्रीवाभ्यः="१४ सूक्ष्माण्यस्थीनि। अनूक्य अस्थीनि=त्रयस्त्रिंशत्। कीकसाभ्यः जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः" (सायण)।]

हृद॑यात्ते॒ परि॑ क्लो॒म्नो हली॑क्ष्णात्पा॒र्श्वाभ्या॑म्।
यक्ष्मं॑ मत॒स्नाभ्यां॑ प्ली॒ह्नो य॒क्नस्ते॒ वि वृ॑हामसि ॥३॥

(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (परिक्लोम्नः) क्लोम से, (हलीक्ष्णात्) हलीक्ष्ण से, (पार्श्वाभ्याम्, मतस्नाभ्याम्) पार्श्ववर्ती दो मतस्नाओं से, (प्लीह्नः) तिल्ली से, (यक्नः) यकृत् से (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को (वि वृहामसि) हम [वैद्य] निकालते हैं।

[क्लोमा=फेफड़ा। हलीक्ष्ण=सम्भवतः Duodenum, जोकि आमाशय से निकलकर लगभग १० इञ्च तक लम्बा अङ्ग होता है, इसमें पाचनक्रिया भी होती है। दो मतस्न हैं, दो वृक्कौ, दो गुर्दे, जोकि पीठ में कटिभाग के ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित हैं जिनमें मूत्र-निर्माण होता है। ये मदकारी मूत्र को निकालकर शरीर का शोधन करते रहते हैं "क्ष्णा शौचे" (अदादिः)। यकृत् है liver (पित्तस्रावी) जोकि शरीर के दक्षिण भाग में स्थित होता है, से घिरा हुआ मैं हूँ। अतः न मुझे प्राप्त हुई हैं इषुएँ जोकि मानुषी हैं; तथा न चलाई गई इषुएँ मुझे प्राप्त हुई हैं, जोकि देवों द्वारा चलाई गई हैं, मेरे वध के लिये।

मन्त्र में कश्यप की ज्योति तथा वर्चस् अर्थात् दीप्ति का वर्णन है। यह ही कश्यप का "वीवर्हण" है, छेदक अस्त्र है। अतः कश्यप अर्थात् सूर्य की प्रकाशमयी तथा तेजस्वी रश्मिसमूह का वर्णन मन्त्र में हुआ है। इसके सेवन से मनुष्य दैवी तथा मानुषी वधों से बचा रहता है। सायणाचार्य ने "वीवर्हण" द्वारा "कश्यपस्य महर्षेः विवर्ह सूक्तम्" अर्थ किया है, जोकि 'त्वचस्य यक्ष्म" की निवृत्ति नहीं कर सकता। पर सूर्य की ज्योति तथा दीप्ति डालने से "त्वचस्य यक्ष्म" निवृत्त हो सकता है।

दैवीः इषवः=अति सर्दी, अति गर्मी, अति वर्षा और रोग आदि।

यक्ष्म=शारीरिक रोग तथा लोमों अर्थात् सिर के बालों, मोंछ, दाढ़ी और भौंओं के शीघ्र पलित हो जाने अर्थात् सफेद हो जाने और झड़ जाने को "यक्ष्म" कहा है। यक्ष्म पद किसी भी प्रकार की हुई क्षीणता का निर्देशक है।]

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥

(आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (ते) तेरी (गुदाभ्यः) आंतों के समीपस्थ मल-मूत्र के प्रवहन मार्गों से, (वनिष्ठोः) स्थूलान्त्र से, (उदरात् अधि) उदर से, (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) प्लाशि से, (नाभ्याः) नाभि से (ते यक्ष्म) तेरे यक्ष्मरोग को (वि वृहामसि) हम निकाल देते हैं।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

(ऊरुभ्याम्) दो पट्टों से, (ते) तेरे (अष्ठीवद्भ्याम्) दो घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम्) पैरों के पिछले दो भागों से, (प्रपदाभ्याम्) पैरों के दो अग्र भागों से, (श्रोणिभ्याम्) कटि के नीचे के दो भागों से, (भंससः) गुह्य प्रदेश से, (भसद्यम्) कटि में हुए, (भासदम्) तथा गुह्य प्रदेश में हुए, (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्मरोग को (विवृहामि) मैं निकाल देता हूँ।

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥

(अस्थिभ्यः) हड्डियों से, (मज्जभ्यः) हड्डियों के भीतर के तत्त्व [marrow] से, (स्नावभ्यः) सिराओं [veins] से, (धमनिभ्यः) धम-धम करनेवाली शुद्ध रक्तवाली नाड़ियों से, (पाणिभ्याम्) दोनों हथेलियों से, (अंगुलिभ्यः) हाथों की उङ्गलियों से, (नखेभ्यः) नखों से (ते) तेरे (यक्ष्म) यक्ष्मरोग को (विवृहामि) मैं निकाल देता हूँ।

[मज्जा=नलिकावाली हड्डियों के भीतर तथा पेशियों में का स्निग्ध तत्त्व। स्नाव=यह है हृदय की ओर स्रवित होनेवाला अशुद्ध रक्त।]

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग-अङ्ग में, (लोम्नि लोम्नि) रोम-रोम में, (पर्वणिपर्वणि) शरीर के जोड-जोड में, (ते) तेरा (यः) जो (त्वचस्यं यक्ष्म) त्वचा-सम्बन्धी

यक्ष्म है, (ते) तेरे (विश्वञ्चम्) समस्त अङ्गों में व्यापी उस यक्ष्म को (कश्यपस्य) द्रष्टा के (वीबर्हेण) छेदक [रश्मिसमूह] द्वारा (वि वृहामसि) हम [वैद्य] निकाल देते हैं। यह "त्वचस्य यक्ष्म" है।

[कश्यपस्य=पश्यतीति१ कश्यपः, सूर्य जोकि उदित होकर भूमि आदि का दर्शन करता है। यथा "परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय" (अथर्व० १७।१।२८) अर्थात् ब्रह्मरूपी कवच से घिरा हुआ तथा कश्यप की ज्योति तथा दीप्ति।]

सूक्त ३४

(१-५)। अथर्वा। पशुपतिः पशुभागकरणम्। त्रिष्टुप्।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१॥

(यः) जो (पशुपतिः) पशुपति (चतुष्पदाम्) चार पैरोंवाले (पशूनाम्) पशुओं का (ईशे) अधीश्वर है, (उत) तथा (यः) जो (द्विपदाम्२) दो पैरों-वालों का अधीश्वर है। (सः) वह (निष्क्रीतः) मानो [मेरी भक्ति द्वारा] खरीदा गया (यज्ञियम्) मेरे ध्यान-यज्ञ को (भागम् एतु) भागी हो और (यजमानम्) उपासनायज्ञ-कर्त्ता मुझको (रायस्पोषाः) सम्पत्तियों की पुष्टियाँ (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥२॥

(देवाः) हे दिव्यगुणो! (भुवनस्य) उत्पत्तिसम्बन्धी (रेतः) वीर्य का (प्रमुञ्चन्तः) परित्याग करते हुए (यजमानाय) ध्यान-यज्ञ करनेवाले मुझ ध्याता के लिए (गातुम्) जीवनमार्ग (धत्त) स्थापित करो। (उपाकृतम्) मेरे समीप संगृहीत हुआ (यत्) जो धन (अस्थात्) बचा है, (शशमानम्) जोकि प्लुतगतिवाला अर्थात् नश्वर है, वह (अपि) भी (देवानाम्) दिव्यगुणों के (प्रियम्, पाथः) प्रिय अन्न के लिए (एतु) हो।

१. विपर्यय विधि द्वारा। निर्वचन पञ्चविधिक होता है। यथा "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगः" इति।
२. द्विपद पशु हैं, मनुष्य। जब तक आहार, निद्रा, भय, मैथुन से सम्पन्न मनुष्य रहते हैं, तब तक ये पशु ही हैं। आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

[अभिप्राय यह कि दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है ब्रह्मचर्य से। तभी ध्यानयज्ञ सफल होता है। संगृहीत धन का व्यय भी दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त होना चाहिए, यह संगृहीत धन दिव्यगुणों का प्रिय अन्नरूप है, इस निमित्त लगाए गए धन से दिव्यगुणों की वृद्धि होती है। मन्त्र में अध्यात्म देवासुर-संग्राम में देवों का वर्णन हुआ है। देवानां पाथः=देवानाम् अन्न (निरुक्त ८।३।१७)। शशमानम्=शश प्लुतगतौ (भ्वादिः)।]

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३॥

(ये) जो (बध्यमानम्) शरीर में बंधे जीवात्मा का (अनु दीध्यानाः) अनुध्यान अर्थात् निरन्तर चिन्तन करते हैं, (मनसा) मनन द्वारा (च) और (चक्षुषा) दिव्य दृष्टि द्वारा (अन्वैक्षन्त) उसका अन्वीक्षण करते हैं (तान्) उन्हें (विश्वकर्मा) विश्व का कर्त्ता, (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ सम्यक् रममाण हुआ (अग्निः देवः) अग्निनामक परमेश्वर-देव (अग्रे) पहिले (प्र मुमोक्तु) प्रमुक्त करे, मोक्ष प्रदान करे।

[अग्निदेव="तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥" (यजुः० ३२।१) के अनुसार अग्निदेव है ब्रह्म, जिसे कि विश्वकर्मा कहा है। जिन अनुध्यानियों में जीवात्म-सम्बन्धी ज्ञानाग्नि प्रकट हुई है, उन्हें प्रमुक्त करनेवाला विश्वकर्मा भी, अग्निदेव है।]

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥४॥

(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम्य स्वभावोंवाले (पशवः) पशुरूप हैं, (विश्वरूपाः) नाना रूपाकृतियोंवाले होते हुए, (विरूपाः सन्तः) अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपाकृतियोंवाले होते हुए भी, (बहुधा) प्रायः (एकरूपाः) एकरूप हैं, ग्राम्यस्वभावोंवाले हैं, (तान्) उन्हें (अग्रे) प्रथम (वायुः) प्राणायाम वायु (प्रमुमोक्तु) प्रमुक्त करे, तत्पश्चात् (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ सम्यक्-रममाण हुआ (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति ब्रह्म प्रमुक्त करे।

[अभिप्राय यह कि जो मनुष्य अभी ग्राम्यवृत्तियोंवाले हैं, जिन्हेंकि अभी जीवात्म-अन्वीक्षण की भावनाएँ जागरित नहीं हुईं, वे पहिले प्राणायाम का अभ्यास करें और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा मोक्ष के लिए तैयार हुओं को, वायुपति अर्थात् प्राणायाम वायु का पति परमेश्वर तत्पश्चात् उन्हें मोक्ष प्रदान करे।]

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

(पूर्वे) प्राणायाम के अभ्यास में पूर्ण हुए, (प्रजानन्तः) प्राणायाम की विधि को जानते हुए, (पर्याचरन्तम् प्राणम्) शरीर में सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग में विचरते हुए प्राण का (प्रति गृह्णन्तु) प्रत्याहार द्वारा निग्रह करें। हे प्राण का निग्रह करनेवाले! (दिवम् गच्छ) दिव्य ज्योति को तू प्राप्त हो, (शरीरैः) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों द्वारा (प्रति तिष्ठ) दृढ़ स्थिति को तू प्राप्त हो जा, तदनन्तर (देवयानैः पथिभिः) देवों के जानेवाले मार्गों द्वारा (स्वर्गम्) स्वर्ग को (याहि) तू जा।

[पूर्वे=पूर्व पूरणे (भ्वादिः), अथवा पूरी आप्यायने (दिवादिः)[1]।]

सूक्त ३५

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१॥

(ये) जिन्होंने (भक्षयन्तः) खाते हुए (वसूनि) धनों को (न आनृधुः) प्रवृद्ध नहीं किया; (याम्) जिन्हें (धिषण्याः अग्नयः) धिष्ण्य अग्नियों ने (अन्वतप्यन्त) निरन्तर तपाया है, संतप्त किया है, (तेषाम्) उनकी (या) जो (अवयाः) याग का न अनुष्ठानरूपी (दुरिष्टिः) दुरितरूपा दृष्टि हुई है, दुष्परिणामरूपा दृष्टि हुई है, (ताम्) उसे (नः) हमारे लिए (विश्वकर्मा) विश्व का रचयिता परमेश्वर (स्विष्टिम् कृणवत्) शोभन-दृष्टिरूप करे।

[आनृधुः=ऋधु वृद्धौ लिटि, द्विर्वचने नुडागमः (सायण)। मन्त्र में "तेषाम् और नः" द्वारा दो प्रकार के याज्ञिकों का वर्णन अभिप्रेत है। "तेषाम्" द्वारा उन याज्ञिकों का वर्णन है, जिन्होंने खाते हुए धनों की वृद्धि नहीं की। इसलिए जो अवयाः हैं, यज्ञों के अनुष्ठान से विहीन हैं, धन के न होने से यज्ञ नहीं कर सकते। यज्ञ करने पर भी समुचितरूप में यज्ञ का सम्पादन नहीं कर सकते, धन की अल्पता के कारण; क्योंकि उन्होंने धन का पूर्णतया भक्षण कर लिया है, शेष नहीं बचा। (नः) द्वारा उन याज्ञिकों का वर्णन हुआ है जो दुरिष्टि नहीं चाहते, अपितु स्विष्टि चाहते हैं, उन्होंने एतदर्थ विश्वकर्मा से प्रार्थना या याचना की है। अन्वतप्यन्त द्वारा यह दर्शाया है कि धिषणा अर्थात् स्वार्थ बुद्धि द्वारा प्रेरित हुई इन्द्रियों [धिषण्यों]

१. मन्त्र ४, ५ में अर्थ समान है। आप्यायनम्=वृद्धिः।

ने भक्षण करने के लिए उन्हें निरन्तर सन्तप्त कर दिया था। अवयाः= अवयजनं यागाननुष्ठानं दुरिष्टिः। धिषणा=बुद्धिर्वा (उणा० २।८३, दयानन्दः), तथा "प्रज्ञा" (५।२७, दशपादी उणादिवृत्तिः)। स्विष्टिः सु+ इषु इच्छायाम्।]

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

(ऋषयः) ऋषियों ने (यज्ञपतिम्) गृहस्थ-यज्ञ के पति को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) छुटा हुआ, पृथक् हुआ (आहुः) कहा है, (प्रजा अनुतप्यमानम्) जोकि प्रजा के सन्ताप में स्वयम् सन्तप्त होता है, प्रजा के दुःखों में दुःखित होता है। यज्ञपति ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) बिन्दुओं को (अप रराध) गृहस्थ धर्म साधन के विरुद्ध प्रयुक्त किया है, (विश्वकर्मा) विश्वकर्त्ता परमेश्वर (नष्टेभिः) नष्ट हुए विन्दुओं के साथ (सं सृजतु) यज्ञपति का संसर्ग कर दे।

[मथव्यान् स्तोकान्=मिथुनयोग्य वीर्य-बिन्दुओं को। अपरराध= अप+राध संसिद्धौ (स्वादिः) व्यर्थ किया है।]

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥३॥

(अदान्यान्) दान ग्रहण कर सकने में अयोग्यों को (सोमपान्)सोमपायी (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य विद्वान्) गृहस्थ-यज्ञ सम्बन्धी कर्मों को जानता हुआ भी, (समये) गृहस्थ-काल के उपस्थित हो जाने पर, (न धीरः) जो धी-रहित अर्थात् विचाररहित हो जाता है। (एषः) इसने अर्थात् (बद्धः) शरीर में बँधे हुए जीवात्मा ने (यत्) जो (एनः चकार) पाप कर्म किया है, (तम्) उस पुरुष को (विश्वकर्मन्) हे विश्व-के-कर्त्ता! (प्रमुञ्च) उस पाप कर्म से मुक्त कर दे, (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिये।

[अभिप्राय यह कि जो पुरुष गृहस्थ-यज्ञ में किये जानेवाले पञ्च-महायज्ञों और भूतयज्ञ को जानता हुआ भी, इन महायज्ञों और भूतयज्ञ के करने में असमर्थ को गृहस्थ-यज्ञ के लिये प्रेरित करता या अनुज्ञा देता है और वह गृहस्थ में यदि प्रविष्ट हो जाता है, तो यह मानो उसने पाप कर्म किया है। पाप कर्म इसलिये कि वह गृहस्थ-यज्ञ के कर्मों को निभा नहीं सकता। यह भी समझना चाहिए कि वह गृहस्थ में रहता हुआ सोमपायी रह भी सकता है या नहीं। मनु के अनुसार पत्नी के ऋतुकाल में गमन कर, अन्य कालों में भोगरहित होता है, वह भी ब्रह्मचारी ही गिना जाता है,

अर्थात् सोमपायी ही समझा जाता[1] है। सोम=वीर्य (अथर्व० १४।१।३,५) अथर्ववेदभाष्य, संस्कृत।]

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥४॥

(ऋषयः) ऋषि लोग (घोराः) घोर तपस्वी हैं, (एभ्यः) इनके लिये (नमः) नमस्कार हो, (एषाम्) इनकी (यत् चक्षुः) जो दिव्यदृष्टि है, (च) और (मनसः) मन की दृष्टि है, (सत्यम्) वह सत्य होती है। (महिष) हे महान् प्रभो! (बृहस्पतये) वड़े ब्रह्माण्ड के पति तेरे लिये (द्युमत् नमः) द्युतिसम्पन्न नमस्कार हो, (विश्वकर्मन्) हे विश्व-के-कर्त्ता! (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर।

[मन्त्र (२) में ऋषयः का वर्णन हुआ है और मन्त्र (४) में उनके स्वरूपों का कथन किया है। बृहस्पति परमेश्वर महा-ऋषि है [महिष], उसके लिये "द्युमत् नमः" कहा है, "द्युमत् नमः" है ज्ञानदीप्तिसम्पन्न नमस्कार, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर उसके प्रति नमस्कार। "मनसः च" में "च" द्वारा चक्षुः पद का उपसंहार हुआ है। इससे यह दर्शाया है कि ऋषियों की मानसिक-चक्षुः भी चक्षु के सदृश सत्य की ज्ञापिका है। मानसिक-चक्षु है मानसिक विचार या संकल्प।]

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

(यज्ञस्य) संसार-यज्ञ के (चक्षुः) चक्षुवत् ज्ञापक अर्थात् प्रकाशक, (प्रभृतिः) प्रकर्षेण भरण-पोषण करनेवाले, (मुखम् च) और प्रवक्ता को, (वाचा, श्रोत्रेण, मनसा) स्तुतिवचन द्वारा, श्रवण और मनन द्वारा (जुहोमि) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ। (विश्वकर्मणा) विश्व-के-कर्त्ता द्वारा (विततम्) विस्तारित (इमम् यज्ञम्) इस संसार-यज्ञ में (देवाः) देवकोटि के मुक्तात्मा (सुमनस्यमानाः) प्रसन्नमनपूर्वक (आ यन्तु[2]) आएँ, अर्थात् मोक्षकाल की समाप्ति के पश्चात् इस यज्ञ में आएँ।]

---

१. वह ब्रह्मचर्यकाल में भी पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करता रहा है या नहीं, इसका भी ध्यान करना चाहिए। "अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्"।

२. मुक्ति से लौटकर पुनः संसार में जन्म लेना, यह वैदिक सिद्धान्त है। ऋषि दयानन्द ने इस वैदिक सिद्धान्त को माना। यथा "कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च"

सूक्त ३६

(१-८)। पतिवेदनः। अग्नीषोमीयम्। त्रैष्टुभम्; १ भुरिक्;
२, ५-७ अनुष्टुभ्; ८ निचृत् पुरोष्णिक्।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! (संभलः) सम्यक्-भाषी [वर], (सुमतिम्) सुमति (इमाम् नः कुमारीम्) इस हमारी कुमारी को (आ गमेत्) प्राप्त हो (भगेन सह) सम्पत्ति के साथ। [यह कुमारी] (वरेषु) वरण करने-वालों में (जुष्टा) प्रिया, (समनेषु) सामाजिक जीवनों में (वल्गुः) रुचि रखती है, (पत्या) पति के साथ (अस्यै) इसके लिये (ओषम्) प्रत्येक उषाकाल में (सौभगम्) सौभाग्य (अस्तु) हो।

[अग्ने=अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। संभलः=सम्+भल परिभाषणे (भ्वादिः)। भगेन=सम्पत्ति के साथ, न कि निर्धन। गृहस्थ सम्पत्ति के बिना चल नहीं सकता। (जुष्टा=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)। समनेषु=सम् (सामाजिक)+अन (जीवन), अन प्राणने (अदादिः)। ओषम्="आ उषा" काल में, अर्थात् प्रतिदिन, उषाकाल से प्रारम्भ कर।]

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम्।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

(सोमजुष्टम्) सोम अर्थात् चन्द्रमा द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टम्)

(ऋ० १।२४।१) के अनुसार ऋषि ने मुक्ति से लोटकर जीवात्मा के पुनः माता-पिता के दर्शन करने का कथन किया है।
तथा "ये मुक्तजीव मुक्ति को प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द का तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्तिसुख को छोड़कर संसार में आते हैं" (मुण्डकोपनिषद् ३।२।६) के आधार पर।
तथा "प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है। अनन्त आनन्द के भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीव में नहीं। जिनके साधन अनित्य उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निःशेष हो जाने चाहिये" (इत्यादिः)। सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास, सन्दर्भ "मुक्ति से पुनरावृत्ति"।

ब्राह्मण द्वारा सेवित, (अर्यम्णा) अग्नि द्वारा (संभृतम्) सम्यक्-धारित (भगम्) श्री अर्थात् शोभा को, (धातुः) जगद्धारक (देवस्य) परमेश्वर-देव के (सत्येन) सत्य-नियम से, (पतिवेदनम्) हे कुमारी! प्रतिप्रापक (कृणोमि) मैं तुझे करता हूँ।

[सोमः=चन्द्रमाः; चन्द्रमा सेवित भग है, शैत्यस्वभाव। ब्रह्मजुष्टम्=ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण द्वारा सेवित भग है, निःस्वार्थ परोपकार। अर्यम्णा=अर्यमा[1] अर्थात् अग्नि द्वारा सेवित भग है, पति प्राप्त कराना। सत्येन-विवाह का सत्यनियम, अर्थात् विवाह द्वारा पतिप्राप्ति। इन गुणों से सम्पन्न वर को मैं [पुरोहित] हे कुमारी! तुझे पति प्राप्त कराता हूँ, या तेरे लिये पतिरूप में निवेदित करता है। श्रौतसूत्रकार ने सूक्त का ऋषि "पतिवेदन" माना है। सूक्त का वास्तविक ऋषि अज्ञात है, अतः "पतिवेदन" को ऋषि कह दिया है।]

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥३॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! (इयम् नारी) यह कन्या (पतिं विदेष्ट) पति को प्राप्त हो। (सोमो हि राजा) सौम्य स्वभाववाला राजमान हुआ वर, (सुभगाम् कृणोति) इसे सौभाग्ययुक्त करता है। (पुत्रान् सुवाना) पुत्रों का प्रसव करती हुई (महिषी) महिमायुक्ता (भवाति) यह हो (गत्वा पतिम्) पति [गृह] को जाकर (सुभगा) सौभाग्ययुक्ता हुई (विराजतु) विराजमान हो।

[विदेष्ट=विद्लृ लाभे आशिषि लिङ्, सीयुटः सलोपः सुडागमः (सायण)।]

यथा खरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

(यथा) जैसे (एषः) यह (आखरः) सब प्रकार से अर्थात् कठोर जङ्गल-प्रदेश, (मघवान्) मंहनीय भोग्य पदार्थों से युक्त हुआ, (मृगाणाम्) जंगल के पशुओं का (प्रियः) प्रिय हुआ, (सुषदाः) सुख से स्थिति योग्य (बभूव) होता है, (एवा) इसी प्रकार (भगस्य जुष्टा) भगों से सम्पन्न पति की प्रिया, (इयम् नारी अस्तु) यह नारी हो, (सं प्रिया) सम्यक्-प्रिया हुई,

१. अर्यमा=विवाहाग्नि, यथा "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम् अयक्षत" (आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।१३)। अग्निसाक्षिक ही विवाह होता है।

(पत्या) पति के साथ (अविराधयन्ती) विरोध न करती हुई, अपितु उसके कार्यों का विधिवत् सम्पादन करती हुई।

भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥५॥

हे कन्ये! (भगस्य) सौभाग्य की (नावम्) नौका पर (आरोह) आरोहण कर, (पूर्णाम्) जो कि सुखसम्पूर्ण है, (अनुपदस्वतीम्) क्षय करने-वाली नहीं। (तया) उस नौका द्वारा (उप प्रतारय) पति को गृहस्थ-समुद्र से तैरा, (यः) जो (वरः) वर, अर्थात् पति के (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है।

[नावम्=नौका है विवाह। अनुपदस्वतीम्=अ+नुट्+उप+दसु उपक्षये+मतुप्। प्रतारय=तैरा। मनु के अनुसार गृहस्थाश्रम समुद्ररूप है। यथा "यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्" (६।९०) में गृहस्थाश्रम को समुद्र से उपमित किया है।]

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥६॥

(धनपते) हे धन के पति! [कन्या के पिता!] (आ क्रन्दय) [वर का] तू आह्वान कर, (वरम्) वर को (आमनसम्) कन्या के अभिमुख मन-वाला (कृणु) कर। (प्रदक्षिणम्) प्रवृद्धिकारक (सर्वम्) सब धन को (कृणु) तू प्रदान कर [उसे], (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है। क्रन्दय=क्रदि आह्वाने (भ्वादिः)।

[प्र दक्षिणम्=प्र+दक्ष वृद्धौ, तत्सम्बन्धी धन, जो कि कन्या के पिता ने विवाह में वर को देना है, जो कि गृहस्थ धर्मों की वृद्धि करे। गृहस्थ में पञ्चमहायज्ञ आदि गृहस्थ-धर्म करने होते हैं, यह प्रदत्त धन धर्म-कर्मों के करने में सहायक होगा।]

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे॥७॥

(इदम्) यह (हिरण्यम्) हिरण्यमय आभूषण, (गुल्गुलु) गुग्गुल, (अयम्, औक्षः) यह [सेचनसमर्थ युवा] बैल का चर्मविशेष, (अथो भगः) तथा अन्य देय ऐश्वर्य, (एते) इन सम्बन्धियों ने (त्वाम्) तुझे (अदुः) दिया है, (प्रतिकामाय) प्रत्येक सम्बन्धी के अभीष्ट वर के लिये, (वेत्तवे) उसे निवेदित करने के लिये, देने के लिये।

[विवाह में सम्बन्धी, कन्या को भेंटें देते हैं, जिन्हें कि वह पति को निवेदित कर देती है, दे देती है। गुल्गुलु अर्थात् गुग्गुल सुगन्धित पदार्थ है, इसके धूपन से गृहशुद्धि होती है, रोगकीटाणु मर जाते हैं। औक्षः=यह बैल का चर्म है, जिस पर आरोहण कर पत्नी प्रसव-कर्म करती है (अथर्व० १४।२।२१-२४), यह चर्म लाल बैल का होता है (चर्मणि रोहिते, अथर्व० १४।२।२३); रोहित=लोहित अर्थात् लाल।]

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः।
त्वमस्यै धेह्योषधे॥८॥

हे कन्ये! (ते) तेरे लिये (सविता) उत्पादक पिता (आ नयतु) ओषधि लाए, (आ नयतु) लाए (पतिः) पति (यः) जो (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है। (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (अस्यै) इस पत्नी के लिये (धेहि) परिपुष्ट हो जा।

[आवृत्ति द्वारा "आ" का सम्बन्ध द्वितीय "नयतु" के साथ भी है। धेहि=डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)।]

द्वितीय काण्ड समाप्त

तृतीय काण्ड

अनुवाक १

(१-६)। अथर्वा। सेनामोहन, बहुदेवता। त्रिष्टुभ्,
२ विराड्गर्भा भुरिक्; ३, ६ अनुष्टुभ्,
५ विराट् पुरौष्णिक्।

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(विद्वान्) युद्धविद्या का जाननेवाला, (अभिशस्तिम्) संमुख होकर हिंसा करनेवाले, (अरातिम्) दानभावना से रहित, अतः शत्रुरूप को, (प्रतिदहन्) उसके प्रत्येक सैनिक को दग्ध करता हुआ (नः) हमारा (अग्निः) अग्रणी सेनाध्यक्ष, (शत्रून्) शत्रुओं के (प्रत्येतु) प्रति जाय। (सः) वह (जातवेदाः) युद्धविद्या को जाननेवाला (परेषाम् सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (मोहयतु) मुग्ध कर दे, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित कर दे, (च) और (निर्हस्तान्) निहत्थे (कृणवत्) कर दे।

[विद्वान् तथा जातवेदाः पदों द्वारा अग्नि चेतन प्रतीत है, वह है हमारा सेनाध्यक्ष। निहत्थे का अभिप्राय है आयुधों से रहित कर देना, हस्तव्यापार से रहित कर देना।]

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

(उग्राः) हे उग्र तथा (मरुतः) मारने में कुशल सैनिको! (यूयम्) तुम (ईदृशे) इस प्रकार के युद्धकर्म में (स्थ) स्थित होओ, (अभिप्रेत) शत्रुओं के अभिमुख प्रयाण करो, (मृणत) उन्हें मारो, (सहध्वम्) उनका पराभव करो। (नाथिताः) अपने-अपने स्वामियों सहित (इमे) इन (वसवः) वसुओं [रुद्रों और आदित्यों] ने (अमीमृणन्) शत्रुओं को मार दिया है। (एषाम्) इन शत्रुओं का (विद्वान्) दूतकर्म जाननेवाला (अग्निः) अग्रणी अर्थात् मुखिया (दूतः) दूत (प्रत्येतु) हमारे प्रति आए।

[मरुतः=शत्रुओं को मारने में कुशल (यजु० १७।४०) सैनिक। राष्ट्र पर शत्रुसेना ने यदि आक्रमण किया है तो राष्ट्र के वसु आदि कोटि

के विद्वान् भी, निज-निज अध्यक्षों सहित, युद्ध करते हैं। परिणाम यह होता है कि शत्रुपक्ष का दूत, समझौते के लिये, विजयी राष्ट्राधिपति की सेवा में उपस्थित होता है। अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। अग्निः= सेनाग्निरत्र विवक्षितः (सायण)।]

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥३॥

(मघवन्) हे धनिक [इन्द्र!] (अस्मान्) हमारे साथ (शत्रूयतीम्) शत्रुता का आचरण करनेवाली, (अमित्रसेनाम्, अभि) शत्रु की सेना के अभिमुख [तू जा]। (वृत्रहन्) हे वृत्रों अर्थात् हमारे राष्ट्र पर आवरण डालनेवाले, उसे घेरनेवाले का (इन्द्र) हनन करनेवाले सम्राट्! (च) और (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (युवम्) तुम दोनों (ताम्) उस सेना को, (प्रति) प्रतिकूल होकर, (दहतम्) दग्ध करो, भस्मीभूत करो। [इन्द्र= इन्द्रश्च सम्राट् (यजु० ८।३७)।]

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (प्रसूतः) प्रेरित हुआ तू (हरिभ्याम्) दो अश्वों से युक्त (प्रवता) प्रकृष्ट गतिवाले रथ द्वारा [प्रयाण कर], (ते) तेरा (वज्रः) वज्र (शत्रून् प्रमृणन्) शत्रुओं को मारता हुआ (प्र एतु) प्रगति करे। (जहि) विनष्ट कर (प्रतीचः) हमारे प्रति गमन करनेवालों को, (अनूचः) हमारा पीछा करनेवालों को, (पराचः) युद्धस्थल छोड़कर परे भाग जानेवालों को। (एषाम्) इन शत्रुओं के (विष्वक्) नानामुखी (चित्तम्) चित्त को (सत्यम्) सत्यमार्गी (कृणुहि) तू कर दे।

[प्र सूतः=प्रेरित हुआ। प्र+षू प्रेरणे (तुदादिः); प्रजा द्वारा या सैन्य द्वारा युद्धार्थ प्रेरित हुआ सम्राट्। सत्यम्="युद्ध न करना" यह चित्त का सत्यमार्गी होना है। विषु+अक्=विष्वक्; युद्ध करें या न करें, यह चित्तवृत्ति नानामुखी है।]

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (अमित्राणाम् सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (मोहय) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित कर। (विषूचः) सर्वतः पलायमान (तान्) उन सैनिकों को (अग्नेः वातस्य) अग्नि के तथा वायु के (ध्राज्या)

वेग द्वारा (वि नाशय) विनष्ट कर।

[मोहय=देखो अथर्व० सूक्त २ । मन्त्र १-४; तथा ५,६ । अग्नेः= आग्नेय अस्त्र, तथा वातस्य=वायवीय अस्त्र ।]

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥६॥

(इन्द्रः) सम्राट् (सेनाम्) शत्रुसेना को (मोहयतु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित करे, (मरुतः) मारने में कुशल हमारे सैनिक (ओजसा) बल द्वारा (घ्नन्तु) सेना का हनन करें। (अग्निः) अग्नि (चक्षूंषि) शत्रुओं की दृष्टियों का (आ धत्ताम्) अपहरण करे, (पुनः) तत्पश्चात् (पराजिता) पराजित हुई अवशिष्ट-शत्रुसेना (एतु) हमारी शरण में आ जाय।

[मरुतः=सैनिकाः (यजु० १७।४०) । अग्निः=सौराग्नि, सौर रश्मियां । सौर रश्मियों को यन्त्रित करके सैनिकों की चक्षुओं में डालने से चक्षुएँ चुन्धिया जाती हैं और कुछ काल तक सैनिक देख नहीं सकते और इन्द्र के वश में होकर शरणागत हो जाते हैं । मोहयतु=मुह वैचित्ये (दिवादिः) वैचित्यम्=चिति अर्थात् चेतना से राहित्य ।]

सूक्त २

(१-६) । अथर्वा । सेनामोहन, बहुदेवताः । त्रिष्टुभ्; २-४ अनुष्टुभ् ।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(नः) हमारा (विद्वान्) युद्धविद्याविज्ञ (दूतः) शत्रुओं का उपतापक (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (प्रत्येतु) शत्रुओं के प्रतिमुख आए, (अभिशस्तिम्) अभिमुख होकर हिंसा करनेवाले, (अरातिम्) दानभावनारहित अतः शत्रु को (प्रतिदहन्) प्रतिकूलरूप में दग्ध करता हुआ। (सः) वह (परेषाम्) शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित करे, (च) और (जातवेदाः) नवजात परिस्थितियों का वेत्ता अग्रणी (निर्हस्तान् कृणवत्) उन्हें निहत्थे कर दे।

[निर्हस्तान् (अथर्व० १।१)]

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥२॥

(अयम्) इस (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (वः अमूमुहत्) तुम्हें मुग्ध कर दिया है, कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित कर दिया है, (वः) तुम्हारे (हृदि) हृदय में (यानि) जो (चित्तानि) संकल्प हैं [उनसे रहित कर दिया है ।] (वः) तुम्हें (ओकसः) गृहों से (वि धमतु) अग्रणी निकाल दे, (वः) तुम्हें (सर्वतः) सब स्थानों से (प्र धमतु) प्रकर्षतया निकाल दे।

[धमतु=ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भ्वादिः), "शब्द" अर्थ अभिप्रेत है, अर्थात् निज आज्ञा द्वारा ।]

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥३॥

(इन्द्र) हे सम्राट् ! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) मुग्ध करता हुआ, कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित करता हुआ तू, (आकूत्या) सफल हुए निज संकल्प के साथ, (अर्वाङ्) इधर हमारी ओर (चर) विचर [साम्राज्य में विचर], "अग्नेर्वातस्य" आदि पूर्ववत् (अथर्व० १।५)।

[मन्त्र २ और ३ द्वारा प्रतीत है कि शत्रु के मोहन का अधिकार, प्रधानमन्त्री तथा सम्राट् दोनों को है ।]

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥४॥

(व्याकूतयः) हे परस्पर विरुद्ध संकल्पो ! (एषाम्) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (इत) तुम प्राप्त होओ, (अथो) तथा (चित्तानि) हे शत्रुओं के चित्तो ! (मुह्यत) तुम मोहग्रस्त हो जाओ, कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित हो जाओ। (अथो) तथा (अद्य) आज (यद्) जो (एषाम्, हृदि) इन शत्रुओं के हृदय में है, (एषाम्) इन शत्रुओं के (तत्) उस संकल्प को (परि निर्जहि) सर्वथा नष्ट कर दे।

[मन्त्र में इन्द्र के प्रति कहा है "निर्जहि" ।]

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥

(अमीषाम्) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रति मोहयन्ती) कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित करती हुई (अप्वे) हे अप्वा-इषु ! (अङ्गानि) इनके अङ्गों को (गृहाण) जकड़ दे, (परेहि) और हम से पराङ्मुखी हुई शत्रु की ओर जा। (अभिप्रेहि) साक्षात् शत्रु की ओर प्रयाण कर और (हृत्सु शोकैः) हृदयस्थ शोकाग्नियों द्वारा (निर्दह) इन्हें दग्ध कर, (ग्राह्या)

अङ्गों के जकड़नरूपी इषु द्वारा, तथा (तमसा) अन्धकार द्वारा (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) बींध।

[मन्त्र में अप्वा द्वारा इषु का वर्णन हुआ है। अप्वा का अर्थ है अपगत हुई, जो शत्रु की ओर गमन करती है, अप+वा (गतौ, अदादिः)। इसके तीन काम हैं; (१) शत्रुसेना के अङ्गों को जकड़ देना, (२) शत्रुसेना में तमस् अर्थात् अन्धकार को फैला देना। (३) शत्रुसेना के चित्तों को कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान से रहित कर देना। यह इषु भयस्वरूपा है, भयप्रदा है, भयानक है। इसे निरुक्त में "भय" शब्द द्वारा द्योतित किया है। यथा "व्याधिर्वा भयं वा" (६।३।१२; पदसंख्या ४८) अप्वा के चलाने की आज्ञा देता है इन्द्र अर्थात् सम्राट्, परन्तु इसे फेंकते हैं "मरुतः" अर्थात् सैनिक (मन्त्र ६)। अप्वा को missile कह सकते हैं।]

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥६॥

(मरुतः)[1] मारने में कुशल हे सैनिको! (परेषाम्) शत्रुओं की (या) जो (असौ) वह (सेना) सेना (ओजसा) बलातिशय के कारण (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई (अस्मान् अभि) हमारे अभिमुख (एति) आती है (ताम्) उसे (अपव्रतेन) कर्महीन कर देनेवाले (तमसा) अन्धकारास्त्र द्वारा (विध्यत) बींधो, (यथा) जिस प्रकार कि (एषाम्) इन शत्रुओं के मध्य में (अन्यः) एक सैनिक (अन्यम्) दूसरे निज सैनिक को (न जानात्) न पहचान सके।

[मरुतः=मारने में कुशल हमारे सैनिक (यजुः० १७।४०)। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)।]

सूक्त ३

(१।६)। अथर्वा। नाना देवता, तथा अग्निः। त्रिष्टुम्;
३ चतुष्पदा भुरिक् पंक्तिः, ५, ६ अनुष्टुभ्।

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम्॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (अचिक्रदत्) [इन्द्र] ने बार-बार तुझे पुकारा है, (स्वपाः) ताकि उत्तमकर्मी वह इन्द्र (इह) इस अपने

१. म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १।६४; दयानन्द)।

राष्ट्र में (भुवत्) पुनः संचित हो जाय, एतदर्थ (उरूची) व्यापनशील, (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी में (व्यचस्व) तू विविध प्रकार की गतियाँ कर [इन्द्र के अन्वेषण के लिए]। (विश्ववेदसः) विश्व के वेत्ता प्रज्ञाशील (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) इस कार्य में नियुक्त करें, (रातहव्यम्) सब प्रजा को अदनीय-अन्न देनेवाले! (अमुम्) उस इन्द्र को (नमसा) नमस्कार के साथ नमस्कारपूर्वक (आ नय) इस साम्राज्य में वापिस ले आ।

[प्रजाजनों ने किसी कारण निज इन्द्र अर्थात् सम्राट् को साम्राज्य से पदच्युत कर दिया है। वह रुष्ट होकर कहीं चला गया है। प्रज्ञानी-पुरुष, अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री को इन्द्र को वापिस लाने के लिए नियुक्त करते हैं। अचिक्रदत्=क्रदि आह्वाने (भ्वादिः), चङ् आगम, लुङ् लकार। उरूची=उर्वञ्चने व्यापनशीले (सायण) उरु=अच् (अञ्चु, अच्, अचि, गतौ भ्वादिः)।]

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः॥२॥

(अरुषासः) न-रुष्ट प्रजाएँ, (दूरे चित् सन्तम्) दूर में भी विद्यमान (विप्रम्) मेधावी (इन्द्रम्) सम्राट् को, (सख्याय) पुनः मैत्री के लिए, (आ च्यावयन्तु) रोषभावना से पूर्णतया च्युत करें, विमुक्त करें। (यद्) यतः (देवाः) साम्राज्य के दिव्य अधिकारियों ने, (अस्मै) इस सम्राट् के लिए, (सौत्रामण्या) सौत्रामणी क्रिया द्वारा, (बृहतीम्, गायत्रीम्) महती गायत्री रूप (अर्कम्) स्तुति साधना को, (दधृषन्त[1]) निर्धारित किया है; निश्चित किया है।

[सौत्रामण्या=सुत्रामा है इन्द्र अर्थात् सम्राट्, सौत्रामणी क्रिया है सम्राट् को प्रसन्न करने की क्रिया अर्थात् विधि। वह है अर्चना का साधन-भूत "महती गायत्री"। गायत्री का अभिप्राय है गुणगान, प्रकरणानुसार सम्राट् का गुणगान, उसकी प्रशंसा करना। इस विधि द्वारा सम्राट् प्रसन्न होकर साम्राज्य में वापस आ जाता है। अर्कम्=अर्कः मन्त्रो भवति, यदनेनार्चन्ति (निरुक्त ५।१।४; पद संख्या २४)। प्रकरणानुसार मन्त्र है गायत्री। गायत्री मन्त्र में सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना है, सद्बुद्धि से प्रेरित हुआ सम्राट् प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार कर लेता है। विप्रः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)।]

१. अधारयन् (सायण); अथवा धृ (यङ्लुक्)+सिप्+अट्। या धृष, धृषा [यङ्-लुकि] प्रसहने प्रागल्भ्ये (चुरादिः; स्वादिः)।

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

[हे सम्राट् !] (वरुणः राजा) वरुण राजा (त्वा) तुझे (अद्भ्यः) सामुद्रिक जलों से (ह्वयतु) आह्वान करे, (सोमः) सोम (त्वा) तुझे (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (ह्वयतु) आह्वान करे। (इन्द्रः) सम्राट् (त्वा) तुझे (आभ्यः विड्भ्यः) इन प्रजाओं से (ह्वयतु) आह्वान करे, (श्येनो[1] भूत्वा) बाजपक्षी होकर तू (इमाः विशः) इन प्रजाओं में (पत आ) उड़कर आ जा।

[वरुण है राष्ट्राधिपति राजा, यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजुः० ८।३७)। वरुण राजा अधिपति है जलों का। वह सामुद्रिक जलों का अधिपति है, यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।४)। सोम है सेनाध्यक्षः, सेना-प्रेरक [षू प्रेरणे, तुदादिः), यह पर्वतीय युद्धों का भी अध्यक्ष है। इन्द्र है सम्राट्, जोकि सामयिक सम्राट् है, जब तक कि पदच्युत सम्राट् वापस नहीं आ जाता। सोमः=सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४६)।]

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभि संविशध्वम् ॥४॥

[हे पदच्युत सम्राट् !] (श्येनः) बाजपक्षी के सदृश उड़नेवाला सामयिक सम्राट्, (हव्यम्) आह्वातव्य (त्वा) तुझे, (परस्मात्) परराष्ट्र से (आ नयतु) ले आए, जो तू कि (अन्यक्षेत्रे[2]) परराष्ट्र में (अपरुद्धम्) स्वेच्छापूर्वक रुका हुआ है, और (चरन्तम्) स्वेच्छया परराष्ट्र में विचर रहा है। (अश्विना) अश्वों तथा अश्वरथों के अध्यक्ष अर्थात् अश्वारोही तथा अश्वरथारोही द्विविध अध्यक्ष (ते पन्थाम्) तेरे वापस आने के मार्ग को (सुगम) सुगम (कृणुताम्) कर दें। (सजाताः) समान जातिवाले हे प्रजाजनो! (इमम् अभि) इस आनेवाले सम्राट् के अभिमुख (संविशध्वम्) तुम परस्पर मिलकर बैठो, [सामाजिक तथा साम्राज्य के कार्यों के लिए] "सजाताः" द्वारा यह दर्शाया है कि तुम और आगन्तुक सम्राट् एक ही जाति के हों, अतः भेदभाव त्याग दो। हव्यम्=ह्वातव्यम् (सायण)।]

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥५॥

१. वायुयान द्वारा। सम्भवतः उड़कर (श्येनो भूत्वा)। अश्वारोही तथा श्येनो भूत्वा दो विकल्प हैं 'आपत' में।

२. क्षेत्रसम्भवना कृषि के लिये, उसके जीवनार्थ परराष्ट्र में दिया गया खेत।

[हे सम्राट् !] (प्रतिजनाः) साम्राज्य के सब जन अर्थात् प्रत्येक जन (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (प्रति) प्रतिकूल हुए (मित्राः) मित्र [राजाओं] ने तेरा (अवृषत) वरण कर लिया है, तुझे स्वीकृत कर लिया है। (इन्द्राग्नी) सामयिक सम्राट् और अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (विश्वे-देवाः) तथा साम्राज्य के सब दिव्य व्यक्तियों ने (विशि) प्रजाजनों में (ते) तेरे लिए (क्षेमम्) सुरक्षा के निश्चय की (अदीधरन्) धारणा कर ली है।

[पदपाठ में "प्रतिजनाः" समस्त पद है, और "प्रति, मित्राः" असमस्त हैं। यह दर्शाने के लिए कि साम्राज्य का प्रति व्यक्ति तो तुझे चाहता ही है, परन्तु साम्राज्य के मित्र-राजा जो तेरा विरोध करते थे, परन्तु उन्होंने भी तेरा वरण कर लिया है, तथा साम्राज्य के सामयिक इन्द्र और अग्नि ने, तथा सब देवों ने तेरी सुरक्षा की धारणा अपनाली है। अवृषत=अट्+वृञ् (वरणे, क्र्यादिः)। छान्दस लुङ्। ये मित्र राजा साम्राज्य के राष्ट्रों के अधिपति हैं, जिन्हें कि "वरुण" कहा है, यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।१७)।]

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्टयः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥६॥

(यः) जो कोई (सजातः) समान जाति का, (च) और (निष्टयः) पर जाति का अर्थात् विदेशी, (ते) तेरे (हवम्) आह्वान को (विवदत्) विवादग्रस्त करता है। (इन्द्र) हे सामयिक सम्राट् ! (तम्) उसे (अपाञ्चम् कृत्वा) साम्राज्य से अपगत कर, निकालकर, (अथ) तदनन्तर (इमम्) इस निश्चित सम्राट् को (इह) इस साम्राज्य में, (अव गमय) सम्राट् रूप में अवगत कर, विज्ञापित कर।

[सूक्त का वर्णन गाथारूप है, काल्पनिक है। ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर किस साधन का अवलम्ब करना चाहिए, केवल इसका सुझाव ही सूक्त में दिया है। वेदों में गाथारूप में प्रायः वर्णन होता है—एतदर्थ देखो (अथर्व० १५।५।११, १२) का अथर्ववेद-भाष्य। गाथारूप में वर्णन प्ररोचनार्थ होता है, रुचि बढ़ाने के लिए होता है। (अपाञ्चम् कृत्वा =अपगतं बहिष्कृतं कृत्वा (सायण)।]

सूक्त ४

(१-७)। अथर्वा। इन्द्रः। त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भुरिक्।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

[हे सम्राट् !] (त्वा) तुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (आ गन्) पुनः आ गया है, प्राप्त हो गया है, (वर्चसा सह) निज तेज के साथ (उदिहि) सूर्य के सदृश तू उदित हो, (प्राङ्) प्रगति करता हुआ (विशाम् पतिः) प्रजाओं का पति (त्वम्) तू (एकराट्) मुख्य या अकेला राजा होकर (विराज) विराजमान हो, दीप्यमान हो। (राजन्) हे राजन्! (सर्वा दिशः) सब दिशाओं में स्थित प्रजाएँ (त्वा ह्वयन्तु) तेरा आह्वान करें। (इह) इस साम्राज्य में (उपसद्यः) सब द्वारा समीप बैठने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (भव) तू हो।

[सूक्त ३ के अनुसार वापस आ गये सम्राट् का वर्णन सूक्त ४ में है। एतदर्थ देखो मन्त्र ५, ६, ७। मन्त्र में "उदिहि" पद द्वारा उदय होना कहकर सम्राट् को सूर्य से उपमित किया है। प्राङ् के दो अर्थ हैं—पूर्व दिशा तथा प्रगति करनेवाला। प्राङ्=प्र+अञ्चु गतौ। सूर्योदय पूर्व दिशा में ही होता है और पश्चिम की ओर गति करता है। उपसद्यः=उप+षद् (बैठना); अथवा उप+षद् (गतौ) उपगमन करना, समीप जाना, तद्योग्य। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वादिः, तुदादिः)।]

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः।
वर्ष्म॑न् राष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा वसू॑नि ॥२॥

[हे सम्राट् !] (त्वाम्) तेरा (विशः) प्रजाएँ (वृणताम्) वरण करें (राज्याय) राज्य के लिए (इमाः) ये (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएँ, जोकि (पञ्च) पाँच हैं, और (देवीः) दिव्य प्रजाओंवाली हैं (त्वाम्) तेरा वरण करें। (वर्ष्मन्) श्रेष्ठ (राष्ट्रस्य ककुदि) राष्ट्र के उन्नत स्थान में या सिंहासन में (श्रयस्व) तू आश्रय पा, (ततः) उस उन्नत स्थान या सिंहासन से (उग्रः) उग्र हुआ तू (नः) हम प्रजाओं में (वसूनि, वि भज) सम्पत्तियों का विभाग कर। पञ्च=पचि विस्तारे (चुरादिः), यथा पंचास्यः=सिंहः। या ऊर्ध्वादिशा तथा शेष चार दिशाएँ।

[राष्ट्र में सम्पत्तियों का यथोचित विभाग करना चाहिए, जिससे सबका पालन-पोषण हो सके। ककुद्=बैल के कन्धों में उच्च अङ्ग, तथा पर्वतशिखिर।]

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥३॥

हे सम्राट्! (त्वाम्) तुझे (सजाताः) समान जाति के अर्थात् एकवर्गीय राजा लोग (हविनः[1]) देय भेंटों या राज्य करवाले हुए (अच्छ यन्तु)

१. हविनः हु दाने (अदादिः)+इनिः (मत्वर्थे)।

आभिमुख्येन प्राप्त हों। (अजिरः) तुझ द्वारा प्रेरित (अग्निः) ज्ञानाग्निवाला (दूतः) दूत (संचरातै) स्व साम्राज्य तथा परराष्ट्र में संचार करे। (जायाः पुत्राः) साम्राज्य की पत्नियाँ और पुत्र (सुमनसः) सु प्रसन्न हों। (उग्रः) शासन में उग्र हुआ तू (बहुम्) बहुत (बलिम्) भेंटों या राज्य-करों को (प्रतिपश्यासै) देख।

अ॒श्विना॑ त्वाग्रे॑ मि॒त्रावरु॑णो॒भा विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्वयन्तु।
अधा॒ मनो॑ वसु॒देया॑य कृणुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा वसू॑नि ॥४॥

[हे सम्राट् !] (अग्रे) प्रथम (अश्विना) अश्वारोही तथा अश्वरथारोही (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (उभा मित्रावरुणा) दोनों मित्रराजा और वरुण राजा, (विश्वे देवाः) साम्राज्य के सब दिव्य अधिकारी या जन, तथा (मरुतः) सैनिक (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें। (अधा) तदनन्तर [साम्राज्य में आकर] (वसुदेयाय) सम्पत्ति-प्रदान के लिये (मनः कृणुष्व) मन को तय्यार कर, (ततः) तदनन्तर (उग्रः) उग्र हुआ (नः) हमें (वसूनि) सम्पत्तियों का (वि भज) यथोचित विभाग कर, बाण्ट।

[मित्रावरुणा=मित्र राजा, और वरुण माण्डलिक राजा, यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजुः० ८।३७)। मरुतः=सैनिक (यजुः० १७।४०)।]

आ प्र द्र॑व प॒रम॑स्याः परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्।
तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त् स उपे॒दमेहि॑ ॥५॥

[हे सम्राट् !] (आ प्रद्रव) स्व-साम्राज्य के अभिमुख, तू शीघ्रता से आ, (परमस्याः परावतः) अत्यन्त दूर देश से भी। (उभे द्यावापृथिवी) दोनों द्युलोक और पृथिवी (ते) तेरे लिए (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) हों। (तत्) इसे (अयम् राजा वरुणः) इस वरुण राजा ने भी (तथा) उस प्रकार (आह) कहा है, (सः) उस (अयम्) इस वरुण राजा ने (त्वा) तुझे (अह्वत्) बुलाया है, (सः) वह तू (इदम्) इस साम्राज्य में (एहि) आ।

[भावी सम्राट् परकीय राष्ट्र में विद्यमान है, परकीय राष्ट्र अति दूर है। वहाँ से आने में उसे कोई कष्ट न हो इसलिए मङ्गल की अभिलाषा प्रकट की है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वरुण राजा का वर्णन है। वरुण राजा का वर्णन वरुण-सूक्त में हुआ है (अथर्व० ४।१६।१-९)। वरुण राजा परमेश्वर है। इसे "सः" द्वारा दूरस्थ तथा "अयम्" द्वारा समीपस्थ दर्शाया है, "तद् दूरे तद्वन्तिके" (यजुः० ४०।५)। इससे यह

दर्शाया है कि सर्वव्यापक वरुण-राजा भी भावी सम्राट् के आगमन को चाहता है ।]

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६॥

(इन्द्रेन्द्र[1]) हे सम्राटों के भी सम्राट् ! (मनुष्याः) मनुष्य ! (परेहि) परेस्थित सिंहासन की ओर आ, (वरुणैः) वरण करनेवाले माण्डलिक वरुण-राजाओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त तू, (सम्, हि, अज्ञास्थाः) निश्चय से सम्यक् ज्ञानी हुआ है । (सः) उस वरुण-परमेश्वर ने (त्वा अह्वत्) तेरा आह्वान किया है (स्वे सधस्थे) अपने साथ बैठने के निज सिंहासन पर, (सः) वह वरुण-परमेश्वर (देवान्) साम्राज्य के दिव्य-अधिकारियों के (यक्षत्) साम्राज्य-यज्ञ को सफल करे, (सः उ) वह ही (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) सामर्थ्यसम्पन्न करे ।

[मनुष्याः में "दूराद्धूते च" (अष्टा० ८।२।८४) के अनुसार प्लुत होकर "विसर्गान्त आकार" हुआ है । सायणाचार्य ने "मनुष्यान्" अर्थ किया है और कहा है कि "शसो नत्वाभावः छान्दसः" । मन्त्र के उत्तरार्ध में यह दर्शाया है कि हे भावी सम्राट् ! सिंहासन पर तो वरुण-परमेश्वर स्थित है, उसने तेरा आह्वान किया है सिंहासन के अर्धासन पर, निज के साथ बैठने के लिए । तू जान कि शासन करते हुए साथ वरुण-परमेश्वर भी बैठा है तेरी शासन-व्यवस्था के निरीक्षण के लिए । अतः तू न्यायपूर्वक और धर्मपूर्वक शासन करना, तब तेरे राज्याधिकारी, तथा प्रजाएँ सामर्थ्यसम्पन्न होंगीं । कल्पयात्=कृपू सामर्थ्ये (भ्वादिः) ।]

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥७॥

(पथ्याः) सत्पथगामिनी, (रेवतीः) धनसम्पन्ना, (बहुधा विरूपाः) बहुत प्रकार से विविध रूपोंवाली, (सर्वाः) सब प्रजाओं ने (ते) तेरा (वरीयः) वरण अर्थात् चुनाव (अक्रन्) किया है, (ताः सर्वाः संविदानाः) वे सब एकमत हुईं (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (उग्रः) उग्र हुआ

१. सम्राटों के भी सम्राट् । भिन्न-भिन्न जातियों के अपने-अपने सम्राट् होते हैं । परन्तु भूमण्डल व्यापी संगठन में सम्राटों का भी एक सम्राट् होना आवश्यक है । इसे एकराट् (सूक्त ४।१) तथा जनराट् (अथर्व० २०।२१।६) कहते हैं ।

तू (दशमीम्) दसवीं अवस्था को, (सुमनाः) सुप्रसन्न मनवाला, (इह) इस सिंहासन पर रहकर (वश) सबको वश में कर ।

[गौरवर्णी, कृष्णवर्णी तथा अन्यवर्णी सब प्रजाओं ने मिलकर, जिसका सम्राट्रूप में चुनाव किया है, उसे आयुभर सम्राट् रूप में रहने देना चाहिए । दशमी अवस्था है ९० वर्षों से ऊपर की अवस्था ।]

सूक्त ५

(१-८) । अथर्वा । सोमः । अनुष्टुप्; १ पुरोनुष्टुप्, ८ विराडुरोबृहती ।

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

(अयम्) यह (पर्णमणिः) मणिरूप पर्ण अर्थात् पालक (आ अगन्) आया है, (बली) बलवान् वह (बलेन) बल द्वारा (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) मारता हुआ । (देवानाम् ओजः) यह देवों का ओज रूप है, (ओषधीनां पयः) ओषधियों के सार के सदृश है, (अप्रयावन्[1]) छोड़कर न जानेवाला (मा) मुझे (वर्चसा) दीप्ति के साथ (जिन्वत्) प्रीणित करे, तृप्त करे ।

(पर्णमणिः=पर्ण है पालन करनेवाला, मणि अर्थात् रत्नरूप, सेनापति[1] । पर्ण=पृ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः) । यह बली है और शत्रुओं को मारता है, अतः क्षत्रिय है । देवानाम्=विजिगीषूणाम् ("दिवु क्रीडाविजिगीषा…") (दिवादिः) । ओषधीनाम् सारः=ओषधियों के रस के सदृश राष्ट्रशरीर का रसरूप है । जिन्वतु=जिवि प्रीणनार्थः (भ्वादिः) ।]

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

(पर्णमणे) हे पालक रत्न ! (मयि) मुझ सम्राट्[2] में (क्षत्रम्) क्षात्र-बल, (मयि) मुझमें (रयिम्) धनसम्पत् (धारयतात्) स्थापित कर । (अहम्) मैं सम्राट् (निजः) जोकि तुम्हारा अपना हूँ, (राष्ट्रस्य अभिवर्गे) राष्ट्र के सब वर्गों में (उत्तमः) सर्वोत्तम हो जाऊँ ।

१. अप्रयावन्=अ+प्र+या+वनिप्=मां विहाय अनपगन्ता ।
२. मन्त्र (६, ७) । यह सम्राटों का भी सम्राट् है, भूमण्डल का सम्राट् । तथा इन्द्रेन्द्र (अथर्व० ३।४।६) ।

[वर्ग=मनुष्यवर्ग, पौरवर्ग, क्षत्रियवर्ग, भौमवर्ग आदि ।]

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥३॥

(देवाः) विजिगीषु सैनिकों ने (यम् प्रियं मणिम्) जिस प्रिय रत्न-रूप-सेनापति को (गुह्यम्) गोपनीयरूप में (निदधुः) स्थापित किया है, जैसे कि दिव्य शक्तियों ने (वनस्पतौ) वनस्पति में [रस] को, (तम्) उसे (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) विजिगीषु-सैनिक (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (ददतु) दें, [हमें सौंप दें], (भर्तवे) हमारे भरण-पोषण के लिये ।

[आयुषा सह=जीवित रूप में। सैनिकों को चाहिये कि निज सेनापति को सुरक्षित रखें, उसे गोपनीय रूप में रखें, उसे मरने से बचाय रखें। वनस्पतौ, देखो "ओषधीनां पयः" (मन्त्र १) देवः=दिवु क्रीडा विजिगीषा आदि (दिवादिः), विजिगीषु अर्थ अभिप्रेत है ।]

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥४॥

(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ने [कृपापूर्वक] (दत्तः) दिया, (वरुणेन) वरुण रूप आचार्य द्वारा (शिष्टः) शिक्षित तथा अनुशासित, (सोमस्य) सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष का (पर्णः) पालक, (उग्रम् सहः) उग्रबल-रूप सेनापति (आ अगन्) मुझे प्राप्त हुआ है, (तम् प्रियासम्) उसे मैं अपना प्रिय जानूं, (बहु रोचमानः) बहुत प्रदीप्त होता हुआ, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घआयु के लिये, (शतशारदाय) सौ शरद्-ऋतुओं के लिये [सौ वर्षों के लिये ।]

[वरुण है आचार्य । यथा "आचार्यो वरुणो भूत्वा" (अथर्व० ११।५।१५) । प्रियासम्=प्रिय [नामधातु]+सिप्, अट्, आकार का आगम । रोचमानः प्रदीप्त हुआ "सम्राटों का सम्राट्" सेनापति की प्राप्ति के कारण प्रदीप्त हुआ, चमकता हुआ । सोमस्य=सोम है सेनाप्रेरक तथा सेनाध्यक्ष, जोकि युद्ध के लिये सेना के मुख्य भाग में आगे-आगे चलता है [षू प्रेरणे तुदादिः], देखो यजु० (१७।४०) । सेनापति द्वारा सुरक्षित "सम्राटों का सम्राट्" सौ वर्षों तक जीवित रहने का अभिलाषी है । सोम और सेनापति दोनों का सम्बन्ध सेना के साथ है । सेनापति को "पर्णः" अर्थात् पालक कहा है, यह सोम का भी पालक है। सेनापति "पर्ण", गुरुकुल-आश्रम में रहकर आचार्य द्वारा शिक्षित और अनुशासित हुआ है ।]

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

(मह्यौ अरिष्टतातये) महा अहिंसा अर्थात् सुरक्षा के विस्तार के लिये, (पर्णमणिः) पालक-सेनापति रत्न[1], (मा) मुझ सम्राटों के सम्राट् पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ हुआ है, (यथा) जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) अर्यमा से (उत) तथा (संविदः) सम्यक्-वेत्ता अर्थात् सम्यक्-ज्ञानी से भी (उत्तरः) उत्कृष्टतर (असानि) हो जाऊँ ।

[आ अरुक्षत्=आ+रुह्+क्सः (अष्टा० ३।१।४५), लुङ्लकार। भूमण्डल का सम्राट् सेनापति को अपने से भी ऊँचा मानता है, क्योंकि उसके कारण ही भूमण्डल की महारक्षा होती है । अर्यमा है न्यायाधीश, जोकि भूमण्डल में न्याय करता है । सम्राट् कहता है कि मैं सेनापति के कारण अर्यमा-और-सम्यक् ज्ञानियों से भी उत्कृष्टतर हो जाऊँ ।]

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

(ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान् (रथकाराः) रथों के निर्माता हैं (ये) जो (मनीषिणः) मननशील (कर्माराः) लोहे के कर्मोंवाले हैं। (पर्ण) हे पालक सेनापति ! (त्वम्) तू तथा (सर्वान् जनान्) अन्य सब जनों को (मह्यम्) मुझ भूमण्डल सम्राट् के लिये (अभितः) मेरे अभिमुख (उपस्तीन्) मेरे समीप होनेवाले, या बैठनेवाले (कृणु) कर ।

[कर्माराः=अयस्कारप्रभृतयः (सायण)। कर्म+आर [ores], खनिज-ores में काम करनेवाले, कच्ची धातु में काम करनेवाले । उपस्तीन् =उप+अस् भुवि या आस उपवेशने (सायण)। भूमण्डल का सम्राट् सेनापति से कहता है कि रथकार आदि को मेरे समीप होने या बैठने के लिये प्रोत्साहित कर, प्रेरित कर, उन्हें मेरे समीप आने या आकर बैठने में निषेध न कर ।]

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

(ये) जो (राजानः) राजा हैं, (राजकृतः) तथा [निर्वाचन द्वारा] राजाओं को करनेवाली प्रजाएँ हैं, (ये) जो (सूताः) प्रजाओं के प्रेरक नेता,

---

१. जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते (आप्टे) ।

(च) और (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता हैं, (सर्वान् तान्) आदि पूर्ववत् [मन्त्र ६ ।]

[राजकृतः यथा "विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्" (अथर्व० ६।८७।१); तथा सूक्त (८६-८८) ।]

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

(मणे) हे रत्न ! [सेनापति !] (पर्णः असि) तू पालक है, (तनूपानः) साम्राज्य शरीर का पालक है, (सयोनिः) हम दोनों की समान-योनि है, प्रजा; (वीरः) तू वीर है । (संवत्सरस्य) संवत्सर के तेजोमय आदित्य[1] के (तेन तेजसा) उस तेज से युक्त (त्वा) तुझे (बध्नामि) मैं अपने साथ बांधता हूँ, सुदृढ़ सम्बद्ध करता हूँ ।

[तनूपानः=साम्राज्य-शरीर तथा सम्राट् का निज-शरीर । पालक-सेनापति दोनों शरीरों की रक्षा करता है । साम्राज्य भी शरीर है, यथा "यजु० २०।५।६; तथा विशेषतया मन्त्र ८ ।" सयोनि=योनिः, प्रजा । अथवा सम्राट् और सेनापति की समान योनि [घर] (निघं० ३।४), है "भूमण्डल ।" दोनों वीर हैं "वीरो, वीरेण मया ।" बध्नामि=बन्धन केवल धागे आदि द्वारा ही नहीं होता । "देशबन्धः चित्तस्य धारणा" (योग ३।१) में नासिकाग्र आदि में चित्त को बांधने का भी कथन हुआ है । धारणा योगाङ्ग है । इसी प्रकार मन्त्र में "बध्नामि" का अर्थ भी यथोचित ही करना चाहिए ।]

विशेष वक्तव्य

दर्शनशास्त्र के अनुसार वैदिक वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक हुई है । यथा "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ।" अतः सूक्त ५ के मन्त्रार्थ बुद्धिग्राह्य ही किये गए हैं । सायणाचार्य ने सूक्तार्थ सोमोषधि के पत्ते के सम्बन्ध में किये हैं, जिसमें मन्त्रार्थ संगत नहीं होते ।

प्रथम अनुवाक समाप्त

१. संवत्सरस्य तेजसा=संवत्सरस्य, एतदुपलक्षितकालभेदनियामकस्य आदित्यस्य तेजसा युक्तं त्वाम् (सायण) ।

अनुवाक २

सूक्त ६

(१-८) । जगद्बीजपुरुष । वानस्पत्याश्वत्थदेवता । अनुष्टुप् ।

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥१॥

(पुंसः) अभिवर्धनशील पिता से (पुमान्) अभिवर्धनशीलपुत्र (परि-जातः) पैदा होता है, जैसेकि (खदिरात् अधि) खैर से (अश्वत्थः[1]) पीपल । (सः) वह अभिवर्धनशील पुत्र (मामकान्) मेरे (शत्रून् हन्तु) शत्रुओं का हनन करे, (यान्) जिनके साथ (अहम्) मैं (द्वेष्मि) द्वेष करता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मेरे साथ द्वेष करते हैं ।

[मन्त्र के प्रारम्भ में "पुमान् पुंसः" का कथन हुआ है, अतः समग्र सूक्त में "पुमान् पुंसः" का भी वर्णन अभीष्ट प्रतीत होता है । "अश्वत्थः खदिरात्" तो दृष्टान्तरूप है । तथा देखो "संस्कारविधिः पुंसवन संस्कार ।" जैसे पुत्र पिता के शत्रुओं का हनन करता है, वैसे अश्वत्थ अर्थात् खदिर[2] से उत्पन्न अश्वत्थ भी रोगों का हनन करता है । मन्त्र २ से ८ तक में अश्वत्थ पद पठित है, तो भी इस दृष्टान्त पद द्वारा दार्ष्टान्ति या उपमेयरूप में पुमान्-पुरुष भी अभिप्रेत है ।]

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥२॥

(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ ! (वैबाधदोधतः) बाधा डालनेवाले और कँपा देनेवाले (तान् शत्रून्) उन शत्रुओं का (निःशृणीहि) निःशेषेण विनाश कर; (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मेदी) वृत्रघाती इन्द्र के साथ, (मित्रेण) मित्र के साथ, (च) और (वरुणेन) वरुण के साथ स्नेही तू ।

[मन्त्र में उपमान-अश्वत्थ और उपमेय-पुमान् दोनों का वर्णन है । अश्वत्थ रोग-शत्रुओं का विनाशक है । इस अर्थ में इन्द्र है विद्युत्, मित्र है सूर्य, वरुण है मेघ । इन तीन की सहायता द्वारा अश्वत्थ बढ़ता है, अतः वह

१. अश्वत्थः=Figtree (आप्टे) । Fig=सम्भवतः अञ्जीर ।
२. खदिर के कोटर अर्थात् गड्ढे से उत्पन्न अश्वत्थ में खदिर की भी रोग निवारण-शक्ति होती है और निज की भी ।

इनके साथ स्नेह करता है। उपमेय-पुमान् राष्ट्रिय शत्रुओं का विनाश करता है। इस अर्थ में इन्द्र है सम्राट्, मित्र है मित्र राजा, तथा वरुण है माण्डलिक राजा। "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। वैबाधदोधतः=विबाध+अण् (स्वार्थे)+धूञ् कम्पने [यङ् लुक्+शतृ प्रत्यय+द्वितीया विभक्ति।]

यथाश्वत्थ निरभनोन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥३॥

(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ ! (महति अर्णवे अन्तः) महान्-समुद्र अर्थात् वायुमण्डल में (यथा) जिस प्रकार तू (निरभनः) नितरां शक्तिपूर्वक बढ़ा है, (एवा) इस प्रकार की शक्ति से (तान् सर्वान्) उन सबको (निर्भङ्ग्धि) निःशेषेण भग्न कर (ये माम्) जोकि मेरे साथ द्वेष करते हैं, (च) और (यान्) जिनके साथ मैं द्वेष करता हूँ।

[निरभनः=नि+रभ् राभस्ये (भ्वादिः), रभस् पूर्वक बढ़ना। अश्वत्थ, रोगनिवारणार्थ, मानो वायुमण्डल में शक्तिपूर्वक बढ़ा है। वायु-मण्डल में रोग पैदा होते हैं, उनके निवारण के लिये। अन्तरिक्ष महार्णव है, महासमुद्र है। यथा "स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्" (ऋ० १०।९८।५) में उत्तर समुद्र द्वारा अन्तरिक्ष समुद्र अभिप्रेत है, (निरुक्त २।३।१०, ११)। मन्त्र में अश्वत्थ को सम्बोधित किया है जोकि सूक्त में उपमानरूप है। इस द्वारा उपमेय भी अभिप्रेत है "पुमान्-पुरुष" [मन्त्र १], वह निज राष्ट्रपति के शत्रुओं का भग्न करता है, जोकि अन्तरिक्ष से वायुयानों द्वारा आक्रमण करते हैं। ऐसा आदेश राष्ट्रपति ने "पुमान्-पुरुष" को दिया है। निरभनः= नि+रभ्+युच् (औणादिक २।७५)। नकारस्य णकाराभावः छान्दसः।]

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥४॥

(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ सदृश [पुमान्-पुरुष !] (सहमानः यः) शत्रुओं का पराभव करनेवाला जो तू, (सासहानः) पराभव करनेवाले (ऋषभः इव) ऋषभ या पुरुषर्षभ की तरह (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया) उस तुझ द्वारा (वयम्) हम (सपत्नान्) शत्रुओं का (सहिषीमहि) पराभव करें।

[मन्त्र में अश्वत्थ पद निज अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु वह निज उपमेय "पुमान्-पुरुष" का द्योतक है। इसीलिए इसे ऋषभ के सदृश स्वच्छन्द विचरनेवाला कहा है, तथा शत्रुओं का पराभव करनेवाला कहा है। सासहानः=सह यङ्लुक्+शानच्; सह=षह मर्षणे (चुरादिः)।]

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥५॥

(निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (अमोक्यैः) न मोचन कर सकने योग्य (मृत्योः पाशैः) मृत्यु के फन्दों द्वारा (एनान् मामकान्) इन मेरे शत्रुओं को (सिनातु) बांधे, (अश्वत्थ) हे उपमेय "पुमान्-पुरुष" ! (यान् अहं द्वेष्मि) जिनके साथ मैं द्वेष करता हूँ (च) और (ये) जो (माम्) मेरे साथ द्वेष करते हैं।

[मन्त्र में अश्वत्थ पद निज उपमेय "पुमान्-पुरुष" का द्योतक है। अथवा "जहत् लक्षणा वृत्ति" द्वारा अश्वत्थ निज अर्थ का परित्याग कर "पुमान्-पुरुष" का कथन करता है, जैसेकि "गङ्गायां घोषाः" में गङ्गा पद निज अर्थ का परित्याग कर गङ्गा-तट का कथन करता है।]

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्द्धि सहस्व च ॥६॥

(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ ! (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों के समूहों पर (आरोहन्) आरोहण करता हुआ तू (यथा) जिस प्रकार उन्हें (अधरान् कृणुषे) नीचा करता है, (एवा=एवम्) इसी तरह (मे शत्रोः मूर्धानम्) मेरे शत्रु के मुखिया को (विष्वक्) सब प्रकार से (भिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर, (च) और (सहस्व) पराभूत कर।

[अश्वत्थ, खदिर आदि के कोटर से उत्पन्न होकर [मन्त्र १] उन्हें अपने से नीचे कर देता है, और उन पर आरोहण कर उनसे ऊँचा हो जाता है, इसी प्रकार उपमान-अश्वत्थ द्वारा अभिप्रेत उपमेय "पुमान्-पुरुष" के प्रति कहा है कि तू मेरे शत्रु का भेदन आदि कर, (निज शक्ति द्वारा शत्रु से ऊँचा होकर, उत्कृष्ट होकर)। वानस्पत्यान्=समूहार्थे, ण्यः (सायण)। मूर्धानम्=अथवा शिरः।]

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥७॥

(ते) वे शत्रु (अधराञ्चः) नीचे की ओर (प्र प्लवन्ताम्) शीघ्रता से प्रवाहित हो जाएँ, (इव) जैसे (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी (नौः) नौका [शीघ्रगामिनी नदी में शीघ्रता से प्रवाहित हो जाती है]। वैबाध=वैबाध, प्रणुत्तानाम्) विविध बाधनाओं से धकेले गयों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौट आना (न अस्ति) नहीं होता है।

[प्रजा के शत्रु, जो कि विविध बाधाओं[1] के कारण स्वराष्ट्र से प्रजा

१. जो शासक प्रजा के कार्यों में बाधाएँ उपस्थित करते हैं, वे प्रजा के शत्रु हैं, अतः प्रजा द्वारा निज राष्ट्र से धकेल दिये जाते हैं।

द्वारा धकेल दिये जाते हैं, उनका स्वराष्ट्र में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि वे अधरगतिवाले होते हैं। अधराञ्चः पद द्विविधार्थक हैं। सायणाचार्य ने "वैबाध" का अर्थ खदिरोत्पन्न "अश्वत्थ" किया है, जोकि अविश्वसनीय है।]

प्रैणा॑न् नुदे॒ मन॑सा॒ प्र चि॒त्तेनो॒त ब्रह्म॑णा।
प्रैणा॑न् वृ॒क्षस्य॒ शाख॑याश्व॒त्थस्य॑ नुदामहे ॥८॥

(एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा) संकल्प द्वारा (प्र नुदे) मैं धकेलता हूँ, (चित्तेन) सम्यक्-ज्ञान द्वारा (प्रणुदे) मैं धकेलता हूँ, (उत) तथा (ब्रह्मणा) ब्रह्म की कृपा द्वारा (प्रणुदे) मैं धकेलता हूँ; (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्ष की शाखा द्वारा (प्र णुदामहे) हम धकेलते हैं।

[शत्रु रोगरूपी नहीं प्रतीत होते, अपितु ये राष्ट्रिय शत्रु हैं मानुष। इन्हें दृढ़ संकल्पों, सम्यक्-ज्ञानों तथा ब्रह्म से शक्ति पाकर धकेला गया है। अश्वत्थ प्रकरण द्वारा वृक्ष ही है, शाखया पद द्वारा और भी निश्चय हो जाता है कि यह वृक्ष ही है। अतः वृक्षस्य पद विकल्प के लिए है, अश्वत्थ की या किसी भी वृक्ष की शाखा द्वारा। "नुदामहे" द्वारा ज्ञात होता है कि शत्रुओं को धकेलनेवाले बहुत हैं। ये प्रजाएँ हैं। जब समग्र प्रजा मिलकर "राष्ट्रिय शत्रु-स्वकीय राजा" को राष्ट्र से धकेलने के लिए तत्पर हो जाए तो वह वृक्षों की शाखाओं के प्रहारों द्वारा ही शत्रु-राजा को अपने राष्ट्र से धकेल सकती है, किसी उग्र शस्त्रास्त्र की आवश्यकता नहीं होती, इसे मन्त्र में दर्शाया है।]

सूक्त ७

(१-७)। भृग्वङ्गिराः। यक्ष्मनाशन देवता, तथा बहुदेवताः। अनुष्टुप्।

ह॒रि॒णस्य॑ रघु॒ष्यदोऽधि॒ शी॒र्षणि॑ भेष॒जम्।
स क्षे॑त्रि॒यं वि॒षाण॑या विषू॒चीन॑मनीनशत् ॥१॥

(रघुष्यदः) शीघ्र स्यन्दन अर्थात् गमन करनेवाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर पर (भेषजम्) रोगनिवर्तक औषध है। (सः) वह हरिण (विषाणया) शृङ्ग द्वारा (क्षेत्रियम्) माता-पिता के शरीर से प्राप्त (विषूचीनम्) प्रसृत रोग को (अनीनशत्) नष्ट करता है।

[विषूचीनम्=विषु (सर्वत्र)+अचि या अच (गतौ) (भ्वादिः)। क्षेत्रियम्=परक्षेत्र में चिकित्स्य रोग (अष्टा० ५।२।९२)। अथवा "क्षेत्रियम्=वर्तमान क्षेत्र अर्थात् शरीर का रोग। क्षेत्र=शरीर (गीता १३।१)।]

अनु॑ त्वा ह॒रि॒णो वृषा॑ प॒द्भिश्च॒तुर्भि॑रक्रमीत्।
विषा॑णे॒ वि ष्य॑ गुष्पि॒तं यद॑स्य क्षे॒त्रि॒यं हृ॒दि ॥२॥

[हे क्षेत्रिय रोग!] (वृषा) सुखवर्षी (हरिणः) हरिण ने (त्वा अनु) तेरे पीछे-पीछे चलकर (चतुर्भिः पद्भिः) चार पैरों द्वारा (अक्रमीत्) तुझपर आक्रमण किया है। (विषाणे) हे सींग! (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (यत्) जो (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय-रोग (गुष्पितम्) गुम्फित हुआ है, उसे (विष्य) अन्त कर दे।

[हरिण वृषा है, सुखवर्षी है, यतः यह रोगनिवारक है; अथवा वर्षा का अर्थ है सेचनसमर्थ पुमान्, हरिण। विष्य=वि+षो अन्तकर्मणि (दिवादिः)] विषाणा अर्थात् शृङ्ग की भस्म अभिप्रेत है। इसके गुण हैं—निमोनिया, इन्फ्लुएँजा, सर्दी, जुकाम, पार्श्वशूल, खाँसी और कफ का परिहार (वैद्यनाथ पञ्चाङ्ग)। मन्त्र में हृदयरोग का विशेष कथन हुआ है।]

अ॒दो यद॑व॒रोच॑ते॒ चतु॑ष्पक्षमिव॒च्छ॒दिः।
तेना॑ ते॒ सर्वं॑ क्षे॒त्रि॒यमङ्गे॑भ्यो नाशयामसि ॥३॥

(अदः) वह दृश्यमान (यद्) जोकि (अवरोचते) नीचे पृथिवी की ओर चमकता है, (चतुष्पक्षम्) चार कोनोंवाली (छदिः) छत की (इव) तरह। (तेन) उस द्वारा (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से (सर्वम् क्षेत्रियम्) सब क्षेत्रिय रोग को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[छदिः=अथवा "छदिः गृहनाम" (निघं० ३।४)। चतुष्पक्ष छत-या-गृह कौन-सा तारामण्डल अर्थात् constellation है, अनुसन्धेय है। इस काल में भी क्षेत्रिय रोग की चिकित्सा का विधान हुआ है। देखो मन्त्र ४ की व्याख्या।]

अ॒मू ये दि॒वि सु॒भगे॑ वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के।
वि क्षे॑त्रि॒यस्य॑ मुञ्चतामध॒मं पाश॑मुत्त॒मम् ॥४॥

(अमू ये) वे दो जोकि (सुभगे) उत्तम भाग्यशाली हैं, (विचृतौ नाम तारके) और विचृत् नामवाले दो तारा (दिवि) द्युलोक में हैं, वे (अधमम्) शरीर के अधोभाग के, (उत्तमम्) तथा ऊर्ध्वभाग के (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रिय-रोगसम्बन्धी (पाशम्) फंदे को (वि मुञ्चताम्) विमुक्त करें।

[नाम=अथवा "प्रसिद्ध"। सुभगे=प्रकाशयुक्त होने से भाग्यशाली। विचृतौ=वि+चृत् (हिंसा), चृती हिंसाग्रन्थनयोः, तुदादिः)। "ये दो तारा, मूलनामक-नक्षत्र हैं" (सायण)। विचृतौ=वि+चृत्; क्विप्+द्विवचन। द्विवचन है नक्षत्र और तदधिष्ठान की अपेक्षा से (सायण) (अथर्व० २।८।१)। परन्तु मन्त्रानुसार ये दो तारा हैं, न कि मूलनक्षत्र तथा तदधिष्ठान। ये दो तारा वृश्चिक-राशि की पूँछ के डंक में हैं। क्षेत्रिय-रोग सम्भवतः शारीरिक है; क्षेत्र है शरीर "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३।१)। जिस काल में इन दो ताराओं का उदय हो, उस काल में क्षेत्रिय रोग की चिकित्सा करने का विधान हुआ है। चिकित्सा का सम्बन्ध काल के साथ भी होता है। काल का ध्यान न कर चिकित्सा करने से चिकित्सा अधिक लाभकारी नहीं होती।]

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

(आपः) जल (इत्) ही (वै उ) निश्चय से (भेषजीः) भेषज अर्थात् औषधरूप हैं, (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोगविनाशक हैं। (आपः) जल (विश्वस्य) समग्र प्रकार के रोग समूह की (भेषजीः) औषध हैं। (ताः) वे जल (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्) शारीरिक रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, छुड़ाएँ।

[आपः अर्थात् जलचिकित्सा को सब प्रकार के रोगों की नाशिका कहा है। अमीव=अम रोगे (चुरादिः) आपः के लिए, देखो अथर्व० १।४।४; १।५।१-४; १।६।२, ३, ४)।]

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥६॥

(क्रियमाणायाः) की जानेवाली (आसुतेः)[1] प्रसव क्रिया के होते (यत् क्षेत्रियम्) जो शारीरिक रोग (त्वा व्यानशे) तुझे व्याप्त हो गया है, (तस्य) उसके (भेषजम्) औषध को (अहम् वेद) मैं जानता हूँ, (त्वत्) तुझ से (क्षेत्रियम्) शरीर-सम्बन्धी रोग को (नाशयामि) मैं नष्ट करता हूँ।

१. आसुतेः=आसुति पद पञ्चम्यन्त। लौकिक संस्कृत में "आसुति" का अर्थ होता है "सुरानिर्माण"। सायण ने आसुति की व्युत्पत्ति "आ+सिच्" (सींचने) अर्थ में की है। यथा "आसूयते आसिच्यते इत्यासुतिः, द्रवीभूतमन्नम्" द्रवीभूतमन्नम् को स्पष्ट शब्दों में सुरा सायण ने भी नहीं कहा। तथा मन्त्र में भी आसुति का अर्थ, सुरानिर्माण संगत नहीं प्रतीत होता, अपितु प्रसूति अर्थ ही सुसंगत प्रतीत होता है।

[चिकित्सक कहता है प्रसवासन्ना स्त्री को कि सुत या सुता की उत्पत्ति कर्म में जो रोग हो जाता है, उसकी भेषज मैं जानता हूँ, अतः मैं तेरे रोग को नष्ट करता हूँ। इस कथन द्वारा प्रसूता को आश्वासन देता है। आसुतिः, सुत और सुता एक ही धातु के रूप हैं, "षु प्रसवे"। व्यानशे=वि+आ+नुट्+अशूङ् व्याप्तौ, लिट् लकार (सायण)।]

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥७॥

(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अपगत हो जाने पर, प्रवसित हो जाने पर, (उत) तथा (उषसाम्) उषाओं के (अपवासे) अपगत अर्थात् प्रवासित हो जाने पर (अस्मत्) हमसे (सर्वम्, दुर्भूतम्) सब दुष्कृत (अप) अपगत हो जाय, (क्षेत्रियम्) शारीरिक रोग (अप उच्छतु) अपगत हो जाय।

[नक्षत्रों के प्रवास और उषाओं के प्रवास पर, सूर्य की रश्मियाँ चमकने लगती हैं, दिन का प्रकाश हो जाता है। इस काल में प्रदीप्त हुई रश्मियों के सेवन से क्षेत्रिय रोग क्षीण होता जाता है। यह "सूर्यरश्मि-चिकित्सा" है। उषसाम् में बहुवचन यह सूचित करता है कि नाना उषा कालों के पश्चात्, नाना दिनों तक, सूर्यरश्मिचिकित्सा करनी चाहिए। सूर्योदय काल में सूर्यरश्मियाँ लाल होती हैं, जोकि रोगकीटाणुओं का हनन करती हैं (अथर्व० २।३२।१)।]

सूक्त ८

(१-६)। अथर्वा। मित्र तथा विश्वेदेवाः। त्रिष्टुभ्;
२, ६ जगती; ४ चतुष्पदा विराड् बृहतीगर्भा;
५ अनुष्टुभ्।

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥१॥

(मित्रः) जैसे वर्षा द्वारा स्निग्ध करनेवाला, (ऋतुभिः) ऋतुओं के कारण (कल्पमानः) सामर्थ्य-सम्पन्न हुआ [सूर्य], (पृथिवीम्) भूमण्डल को (उस्रियाभिः) रश्मियों द्वारा (संवेशयन्) सब के लिये प्रवेशयोग्य करता है, वैसे मित्र अर्थात् सबका मित्र अधिकारी (आ यातु) भूमण्डल के शासन के लिये आए। (अथ) तदनन्तर (वरुणः) राष्ट्रपति, (वायुः) अन्तरिक्ष का अधिपति, (अग्रणीः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (अस्मभ्यम्) हम सब के लिये

(बृहद्‌राष्ट्रम्) महाराष्ट्र को (संवेश्यम्) सबके लिये प्रवेशयोग्य (दधातु) विदधातु, अर्थात् करे।

[मन्त्र में सूर्य और भूमण्डल के प्रधानमन्त्री का संश्लिष्ट वर्णन है। सूर्य को और प्रधानमन्त्री को मित्र कहा है। सूर्य ऋतुओं के परिवर्तन द्वारा सामर्थ्यसम्पन्न होता रहता है, शीतऋतु से ग्रीष्म ऋतु में आते हुए सूर्य का सामर्थ्य बढ़ता जाता है। इसी प्रकार भूमण्डल के प्रधानमन्त्री को शक्ति भी दिनोदिन बढ़ती जाती है। बृहद्-राष्ट्र है भूमण्डलरूपी-राष्ट्र। जब भूमण्डल एक महान्-राष्ट्र में परिणत हो जाता है तब समग्र भूमण्डल, सब के लिये प्रवेश[1] योग्य हो जाता है (संवेश्य), कहीं भी प्रवेश के लिये permit और visa[2] की आवश्यकता नहीं रहती। उस्रियाभिः गोभिः, किरणैरित्यर्थः (सायण)। दधातु=प्रत्येकापेक्षया एकवचनम् (सायण)।]

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥२॥

(धाता) धारण-पोषण करनेवाला अधिकारी, (रातिः) दानाधिकारी, (सविता) जन्मों तथा कोष का अधिकारी (इदम् मे वचः) इस मेरे कथन को (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवित करें, सुनें, (इन्द्रः) सम्राट्, (त्वष्टा) तथा कारीगरी का अधिकारी [मेरे इस कथन को] (प्रतिहर्यन्तु) कामनापूर्वक सुनें। (शूरपुत्राम्) युद्धशूर, दानशूर, धर्मशूर आदि पुत्रोंवाली (अदितिम्) अदीना (देवीम्) मातृदेवी [सम्राट्-पत्नी] का भी (हुवे) मैं [शासनकार्य में] आह्वान करता हूँ, (यथा सजातानाम्) ताकि समानजाति के [राजाओं में] (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ (असानि) मैं हो जाऊँ।

[सविता=षु प्रसवे तथा ऐश्वर्ये (भ्वादिः) सविता इन दो विभागों का अधिकारी है। त्वष्टा=त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरुक्त ८।२।१४; त्वष्टा पद (११)। हर्यन्तु=हर्य गतिकान्त्योः (भ्वादिः)। असानि=असेर्लोटि आडागमः (अष्टा० ३।४।९२)। मध्यमेष्ठाः=वरुण-राजाओं में विवाद उपस्थित हो जाने पर मध्यस्थ होकर ताकि मैं निर्णय दे सकूँ। शूरपुत्राम्=सम्राट् की पत्नी मातृवत् हुई, सम्राट् के सब शूरों की माता है। वह अदीना है, सम्राट् की पत्नी होने से, किसी के प्रति दैन्यभाव में नहीं।]

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३॥

(उत्तरत्वे) "मैं बड़ा" या "मैं बड़ा" इस प्रकार के युद्ध[1] में (अहम्) मैं (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (सवितारम् सोमम्) सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष को, तथा (विश्वान्) सब (आदित्यान्) [वसु, रुद्र] आदि के तथा आदित्य कोटि के विद्वानों का (हुवे) आह्वान करता हूँ। (अप्रतिब्रुवद्भिः) विरोध में अर्थात् प्रतिकूल न बोलते हुए (सजातैः) समान जाति के [वरुण राजाओं द्वारा] (इद्धः) प्रदीप्त (अयम्, अग्निः) यह युद्धाग्नि (दीर्घम्, एव) दीर्घ-काल तक (दीदायत्) प्रदीप्त रहे।

[सोम सविता=जात्येकवचन; सेनाओं के प्रेरक सब सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)। मन्त्र में साम्राज्य के सेनाधिपति की उक्ति है, 'नमोभिः' का अभिप्राय है यथोचित संमानों पूर्वक। वसु आदि विद्वानों का आह्वान हुआ है परामर्श के लिये।]

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥४॥

[हे प्रजाओ!] (इह इद्) इस निज राष्ट्र में ही (असाथ) तुम बने रहो, (परः न गमाथ) राष्ट्र को छोड़कर परे न जाओ, (इर्यः) प्रेरक, (पुष्टपतिः) पुष्टान्न का पति (गोपाः) पृथिवीपालक राजा (वः) तुम्हें (आजत्) यहीं रहने में प्रेरित करे। (अस्मै कामाय) राजा की इस कामना के लिये (उपकामिनीः) राजा के समीप रहने की कामनावाली हो जाओ। (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब दिव्यजन (वः) तुम्हारे (उप) समीप (सं यन्तु) मिलकर आएँ [तुम्हें यहीं रहने को प्रेरित करने के लिये।]

["अहमुत्तरत्व" की स्पर्धा में युद्धोपस्थित हो जाने, या इसकी सम्भावना में कई प्रजाजन निजराष्ट्र को छोड़कर परकीय किसी राष्ट्र में चले जाना चाहते हैं, इस विचार से कि उन्हें न जाने जीवनार्थ अन्न भी मिल सकेगा, या नहीं। प्रजा के कतिपय दिव्य नेता उन्हें कहते हैं कि

---

१. क्योंकि एक महाराष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति समग्र पृथिवी को अपनी माता अर्थात् मातृ-भूमि जानने लगता है, अतः समग्र पृथिवी को वह निजगृह समझता है। यथा "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु" (अथर्व० १२।१।१२)।

२. निज देश से परदेश जाने के लिए निज सरकार द्वारा प्राप्त स्वीकृति Permit, और विदेश में प्रवेश के लिए विदेश-सरकार द्वारा प्राप्त स्वीकृति Visa है।

---

१. मैं शक्तिशाली, इस प्रकार की स्पर्धा में दो राजा जब युद्ध करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

पुष्टान्न का स्वामी राजा तुम्हें आश्वासन देता है कि राष्ट्र में प्रभूत अन्न है। इसलिये जीवनरक्षार्थ तुम राष्ट्र छोड़कर अन्यत्र न जाओ। ईर्यः= ईर गतौ, तुम्हारा प्रेरक या शत्रु को कँपा देनेवाला राजा (ईर गतौ कम्पने च) (अदादिः)।]

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान वः सं नमयामसि ।।५।।

(वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम् नमामसि) हम परस्पर मिलाते हैं, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) परस्पर मिलाते हैं, (आकूतीः) संकल्पों को (सम्) परस्पर मिलाते हैं। (अमी) वे तुम (ये) जो (विव्रताः स्थन) परस्पर विरुद्ध कर्मोंवाले हो (तान् वः) उन तुमको (सम् नमयामसि) हम परस्पर मिलाते हैं।

[प्रजाजन दो विचारोंवाले हैं। कई तो राष्ट्र त्याग कर चले जाने के विचारवाले हैं, कई निज राष्ट्र में ही रहने के विचारवाले हैं। इस प्रकार वे परस्पर विरुद्ध विचारों तथा कर्मोंवाले हैं। राष्ट्र के दिव्यजन उन्हें एकमत करने के लिये यत्नवान् हैं। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)।]

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ।।६।।

[हे प्रजाजनो !] (मनांसि) तुम्हारे मनों को (मनसा) निज मन द्वारा (अहम्) मैं सम्राट् (गृभ्णामि) अपने अनुकूल करता हूँ, (चित्तेभिः) निज चित्तों द्वारा (मम) मेरे (चित्तम्, अनु) चित्त के, अनुकूल हुए (एत) आया करो [मुझे मिलने के लिये]। (मम) मेरी (वशेषु) इच्छाओं में (वः) तुम्हारे (हृदयानि कृणोमि) हृदयों को मैं करता हूँ, (मम) मेरे (यातम्) चलने के (अनुवर्त्मानः) अनुवर्ती हुए (एत) आया करो।

[वशेषु=वश कान्तौ (अदादिः), कान्ति=कामना, इच्छा।]

सूक्त ६

(१-६)। वामदेव। द्यावापृथिवी तथा विश्वेदेवाः। अनुष्टुप्;
४ चतुष्पदा निचृद् बृहती; ६ भुरिक्।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ।।१।।

(कर्शफस्य[1])=करशफस्य [सायण] शफ अर्थात् खुरों द्वारा काम करनेवाले या खुररूपी "कर" अर्थात् हाथोंवाले का, (विशफस्य) तथा शफों से विहीन का (पिता द्यौः) पिता है द्युलोक, (माता) तथा माता है (पृथिवी) पृथिवी। (देवाः) द्यौः और पृथिवी आदि दिव्यतत्त्वों ने (यथा) जिस प्रकार (अभि चक्रे) हमारे संमुख यह सृष्टि पैदा की है, (तथा) उसी प्रकार (पुनः) फिर (अपकृणुत) तुम इस सृष्टि को अपकृत अर्थात् अपगत करो।

[प्राणी-सृष्टि दो प्रकार की है, खुरोंवाली तथा खुरों से रहित। दोनों प्रकार की सृष्टियाँ द्युलोक तथा पृथिवी से उत्पन्न हुई हैं। जैसे ये उत्पन्न हुई हैं वैसे फिर अपगत होकर उत्पन्न होती रहेंगीं। यह उत्पत्ति तथा प्रलय का चक्र अनादिकाल से चल रहा है।]

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ।।२।।

(अश्रेष्माणः) न दग्ध हुए तत्त्वों ने (अधारयन्) हमारा धारण-पोषण किया हुआ है, (तथा) उस प्रकार का (तत्) वह विधान (मनुना) मनस्वी परमेश्वर ने (कृतम्) किया है। (मुष्काबर्हः) मुष्कों अर्थात् अण्डकोषों का हनन (इव गवाम्) जैसे बैलों का किया जाता है, वैसे (वध्रि) बधिया तथा (विष्कन्धम्) अवशोषण (कृणोमि) मैं कर देता हूँ [जगत् का]। बर्ह=हिंसायाम् (भ्वादिः)।

['अश्रेष्माणः' जो प्रलय में दग्ध नहीं हुए उन्होंने ही हम सबका धारण-पोषण किया है। यह परमेश्वर ने विधान कर रखा है। परमेश्वर ही संसार का विधान करता और वह ही संसार को बधिया[2] करता अर्थात् उत्पत्ति से रहित करता और अवशोषित करता है (प्रलय में); अश्रेष्माणः[3]

१. करोति कर्माणि शफैः यः, सः कर्शफः, अश्वादिः। तथा शफैः विहीनः विशफः मनुष्यादिः।

२. प्रलयकाल में जगत् शक्तिरहित हो जाता है, यह जगत् का वधियापन है।

३. अश्रेष्माणः=दग्ध न होनेवाले तत्त्व तीन हैं, परमेश्वर, जीव और प्रकृति। प्रलयाग्नि भी इन्हें दग्ध नहीं कर सकती। इन तीनों ने जगत् का धारण-पोषण किया हुआ है। परमेश्वर तो कर्तृत्वरूप में जगत् का धारण-पोषण करता है। जीव निज कर्मों के फलस्वरूप भोगापवर्ग के लिए दृश्य जगत् की उत्पत्ति में कारण हुआ जगत् का धारण-पोषण करता है। प्रकृति तो साक्षात् रूप में दृश्य जगत् में परिणत हुई उसका धारण-पोषण कर रही है।

=अ+श्रिषु (दाहे, भ्वादिः)। विष्कन्धम्=विशेषेण शोषणम्, (स्कन्दिर् शोषणे भ्वादिः)।]

पि॒शङ्गे॑ सू॒त्रे खृग॑लं॒ तदा ब॑ध्नन्ति वे॒धसः॑।
श्र॒व॒स्युं॑ शु॒ष्मं॑ काब॒वं वध्रिं॑ कृण्वन्तु ब॒न्धुरः॑ ॥३॥

(पिशङ्गे)=नानावर्णी (सूत्रे) प्रकृतिरूपी सूत्र में, (वेधसः) विधातृ-तत्त्व, (तत्) उस (खृगलम्) खर वस्तुओं का आस्रावण करनेवाले आदित्य को (आबध्नन्ति) द्युलोक में बाँधे रखते हैं, उसे जोकि (श्रवस्युम्) विश्रुत है, (शुष्मम्) बलशाली है, (काबवम्) रूपवान् है, उसे विधातृतत्त्व (वध्रिम्) वधिया सदृश (कुर्वन्तु) करें, (बन्धुरः) जैसेकि बन्धुत्व सम्पन्न परमेश्वर, प्रलय में इसे वधिया कर देता है। "कृण्वन्तु" गर्मी के कारण व्याकुल हो जाने से यह याचना हुई है।

[प्रकृति नाना वर्णोंवाली है, लोहित, शुक्ल तथा कृष्णा है। यथा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता० उप० अध्याय ४, सन्दर्भ ५)। इस प्रकृतिरूपी सूत्र में आदित्य आदि पिरोए हुए हैं, जैसेकि सूत्र में मणियाँ पिरोहित होती हैं। अथर्ववेद में प्रकृति को सूत्र और परमेश्वर को "सूत्रस्य सूत्रम्" कहा है (१०।८।३७, ३८)। शुष्मम् बलनाम (निघं० २।६)। अथवा शुष्मम्=सुखा देनेवाला, शुष शोषणे (दिवादिः), आदित्य की गर्मी सुखा देती है। काबवम्=रूपवान्, कबृ वर्णे (भ्वादिः), काबवम्=कबृ+अण्+वः (मत्वर्थीयः) खृगलम्[1]=खर वस्तु है बर्फ आदि, गल=स्रवणे (चुरादिः), स्रवणम्=द्रवीभूत होना, बहना, गला देना।]

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑।
शुनां॑ क॒पिरि॑व दू॒षणो॒ बन्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥४॥

[हे प्रजाजनो!] (श्रवस्यवः) यश चाहने की इच्छावाले तुम (येन) जिस विधि से (चरथ) विचरते हो, (इव) जैसेकि (असुरमाया) आसुरी-

१. खृगल है आदित्य। यह खर अर्थात् कठोर वस्तुओं को गला देता है, स्रवित अर्थात् द्रवीभूत कर देता है। पृथिवी के पेट में खर-पदार्थ पिगली-अवस्था में हैं, जोकि पृथिवी के उद्गाररूप में पृथिवीतल पर प्रकट होते रहते हैं, और जो ज्वालामुखी पर्वतों द्वारा उत्क्षिप्त होते रहते हैं। पृथिवी के पेट में यह गर्मी आदित्य की है। पृथिवी आग्नेय-आदित्य से ही प्रकट हुई है। अतः आदित्य को 'खृगल' कहा है। खृगल है खरगल, खर वस्तुओं को गला देनेवाला, स्रवित अर्थात् द्रवीभूत कर देनेवाला। पृथिवी पर के पर्वत उत्क्षेपरूप ही हैं।

माया से प्रेरित हुए (देवाः) देवकोटि के सज्जन विचरते हैं, (च) और (काबवस्य) रूप के (बन्धुराः) बन्धु हुए तुम विचरते हो [वे तुम दूषित हो] (इव) जैसेकि (शुनाम्) कुत्तों में से (कपिः) बन्दर (दूषणः) दूषित होता है।

[जैसे सर्वसाधारणजन यश की इच्छा से विचरते हैं, वैसे देवकोटि के सज्जन भी यदि आसुरीमाया से प्रेरित हुए विचरते हैं तो वे दूषित हो जाते हैं, क्योंकि वे रूप के बन्धु होते हैं। कुत्ते कामवासनाओंवाले होते हैं, परन्तु बन्दर उनकी अपेक्षया भी अधिक कामवासनावाला होता है, अतः वह दूषित है। बन्धुरा में विसर्गलोप छान्दस है। दूषणः कर्तरि ल्युट् (सायण)। देवकोटि के सज्जन भी आसुरीमाया के वशीभूत होकर कुपथ में प्रवृत्त हो जाते हैं, जैसेकि कवि ने कहा है कि,—"अपथे पदमर्पयन्ति हि गुणवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः"।]

दु॒ष्ट्यै हि त्वा॑ भ॒त्स्यामि॑ दूष॒यि॒ष्यामि॑ काब॒वम्।
उदा॒शवो॒ रथा॑ इव श॒पथे॑भिः सरिष्यथ ॥५॥

[हे प्रजाजन!] (दुष्ट्यै) तेरी दूषित वृत्ति के निवारण के लिये (त्वा) तुझे (भत्स्यामि) मैं कल्याणमार्गी बनाऊँगा, (काबवम्) रूपादि विषयोंवाले तुझको (दूषयिष्यामि) मैं विकृत कर दूँगा [पूर्वावस्था से विभिन्न अवस्था-वाला कर दूँगा]। (उदाशवः) उन्नति के मार्ग पर शीघ्र चलनेवाले (रथाः इव) रथों के सदृश, (शपथेभिः) मेरे शपथों के कारण, (सरिष्यथ) तुम शीघ्रता से चल सकोगे।

[दुष्ट्यै=तुमर्थे चतुर्थी। भत्स्यामि=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)। "शपथेभिः" द्वारा वक्ता ने निज दृढ़ संकल्प सूचित किया है, जिस द्वारा व्यक्ति शीघ्र कल्याणमार्ग में चल सकेगा। शपथेभिः=शपथों में दृढ़संकल्प होते हैं। यथा "अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि" (निरुक्त ७।१।३); तथा (अथर्व० ८।४।१५)।]

एक॑शतं॒ विष्क॑न्धानि॒ विष्ठि॑ता पृथि॒वीमनु॑।
तेषां॒ त्वाम॑ग्र उज्जहरु॒र्मणिं॒ विष्क॑न्धदूष॒णम् ॥६॥

(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) शोषण (पृथिवीमनु) पृथिवी में (विष्ठिता) विविधरूप में स्थित हैं। (तेषाम्) उनके निवारण के लिए, (मणिम्[1]) तुझ पुरुष-रत्न को [देवों ने] (अग्रे) पहिले (उज्जहरुः) चुना है, (विष्कन्धदूषणम्) शोषकों के विनाशकरूप में।

१. मणि=रत्न। (आप्टे)। रत्न="जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नममिधीयते" (मल्लिनाथ)। मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य को भी मणि और रत्न कह सकते हैं, यथा चन्द्रमणि आदि।

[विष्ठिता=विष्ठितानि। विष्कन्ध हैं रोग, जोकि शरीर और शारीरिक शक्तियों का शोषण कर देते हैं, "स्कन्दिर् गतिशोषणयोः" (भ्वादिः)। ये रोग १०१ हैं। मनुष्य का जीवन है शतायुः और एक वर्ष वह मातृयोनि में निवास करता है। जीवनवर्षों की संख्यानुसार शोषक रोगों को १०१ कहा है। उज्जहरुः=उत्+हृञ् हरणे (भ्वादिः), ऊपर की ओर हरण करना, ऊँचा करना, चुनना।]

सूक्त १०

(१-१३)। अथर्वा। अष्टका। अनुष्टुप्; ४, ५, ६, १२ त्रिष्टुप्; ७ व्यवसाना षट्पदा विराड् गर्भातिजगती।

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१॥

(प्रथमा) सृष्टि के प्रारम्भ में पहली उषा ने (व्युवास) तमस् अर्थात् अन्धकार को स्थानच्युत कर दिया, [विवासित कर दिया], (सा) वह उषा (यमे) दिन-रात के जोड़े में (धेनुः अभवत्) खाद्य-अन्न प्रदान करनेवाली हो गई। (सा) वह (नः) हमारे लिए (पयस्वती) दुग्धवाली हो गई, वह (उत्तराम्, उत्तराम्, समाम्) उत्तरोत्तर वर्षों में (दुहाम्) दुग्ध आदि दोहन करे, प्रदान करे। समा=चान्द्रवर्ष (स+[चन्द्र]+मा), संवत्सर है सौरवर्ष।

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२॥

(उपायतीम्) समीप आती हुई (याम्) जिस (धेनुम्, रात्रिम्) धेनुरूपा रात्री को [प्राप्त कर] (देवाः) दिव्य शक्तियाँ (प्रतिनन्दन्ति) समृद्ध होती हैं, तथा (या) जो रात्री (संवत्सरस्य पत्नी) संवत्सर की पत्नी है, (सा) वह (नः) हमें (सुमङ्गली अस्तु) उत्तम-मङ्गलकारिणी हो।

[संवत्सर है सौर वर्ष। मन्त्र में समाम् द्वारा चान्द्रवर्ष का कथन हुआ है। सौर वर्ष का प्रारम्भ रात्री द्वारा कहा है। दिन, रात्री के १२ बजे की समाप्ति पर, आनेवाली रात्री के १२ बजे तक होता है। इस आनेवाली रात्री के पश्चात् दिन का प्रारम्भ होता है जोकि नववर्ष को प्रारम्भ करता है। इस नववर्ष के आते भूमण्डल की दिव्य शक्तियाँ समृद्ध होने लगती हैं। यह रात्री नववर्ष की पत्नी होती है, नववर्ष की दिव्य

शक्तियों की उत्पादिका होती है। नन्दन्ति=टुनदि समृद्धौ (भ्वादिः)। इस प्रथमा रात्री को संवत्सर की पत्नी कहा है। इस प्रथमा रात्री से संवत्सर प्रारब्ध होता है, सम्भवतः यह अभिप्राय है।]

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३॥

(रात्रि) हे रात्रि! (याम् त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य) सौरवर्ष की (प्रतिमाम्) प्रतिकृति रूप में, या निर्मात्रीरूप में (उपास्महे) हम उपासित[1] करते हैं, (सा) वह तू (नः प्रजाम्) हमारी पुत्र-पौत्र आदि सन्तान को (आयुष्मतीम्) प्रशंसित आयुवाली (रायस्पोषेण) तथा सम्पत्ति की पुष्टि के (सं सृज) साथ सम्बद्ध कर।

[रात्री सौरवर्ष की पत्नी है, निर्मात्री है (देखो मन्त्र २ की व्याख्या। आयुष्मतीम्=प्रशंसार्थे मतुप्। उपास्महे=आसना परमेश्वर की को जाती है, ध्यान में उसके समीप बैठा जाता है। उप (समीप)+आस (उपवेशने) बैठना। मन्त्र में रात्रि के समीपस्थ होने का निर्देश हुआ है, जोकि नववर्ष की पहली रात्री है। इस रात्री में प्रसन्नता प्रकट करना इसकी उपासना है।]

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

(इयम् एव सा) यह ही वह (प्रथमा) पहली उषा है (या) जिससे कि (इतरासु प्रविष्टा) अन्य उषाओं में प्रविष्ट होकर (व्यौच्छत्) तमस् का निरसन किया है, (चरति) और उनमें विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इस पहली उषा के भीतर (महान्तः महिमानः) अपरिमित महिमाएँ हैं, (जिगाय) अतः यह विजेत्री हुई है, जैसेकि (नवगत् वधू) पतिगृह में नई-नई गई वधू, (जनित्री) सन्तानोत्पादिका बनकर, विजयवाली हो जाती है।

[सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुई पहली उषा ही मानो तदनन्तर प्रकट हुई उषाओं में प्रकट हो रही है। इन सब उषाओं के स्वरूपों में साम्य है। अतः इन उषाओं में प्रथमोत्पन्न उषा का प्रकट होना कहा है। नववधू सन्तानोत्पादन कर, पतिगृहवासियों को प्रसन्न कर, उनके मनों पर विजय पा लेती है, क्योंकि यह वंशपरम्परा को जारी रखने में सहायिका हुई है।]

---

१. अथवा रात्रीमुपाश्रित्य परमात्मानमुपास्य है।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥

(परिवत्सरीणम्) संवत्सर भर पैदा किये जानेवाले (हविः कृण्वन्तः) खाद्यान्न के उत्पादक, तथा (वानस्पत्याः) वनों के अधिपतियों अर्थात् महाकाय वृक्षों के उत्पादक (ग्रावाणः) मेघों ने (घोषम्) गर्जना (अक्रत) की है। (एकाष्टके) हे माघकृष्णाष्टमी ! (सुप्रजसः) उत्तम सन्तानोंवाले, तथा (सुवीराः) उत्तम वीर (वयम्) हम, (रयीणाम्) सम्पत्तियों के (पतयः स्याम) स्वामी हों ।

[हविः=हु दानादनयोः (जुहोत्यादिः), अदन अर्थ अभिप्रेत है, अर्थात् अदनीय अन्न । ग्रावाणः=ग्रावा मेघनाम (निघं० १।१०) । मेघ की वर्षा द्वारा वनस्पतियाँ तथा अदनीय अन्न पैदा होते हैं। माघकृष्णाष्टमी से इसकी पत्नी और पति संवत्सर का प्रारम्भ होता है [मन्त्र २, ८] । एकाष्टका=माघकृष्णाष्टमी (मन्त्र १२, सायण) ।]

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

(इडायाः[1]) स्तुत्या [एकाष्टका की] (पदम्[2]) गति (घृतवत्[3] सरीसृपम्[4]) पिघले घृत के सदृश अति सर्पणवाली है, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ परमेश्वर ! तू (हव्या=हवींषि) हमारी प्रदत्त हवियों को (प्रतिगृभाय) ग्रहण कर । (ये) जो (विश्वरूपाः) नानारूपाकृतियोंवाले (ग्राम्याः पशवः) ग्राम के पशु हैं, (तेषाम्, सप्तानाम्) उन सात का (रन्तिः) रमण (मयि अस्तु) मुझमें हो [यह प्रार्थना की गई है ।]

[प्रकरण के अनुसार इडा का अर्थ एकाष्टका प्रतीत होता है (मन्त्र ५) । एकाष्टका की गति अति-सर्पणशील है। परमेश्वर के प्रति प्रकृतिजन्य हवियों को समर्पित कर, उसे ग्रहण करने की प्रार्थना की है। ग्राम के सात पशु हैं गौ, अश्व, अजा, अवि, पुरुष, गर्दभ और उष्ट्र (सायण)। फलरूप में इनका रमण चाहा है। एकाष्टका है माघकृष्णाष्टमी (सायण), (अथर्व० १०।५।१) ।]

१. इडा=ईड स्तुतौ, दीर्घ ईकार का ह्रस्वत्व छान्दस है।
२. पदम्=पद गतौ अर्थात् गति, विचलन ।
३. घृतवत्=घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२) ।
४. सरीसृपम्=उदकवत् अति सर्पणशील; यङ्लुगन्तरूप ।
ज्योतिष सिद्धान्तानुसार भूमध्यरेखा तथा क्रान्तिवृत्त के मेल अर्थात् परस्पर कटाव

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥७॥

(रात्रि) हे रात्रि ! (मा) मुझे (पुष्टे च पोषे च) पुष्ट पदार्थों में, और [उन द्वारा प्राप्त] पुष्टि में (आ) आस्थापित कर, ताकि (देवानाम्) दिव्य व्यक्तियों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों । (दर्वे) हे दारु द्वारा निर्मित कड़छी ! (परापत) अग्नि की ओर तू जा गिर, तदनन्तर (सुपूर्णा) और अभिमत फलों से पूर्ण हुई, भरी हुई (पुनः) फिर (आ पत) हमारी ओर आ गिर। (सर्वान् यज्ञान्) सब यज्ञों को (संभुञ्जती) सम्यक् सफल करती हुई (नः) हमारे लिये (इषम्) अभीष्ट अन्न, (च) और (ऊर्जम्) बल और प्राण (आ भर=आ हर) ला ।

[रात्री है संवत्सर की प्रथमा रात्री, जिस रात्री से संवत्सर का प्रारम्भ होता है। उस रात्री में सांवत्सरिक यज्ञ करना चाहिए (मन्त्र ५)। इस यज्ञ में यज्ञकर्त्ताओं को दिव्य व्यक्तियों की सुमति के अनुसार जीवनचर्या करनी चाहिए। घृत तथा हवियों को यज्ञाग्नि में डालने के लिए दारुनिर्मित कड़छी चाहिए, ताकि आहुतियाँ प्रभूतमात्रा में दी जा सकें, कड़छी को पूर्ण भरकर आहुतियाँ दी जा सकें, उसका फल भी प्रभूत होगा । सब यज्ञों के पूर्णतया परिपालित होने पर हमें अभीष्ट अन्न और उस द्वारा बल और प्राणशक्ति प्राप्त होगी। ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)। भुञ्जती=भुज पालने (रुधादिः), भोजन से पालन होता ही है। यज्ञों और यज्ञियाग्नियों को समुचित भोजन मिलने पर ये भी परिपालित होंगे ।]

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

(एकाष्टके) हे एकाष्टका की रात्री ! (अयम्) यह (तव पतिः) तेरा पति (संवत्सरः) सौर वर्ष (आ अगन्) आ गया है। (सा) वह तू (नः

के बिन्दुओं का जब संक्रमण होता है तो यह संक्रमण शनैः-शनैः इन बिन्दुओं पर पूर्वापेक्षया कुछ शीघ्र पहुँच जाता है। इसे "Precession of equinoxes" कहते हैं। Equinoxes का अर्थ है "दिन और रात का बराबर हो जाना।" यह बराबर होना राशिचक्र में पश्चिम से पूर्व की ओर होता रहता है। राशियों का क्रम है, मेष, वृष, मिथुन आदि, और इनका विपरीत क्रम है, मीन, कुम्भ, मकर आदि। Equinoxes की गति इस विपरीत क्रम में होती रहती है। इस गति का प्रभाव एकाष्टका पर भी होता है। इसे "सरीसृपम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। एकाष्टका=माघकृष्णाष्टमी (सायण)।

प्रजाम्) हमारी प्रजा को (आयुष्मतीम्) दीर्घायु कर और (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि के साथ (संसृज) उसका संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध कर।

[मन्त्र (२) में रात्री को संवत्सर की पत्नी कहा है, अतः संवत्सर है उसका पति। व्याख्या के लिये देखो मन्त्र (२)।]

ऋतून् यज ऋतुपतींनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

(ऋतून् यजे) मैं ऋतुयज्ञ करता हूँ, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के पतियों को, (आर्तवान्) ऋतुओं के समूहों या अवयवों को, (उत) तथा (हायनान् =सायनान्) अयनोंवाले आयनवर्षों को, (समाः) चान्द्रवर्षों को, (संवत्सरान्) सौरवर्षों को, (मासान्) मासों को [लक्ष्य कर] यज्ञ करता हूँ। (भूतस्य पतये) और भौतिक जगत् के पति अर्थात् परमेश्वर का (यजे) मैं यजन करता हूँ।

[संवत्सर की पहली रात्री से प्रारम्भ कर प्रत्येक ऋतु तथा मास में यज्ञ करने का विधान हुआ है। ये यज्ञ भौतिक जगत् के पति परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये हैं। दो अयनों के मेल से हायन होता है। दो अयन हैं उत्तरायण तथा दक्षिणायन। हायन है सायन, यथा सिन्धु है हिन्दु। सकार को हकार प्रायः हो जाता है। ऋतुपति हैं अग्नि, वायु, विद्युत्, मेघ, आदित्य आदि।]

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥१०॥

(त्वा) तुझे (ऋतुभ्यः) ऋतुओं [की पुष्टि के] लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं के समूह या अवयवों [की पुष्टि] के लिये, (माद्भ्यः) मासों [की पुष्टि के] लिये, (संवत्सरेभ्यः) संवत्सरों [की पुष्टि] के लिये, (धात्रे) तथा धारणपोषण करनेवाले के लिये, (विधात्रे) जगत् का विधिविधान करनेवाले के लिये, (समृधे) सबकी समृद्धि के लिये, (भूतस्य पतये) भूत-भौतिक जगत् के स्वामी परमेश्वर [की प्रसन्नता] के लिये (यजे) मैं यज्ञ करता हूँ।

[त्वा=तुझे लक्ष्य करके, अर्थात् संवत्सर की रात्री को लक्ष्य करके, अर्थात् संवत्सर की पहली रात्री से मैं यज्ञ प्रारम्भ करता हूँ।]

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥११॥

(घृतवता इडया) घृतसम्पृक्त अन्न द्वारा (वयम्) हम (जुहृतः) आहुतियाँ देते हुए (देवान्) अग्नि आदि देवों का [यजन करते हैं], (यजे)

मैं प्रत्येक गृहस्थी भी यज्ञ करता हूँ। (अलुभ्यतः वयम्) निर्लोभी हुए हम (गोमतः) गौओंवाले (गृहान्) घरों में (उप) उपस्थित हुए (सं विशेम) मिलकर प्रवेश करें।

[नवनिर्मित गृहों में प्रवेश करने का कथन हुआ है। प्रवेश के लिये सबको अर्थात् प्रत्येक को गृहप्रवेश संस्कार करना चाहिए। गृहों में गोसम्पत्ति होनी चाहिए। गृहस्थियों को निर्लोभी होना चाहिए, ताकि भिक्षुकों और अतिथियों का वे सत्कार कर सकें। इडा=अन्न (निघं० २।७)। अन्नाहुतियाँ घृतसम्पृक्त होनी चाहिए। सम्भवतः मन्त्र में नवसस्येष्टि का भी विधान हुआ है।]

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

(एकाष्टका) एकाष्टका ने, (तपसा तप्यमाना) अर्थात् तप द्वारा प्रतप्त हुई ने, (गर्भम् जजान) गर्भ को जन्म दिया, (महिमानम् इन्द्रम्) अर्थात् महिमासम्पन्न आदित्य को। (तेन) उस आदित्य द्वारा (देवाः) दिव्यतत्त्वों ने (शत्रून् व्यसहन्त) शत्रुओं का विशेषतया पराभव किया, अतः (शचीपतिः) शक्तियों का अधिपति आदित्य (दस्यूनाम् हन्ता अभवत्) उपक्षयकारियों का हनन करने वाला हुआ।

[एकाष्टका है माघकृष्णाष्टमी (सायण, मन्त्र १२)। पौषमास तक आदित्य दक्षिण तक जाता रहता है। माघमास से आदित्य की गति उत्तरायण की ओर हो जाती है, और क्रमशः उत्तरोत्तर गति करता हुआ अधिकाधिक गर्म होता जाता है। यह स्थिति है एकाष्टका की गर्मी को गर्भरूप में धारण करने की। तदनन्तर गर्मी के अधिक बढ़ जाने पर आदित्य को एकाष्टका जन्म देती है। एकाष्टका के "तपसा तप्यमाना जजान" का यह अभिप्राय प्रतीत होता है। इन्द्र है परमैश्वर्यवान् आदित्य। आदित्य का पूर्णरूप में प्रतप्त हो जाना उसका परम ऐश्वर्य है। ऐसे आदित्य को सहायता द्वारा दिव्य शक्तियाँ अन्धकार तथा शैत्यरूपी शत्रुओं का पराभव करती हैं।]

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

हे एकाष्टका! तू इन्द्रपुत्रवाली है, सोमपुत्रवाली है, प्रजापति परमेश्वर की तू दुहिता है। (अस्माकम्, कामान्) हमारी कामनाओं को (पूरय) पूरी कर, सफल कर। (नः) हमारी (हविः) हवि को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर।

[एकाष्टका अर्थात् माघ कृष्णाष्टमी के दो पुत्र हैं इन्द्र अर्थात् आदित्य और सोम अर्थात् चन्द्रमा। आदित्य तो दिन में और चन्द्रमा रात्री में प्रकाश देकर हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है, दिन और रात्री में की गई कामनाओं को ये दोनों पूर्ण करते हैं, सफल करते हैं। एकाष्टका प्रजाओं-के-पति परमेश्वर की दुहिता है, परमेश्वर की कामनाओं का दोहन करती है "दुहिता दोग्धतेर्वा" (निरुक्त ३।१।३) परमेश्वर की कामना है प्राणियों को सृष्टयुत्पादन द्वारा भोगापवर्ग का प्रदान। परमेश्वर की इस कामना द्वारा हम प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण हो रही हैं, सफल हो रही हैं। हविः है माघकृष्णाष्टमी पर किये गये यज्ञ की हविः।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त

अनुवाक ३

सूक्त ११

(१-८)। ब्रह्मा तथा भृग्वङ्गिराः। ऐन्द्राग्नायुष्यम्; यक्ष्मनाशनम्।
त्रिष्टुम्; ४ शक्वरीगर्भा जगती; ५, ६ अनुष्टुभ्;
७ उष्णिग् बृहतीगर्भा पथ्यापंक्तिः;
८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥१॥

[हे रुग्ण!] (त्वा) तुझे, (कम् जीवनाय)[1] सुखी जीवन के लिये, (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकटित लक्षणोंवाले यक्ष्म रोग से, (उत) तथा (राजयक्ष्मात्) मुख्य यक्ष्म रोग से, (हविषा) यज्ञियाग्नि में हविः द्वारा, (मुञ्चामि) मैं मुक्त करता हूँ, छुड़ाता हूँ। (यदि एतत् एनम्) यदि इस यक्ष्म ने इस रुग्ण को (ग्राहिः) जकड़नेवाले रोग के रूप में (जग्राह) जकड़ा हुआ है, तो (तस्याः) उस जकड़न से (एनम्) इस रुग्ण को (इन्द्राग्नी) आदित्य और यज्ञियाग्नि (प्र मुमुक्तम्) पूर्णतया मुक्त करें।

[इन्द्र है आदित्य (अथर्व० ३।१०।१३), आदित्य की रश्मियों द्वारा यक्ष्म का निवारण। आदित्य को "सप्तरश्मि" कहा है, (अथर्व० २०।८८।४), तथा "सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति" (निरुक्त ४।४।२७)। वैज्ञानिक दृष्टि में सात रश्मियाँ, यथा, Red, yellow, orange, green, blue, indigo, violet. इन रश्मियों द्वारा चिकित्सा करने से यक्ष्म-रोग की निवृत्ति कही है। ये सात वर्ण की पट्टियाँ वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् में दृष्टिगोचर होती हैं। "हविषा" द्वारा यक्ष्मरोग की निवारक औषधियाँ अभिप्रेत हैं। हविः से उत्थित यज्ञधूम को श्वासों द्वारा ग्रहण करना चाहिए। इससे यज्ञधूम रक्त में मिलकर शीघ्र रोगनिवारक हो जाता है।]

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥२॥

(यदि क्षितायुः) यदि यह क्षीणायुः हो गया है, (यदि वा) या (परेतः)

१. कम्=सुखम्। यथा 'नाके' (निरुक्त २।४।१४)।

आरोग्यावस्था से परे हो गया है, (यदि मृत्योः अन्तिकम्, नीत एव) यदि मृत्यु के समीप ही प्राप्त हो गया है, तो भी (तम्) उसको (निर्ऋतेः) कृच्छ्रापत्ति की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) मैं छीन लाता हूँ, (एनम्) इसको (शतशारदाय)[1] सौ वर्षों के जीवन के लिये (अस्पार्शम्) मैंने स्पर्श कर दिया है।

[हस्तस्पर्श द्वारा चिकित्सक रोगी में शक्तिसंचार कर उसे रोग से मुक्त कर देता है। देखो (अथर्व० २०।६६।६-१०)। निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २।२।६)।]

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

(सहस्राक्षेण) हजारों रोगों का क्षय करनेवाली, (शतवीर्येण) सैंकड़ों शक्तियोंवाली, (शतायुषा) सौ वर्षों की आयु करनेवाली (हविषा) हविः द्वारा (एनम्) इस रुग्ण को (आहार्षम्) मैं छीन लाया हूँ। (यथा) जिस प्रकार कि (इन्द्रः) आदित्य (एनम्) इस रुग्ण को (शरदः) सौ शरद्-ऋतुओं अर्थात् वर्षों तक (नयाति) पहुँचाए, तथा (विश्वस्य) सब (दुरितस्य) बुरे परिणामों से (पारम्) पार कर (अति नयाति) ले चले, पहुँचा दे।

[इन्द्रः अर्थात् आदित्य, निज रश्मियों द्वारा, रुग्ण के रोगों का विनाश कर सौ वर्ष की आयुवाला कर देता है, और रोगनाशक हवि भी इसे शतायुः कर देती है; देखो मन्त्र १।]

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥४॥

(शतं शरदः जीव) तू हे वरुण! सौ शरद-ऋतु जीवित हो (वर्धमानः) बढ़ता हुआ, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतु (उ) तथा (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतु [जीवित हो]। (इन्द्रः) आदित्य, (अग्निः) यज्ञियाग्नि, (सविता) सविता, (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ते शतम्) तेरी सौ वर्षों की आयु करें, (शतायुषा हविषा) सौ वर्षों की आयु करनेवाली रोगनाशक हवि द्वारा (एनम्) इस रुग्ण को (आ हर्षम्) मैं मृत्यु से छीन लाया हूँ।

[सविता="तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का आकीर्णरश्मिर्भवति" (निरुक्त १२।२।१२); सविता पद ७। इन्द्र है परमैश्वर्यसम्पन्न आदित्य, अर्थात् चमकता सूर्य और सविता उस काल का आदित्य है जबकि द्यौ में तो प्रकाश हो, परन्तु पृथिवी पर अभी अन्धकार की सत्ता बनी रहे।

१. ग्रीष्म-ऋतु में व्यक्ति क्षीण हो जाता है, और शरत्काल में स्वस्थ।

बृहस्पति है ग्रह। इसका भी सम्बन्ध आयु के साथ प्रतीत होता है। अथवा बृहस्पति है परमेश्वर जोकि बृहतों का पति है।]

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥५॥

(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान! (प्र विशतम्) तुम दोनों रोगी में प्रवेश करो, (इव) जैसेकि (अनड्वाहौ) शकटवाहन में समर्थ दो बैल (व्रजम्) गोशाला में प्रविष्ट होते हैं। (अन्ये) अन्य (मृत्यवः) मृत्युएँ (वि यन्तु) विगत हो जायें (यान् आहुः) जिन्हें कहते हैं, (इतराम् शतम्) उससे भिन्न सौ।

[भिन्न=यक्ष्म रोग से भिन्न रोग। शतम्=सौ वर्षों की आयु में व्यापी अन्य रोग।]

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥६॥

(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान! तुम (इह एव) इसके शरीर में ही (स्तम्) रहो, (इतः) इस शरीर से (युवम्) तुम दोनों (मा अप गातम्) अपगत न होओ। (अस्य) इसके (शरीरम् अङ्गानि) शरीर और अङ्गों को (पुनः) फिर (जरसे) जरावस्था के लिये (वहतम्) प्राप्त कराओ। वहतम्=वह प्रापणे (भ्वादिः)।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् छतम् ॥७॥

[हे व्याधिनिर्मुक्त] (त्वा) तुझे (जरायै) जरावस्था के लिये (परिददामि) रक्षार्थ में प्रदान करता हूँ, [हे व्याधि!] (त्वा) तुझे (जरायै) इसकी जरावस्था के लिये (नि धुवामि) मैं नितरां कम्पित करता हूँ। [हे व्याधिनिर्मुक्त!] (त्वा) तुझे (भद्रा) कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी (जरा) जरावस्था (नेष्ट) प्राप्त हुई है। (अन्ये मृत्यवः) अन्य मृत्युएँ (वि यन्तु) विगत हो जायँ, (यान्) जिन्हें (आहुः) कहते हैं (इतरान्) तद्भिन्न (शतम्) सौ।

[धुवामि=धूञ् कम्पने (चुरादिः)। परि ददामि=रक्षार्थं दानं परिदानम् (सायण)। भद्रा=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)। नेष्ट=णीञ् प्रापणे (भ्वादिः) छान्दसो लुङ् (सायण)।]

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

[हे व्याधिनिर्मुक्त !] (त्वा) तुझे (जरिमा) जरा ने (अभि अहित) बाँध लिया है, (गाम् उक्षणम्) गौ और बैल को (रज्ज्वा इव) रस्सी द्वारा जैसे [बाँधा जाता है]। (जायमानं त्वा) पैदा होते हुए तुझे (यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (सुपाशया) उत्तम फंदे द्वारा (अभि अधत्त) बाँधा था, (ते) तेरे (तम्) उस मृत्युपाश को (बृहस्पतिः) वेदवाक् के पति ने (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सच्चाई वाले दो हाथों द्वारा (उदमुञ्चत्) उन्मुक्त कर दिया है, छुड़ा दिया है।

[अभि अहित=अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते यथा "अश्वाभिधानीमादत्ते", दधातेर्लुङ् (सायण)। सुपाशया=पाश को सुपाशा कहा है। यह उत्तम पाश है, यतः इस नाल से बँधी सन्तान पैदा होती है। यह है नाभि-नालरूपी पाश अर्थात् रस्सी। मृत्युः=प्रत्येक प्राणी के पैदा होते ही उसके साथ मृत्यु का सम्बन्ध रहता है, जो पैदा होता है उसकी मृत्यु भी अवश्यं-भावी है। बृहस्पतिः=बृहती वेदवाक्, उसका पतिः, वेदज्ञ विद्वान्। हस्ताभ्याम् यथा "हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम्...ताभ्यां त्वाभि मृशामसि" (अथर्व० ४।१३।६, ७)। अभिमर्शन=स्पर्श करना। स्पर्शकर्त्ता के दोनों हाथ सत्यकर्मा होने चाहिएँ तभी इन द्वारा स्पर्श करने से रोगी रोगोन्मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।]

सूक्त १२

(१-९)। ब्रह्मा। शाला, वास्तोष्पतिः। त्रिष्टुभः २ विराड्जगती;
३ बृहती; ६ शक्वरीगर्भा जगती; ७ आर्ष्यनुष्टुभ्;
८ भुरिक्; ९ अनुष्टुभ्।

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

(इह एव) इस भूमिप्रदेश में ही (ध्रुवाम्) स्थिर (शालाम्) शाला को (निमिनोमि) मैं आधाररूप में स्थापित करता हूँ, (घृतम् उक्षमाणा) घृत का सेंचन करती हुई (क्षेमे) हमारे क्षेम या निवास के निमित्त (तिष्ठाति) यह स्थित हो। (सर्ववीराः) सब वीर सन्तानोंवाले (सुवीराः) उत्तम सन्तानोंवाले, (अरिष्टवीराः) तथा अहिंसित सन्तानोंवाले हम (ताम् त्वा) उस तेरे (उप) समीप (संचरेम) मिलकर विचरें।

[क्षेमे=सुरक्षा तथा प्रसन्नता के निमित्त (आप्टे) या हमारे निवास के निमित्त "क्षि निवासे" (तुदादिः)। घृतम्=घी (मन्त्र २) में गोमती, घृतवती, पयस्वती के अनुसार। निमिनोमि=नि+डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वादिः), नींवरूप में रोड़ी आदि का प्रक्षेपण करता हूँ, अर्थात् नींव डालता हूँ। शाला, देखो (अथर्व० ९।३।१-३१)। क्षेम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दशपाद्युणादिवृत्ति में "क्षि निवासगत्योः" का भी उल्लेख किया है (७।२६), इसलिये निवासार्थ भी उपपन्न है।]

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२॥

(शाले) हे शाला! (इह एव) यहाँ ही (ध्रुवा) स्थिर हुई (प्रति तिष्ठ) स्थित हो, या प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, (अश्वावती) अश्वों और अश्वाओंवाली, (गोमती) गौओंवाली, (सूनृतावती) प्रिय और सत्य वाणियों वाली, (ऊर्जस्वती) बल और प्राणदायक अन्नवाली, (घृतवती) घृतवाली (पयस्वती) दूध वाली तू (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिये (उत् श्रयस्व) ऊपर उठ।

[सूनृतावती, जिसमें निवास करनेवाले सदा सत्य और प्रिय वाणियाँ ही बोलते हैं। ऊर्जस्वती=ऊर्ज बल-प्राणनयोः (चुरादिः)।]

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

(शाले) हे शाला! (धरुणी असि) तू हमारा धारण करनेवाली है, (बृहत्-छन्दाः) बहुत वैदिक छन्दोंवाली, (पूतिधान्या) पवित्रान्नवाली है। (वत्सः) बछड़ा (त्वा) तुझे (आ गमेत्) प्राप्त हो, (कुमारः) कुमार पुत्र (आ) तुझे प्राप्त हो, (आस्पन्दमानाः) उछलती-कूदती हुईं (धेनवः) दुग्धवती गौएँ (सायम्) सायंकाल (आ) तुझे प्राप्त हों।

[बृहत्-छन्दाः=जिस शाला में प्रभूत वैदिक स्वाध्याय होता रहे। अथवा बड़े छत्तवाली।]

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४॥

(इमाम् शालाम्) इस शाला को (सविता) सविता, (वायुः) वायु, (इन्द्रः) प्रकाशैश्वर्यवाला आदित्य [सुरक्षित करे], (प्रजानन्) शाला-निर्माण को जाननेवाला (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाक् का पति (निमिनोतु) निर्माण करे या निर्माण करनेवाली वस्तुओं का इसमें प्रक्षपण करे। (मरुतः) मानसून वायुएँ (उद्ना) जल द्वारा, (घृतेन) तथा घृत द्वारा (उक्षन्तु) सिञ्चन करें, (नः) हमारा (भगः) भाग्यवान् (राजा) राष्ट्रपति (कृषिम्) कृषि का (नितनोतु) नितरां विस्तार करे।

[वायु, उदित आदित्य, और "सविता अर्थात् उदीयमान आदित्य" = ये हमारी रक्षा करते हैं। अग्नि आदि की व्याख्या देखो (अथर्व० ३।११।४)। घृतेन = वर्षा द्वारा चारा मिलने पर गौओं से प्राप्त घृत। अथवा "घृ क्षरणे" क्षरित हुए जल द्वारा।]

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

(मानस्य पत्नि) हे मान की पत्नी! (शरणा) तू शरणरूपा है, आश्रय है, (स्योना) सुखकारी है, (देवी) दिव्यरूपा या "द्योतमाना" [सायण] है, (अग्रे) गृहस्थी होने से पूर्व (देवेभिः) दिव्य बृहस्पतियों द्वारा (निमिता असि) तू निर्मित होती रही है [सायण]। (त्वम् तृणम् वसाना[1]) तू तृण का वस्त्र ओढ़ती हुई, (सुमना) हमारी मनों को प्रसन्न करनेवाली (असः) हो, (अथा) तदनन्तर (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (सहवीरम्) वीर सन्तानों सहित (रयिम् दाः) सम्पत्ति प्रदान कर।

[मन्त्र में पत्नी उपमान है, और शाला उपमेय है। उपमानवाचक पद लुप्त है। पत्नीपद सूचक है पति की सत्ता का, और शालापद सूचक है शाला के स्वामी का। पत्नी की सत्ता द्वारा पति का मान बना रहता है और शाला की सत्ता द्वारा शालाधिपति का मान बना रहता है। शाला के बिना गृहस्थी की ध्रुवा स्थिति नहीं होती, वह कभी किरायादार हुआ एक शाला का आश्रय लेता है, कभी दूसरी शाला का, जैसेकि पुरुष पत्नी के बिना सहायतार्थ भटकता रहता है, और सामाजिक जीवन में उसकी स्थिति नहीं बन पाती। स्थिति के बनने के पश्चात् ही वह सन्तानों सहित सम्पत्तियों को प्राप्त करने का अधिकारी बन पाता है। "तृणं वसाना" द्वारा सर्वसुलभशाला सूचित हुई है। "तृणं वसाना" द्वारा झोंपड़ी प्रतीत होती है अथवा फूस की छत्त गर्मी-सर्दी से बचाती है।

१. वस आच्छादने (अदादिः)।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥

(वंश[1]) हे वंश! (ऋतेन) विधान द्वारा (स्थूणाम्) खम्भे पर अधिरोह आरोहण कर, (उग्रः) उग्र अर्थात् न टूटता-फूटता तू (विराजन्) विराजता हुआ (शत्रून्[2]) शत्रुओं को (अप वृङ्क्ष्व) हटाकर वर्जित कर। (शाले) हे विशाल कोठी! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों को (उप = उपेत्य) प्राप्त कर (सत्तारः) बैठने अर्थात् रहनेवाले (मा रिषन्) दुःखी या हिंसित न हों, (सर्ववीराः) सब वीर हुए (शतं शरदः) सौ शरद्-ऋतुओं तक (जीवेम) हम जीवित हों।

[मन्त्र ५ में तो सम्भवतः झोंपड़ी का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ६ में विशाल कोठी का। तभी शाला में "गृहाणाम्" द्वारा नाना गृहों या कमरों का कथन हुआ है। वंश का अर्थ है बांस। प्रत्येक गृह की छत्त में सुदृढ़ बांस को, कड़ी रूप में स्थापित करना कहा है।]

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७॥

(इमाम्) इस शाला को (कुमारः) कुमार पुत्र तथा (तरुणः) युवा पुत्र (आ) प्राप्त हुए हैं, (जगता सह) गमन करनेवाली अर्थात् चलती-फिरती गौ के साथ (वत्स) बछड़ा (आ) आया है, प्राप्त हुआ है। (इमाम्) इस शाला को (परिस्रुतः कुम्भः) परिस्रवणशील मधु तथा घृत का घड़ा (आ) प्राप्त हुआ है, और (दध्नः) दधि के (कलशैः) कलशों के साथ ये सब (आ अगुः) आ गए हैं, प्राप्त हो गए हैं।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥८॥

(नारि) हे नारी! अर्थात् पत्नी (अमृतेन संभृताम्) अमृत से सम्यक् भरी हुई (घृतस्य धाराम्) घृत की धारा को [प्राप्त करके], (एतम्, कुम्भम्) इस कुम्भ को (पूर्णं प्रभर) पूर्णरूप में प्रकृष्टतया भर दे (इमाम् =

१. वंश = बांस, "वने शेते" इति।
२. शाला में निवास करने से अपने शरीर तथा सन्तानों और सम्पत्ति की रक्षा हो जाती है। शत्रु उसका विनाश नहीं कर पाते। अतः शाला को शत्रुओं से वर्जित करनेवाली कहा है।

इमान्) इन (पातॄन्) [घृत को] पीनेवालों को (समङ्ग्धि) सम्यक्-प्रदीप्त कर दे। (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और आपूर्तकर्म (एनाम्) इस शाला की (रक्षाति) रक्षा करें।

[अमृतेन संभृताम्=न मरने अर्थात् दीर्घजीवन से सम्यक्-भरी हुई। घृतपान द्वारा श्रीरहित-शरीर श्रीयुक्त हो जाता है। यथा "अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्" (अथर्व० ४।२१।६)। यह उद्धरण गौओं के सम्बन्ध में है, गौ के दूध, घृत आदि के सम्बन्ध में है। सु प्रतीकम्[1]=सुमुखम्, शोभन-मुखम्। इमाम्=इमान्। इष्टापूर्तम्=यज्ञ तथा आपूर्त अर्थात् रतिकर्म, यथा कूपनिर्माण, तालाब निर्माण, धर्मशाला निर्माण, अनाथसेवा आदि। इन कर्मों द्वारा शाला की रक्षा होती है। समङ्ग्धि=सम्+अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। सुप्रतीकम्=शोभनावयवम् (सायण), (अथर्व० ४।२१।६)।]

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥९॥

(अयक्ष्माः) यक्ष्मरहित, (यक्ष्मनाशनीः) और यक्ष्म के नाशक (इमाः आपः) ये जल हैं, (इमाः) इन्हें (प्र भरामि) प्रकर्षरूप में शाला में मैं लाता हूँ। (गृहान्) घरों को (उप=उपेत्य) प्राप्त कर, (अमृतेन अग्निना सह) शीघ्र न मरने देनेवाली यज्ञियाग्नि के साथ, (प्र सीदामि) मैं प्रसन्न होता हूं, या स्थित होता हूँ। शाला के लिए देखो (अथर्व० ६।३।१-३१)।

सूक्त १३

(१-७)। भृगुः। वरुणः तथा सिन्धुः। अनुष्टुभः १ निचृत्; ५ विराड् जगती; ६ निचृत् त्रिष्टुभ्।

यददः संप्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥१॥

(अहौ) मेघ के (हते) हनन हो जाने पर (यत्) जो (अदः) उस प्रदेश में (सं प्रयतीः) मिलकर प्रयाण करती हुई "आपः" ने (अनदत) नाद किया, (तस्मात्) उससे (आ) आभिमुख्य रूप में (नद्यः नाम स्थ) नदीनामवाली तुम हो, (वः) [हे आपः!] तुम्हारे (ता=तानि नामानि) वे नाम हैं, (सिन्धवः) अर्थात् सिन्धु।

१. प्रतीकम्=Face (आप्टे)।

[अहौ=मेघे, "अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च" (निरुक्त २।५।१६), तथा "अहिः अयनात् एति अन्तरिक्षे" (निरुक्त २।५।१७)। मन्त्र में दो नामों के निर्वचन दिये हैं, नद्यः का निर्वचन नदन द्वारा और सिन्धवः का निर्वचन स्यन्दन द्वारा।]

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन ॥२॥

(यत्) जो (वरुणेन) वरुण देवता या आकाश का आवरण करनेवाले मेघ द्वारा (प्रेषिताः) प्रेरित हुए या भेजे गए हे आपः! (शीभम्) शीघ्र (समवल्गत) मिलकर तुम गति करते हो, (तत्) तो (वः) तुम्हें (यतीः) चलती हुई को (इन्द्रः) आदित्य (आप्नोत्) प्राप्त करता है, (तस्मात्) उस कारण से (आपः) हे जलो! (अनु) तत्पश्चात् (आपः स्तन) "आपः" तुम हो।

[वरुण है अपांपतिः (अथर्व० ५।२४।४) अथवा "वरुणः" आकाश का आवरण करनेवाला मेघशीभम् क्षिप्रनाम (निघं० २।१५)। अवल्गत =वल्गु गत्यर्थः (भ्वादिः)। वर्षा के पश्चात् आपः जब मिलकर गति करते हैं, प्रवाहित होते हैं, तदनन्तर आदित्य निज रश्मियों द्वारा इन्हें प्राप्त करता है, मेघरूप में परिणत करता है। "आपन" क्रिया के कारण "आपः" नाम हुआ है। मन्त्र में "आपः" का निर्वचन हुआ है।]

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३॥

(अपकामम्) बिना कामना (स्यन्दमानाः) प्रवाहित होती हुई (वः) तुम्हें (हि) यतः (इन्द्रः) आदित्य ने (अवीवरत) "वर" बनकर वरण कर लिया (शक्तिभिः) निज शक्तियों द्वारा। (देवीः) हे आपः देवियो! (तस्मात्) वस वरण के कारण (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वाः) वा अर्थात् वारि [जल] (हितम्) रखा गया है, अथवा हितकर हुआ है।

[अभिप्राय यह कि "आपः" हैं तो देवीः, अर्थात् दिव्य गुणोंवाली, परन्तु बिना कामना के इधर-उधर चलती-फिरती रहती हैं। इनके दिव्य-गुणों को देखकर, इन्द्र अर्थात् आदित्य ने निज पत्नीरूप में इनका वरण कर लिया है, और आदित्य की शक्तियों द्वारा प्रभावित होकर "आपः" ने पत्नी बनना स्वीकार कर लिया है। इसलिए आपः का नाम "वाः" हुआ है, आदित्य द्वारा वरण कर लेने के कारण। वाः=वृञ् वरणे। प्ररोचनार्थ कथा द्वारा वर-वधू के परस्पर चुनाव का वर्णन हुआ है। "अवीवरत

तथा वा:" दोनों में वृञ् वरणे का प्रयोग हुआ है। हि=हेत्वपदेशे (निरुक्त (१।२।५)। कम्=पदपूरणार्थः (निरुक्त १।३।९)।]

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥४॥

(यथावशम्) यथेच्छापूर्वक (स्यन्दमानाः) स्रवण करते हुए (वः) तुम पर [हे आपः] हे जलो! (एकः देवः) एक देव आदित्य (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठित हुआ है, अतः (महीः) महती तुम (उदानिषुः) ऊपर आकाश की ओर उत्प्राणित हुई हो, (तस्मात्) उससे (उदकम् उच्यते) तुम्हें उदक कहा जाता है।

["उदानिषुः" द्वारा उदक का निर्वचन अभिप्रेत है। उदानिषुः= उद्+आ+अन् (प्राणने)। लुङि रूपम्।]

विशेष वक्तव्य (अथवा)

आपः और उदकम् एक ही तत्त्व है। उदानिषुः (मन्त्र ४) द्वारा आपः को ऊर्ध्व की ओर प्राणित अर्थात् उच्छ्वसित कहा है। (उद्+आ+अन् प्राणने), उदकम् का भी अभिप्राय है ऊर्ध्व की ओर गतिवाला (उद्+अकम् अकि गतौ) सम्भवतः इन दोनों पदों में, जोकि समानाभिप्रायक हैं, अभेद मानकर कहा है "उदानिषुः महीरिति तस्मादुदकमुच्यते, उच्यते= निरुच्यते।

दशपाद्युणादिवृत्ति में उदकम् का निर्वचन हुआ है "उद्+अञ्चु (गतौ)। "उदानिषुः और उदाकम्" में "उद्" समान है; "अन् और अञ्च्" परस्पर में विकृत स्वरूप प्रतीत होते हैं। अञ्च् का चकार उदकम् के ककार में परिणत हुआ है। चकार और ककार परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं, यथा "चक्रे, चक्रिरे" में, "ककार" परिवर्तित हुआ है चकार में। "उदानिषुः" द्वारा "उदकम्" का निर्वचन सन्तोषप्रद[1] नहीं। सायण ने कहा है कि "उत्पूर्वाद् अनितेरौणादिकः कप्रत्ययो नकारलोपश्च।]

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

१. उदकम् का निर्वचन उद्+अकि गतौ ठीक प्रतीत होता है। उद् अर्थात् ऊर्ध्वलोक अन्तरिक्ष की ओर आपः का गमन होता रहता है; कुछ तो वाष्पीभवन द्वारा, तथा आदित्य की रश्मियों द्वारा भी मेघ तथा कोहरे के रूप में।

(आपः) जल (भद्राः) कल्याणकारी तथा सुखदायी हैं, (आपः) जल (घृतम् इत् आसन्) घृत ही हैं। (आपः)जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम रूप (आसन्) थे, (ताः आपः इत्) वे आपः ही (बिभ्रति) इन दो अग्नि और सोम का धारण करते हैं। (मधुपृचाम्) मधुसम्पृक्त आपः का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) पर्याप्तरूप में प्राप्त होता हुआ, (प्राणेन वर्चसा सह) प्राण और वर्चस् के साथ (मा) मुझे (आ गमेत्) प्राप्त हो।

[आपः घृतम्=गौएँ जल पीती हैं तो उनका दूध भी आपः प्रधान होता है, जिसमें कि घृत प्रच्छन्नरूप में विद्यमान होता है—सम्भवतः यह अभिप्राय हो। अग्नीषोमौ बिभ्रति=आपः में अग्नि और सोम हैं। मेघों में विद्युत् चमकती है, जोकि अग्निरूप है, इसके प्रपात से वृक्ष आदि भस्मीभूत हो जाते हैं। परन्तु मेघ जब बरसता है तो उसका वर्षा-जल शीत होता है, सौम्यरूप होता है, यह आपः में सोम की सत्ता है। मधुपृचाम्=मधुरदुग्ध से सम्पृक्त गौओं का तीव्ररस है दुग्ध। इसके पर्याप्त पान करने से प्राणशक्ति बढ़ती और वर्चस् अर्थात् मुख और शरीर में दीप्ति प्राप्त होती है। यथा "यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्" (अथर्व० ४।२१।६)। "आपः घृतम्" में, कारण में कार्य का उपचार है। आपः है कारण और घृतम् है कार्य।]

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥६॥

(आत् इत्) तदनन्तर (पश्यामि) मैं देखता हूँ, (उत वा) तथा (शृणोमि) सुनता हूँ, (मा) मुझे (घोषः) शब्द (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (मा वाक्) तथा मुझे वाणी (आ गच्छति) प्राप्त होती है (आसाम्) इन आपः के [रसागमन से, मन्त्र ५]। (तर्हि) तब (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मैं अपने को मानता हूँ, जबकि (हिरण्यवर्णाः) हितरमणीयवर्ण वाले हे आपः! (वः) तुम्हारे सेवन से (अतृपम्) मैं तृप्त हो जाता हूँ।

[आत् इत्=मन्त्र ५ के अनुसार "तीव्र रस" के सेवन के पश्चात् श्रवण आदि में शक्ति संचार हो जाने पर। भेजानः=भज सेवायाम् (भ्वादिः)।]

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥७॥

(आपः) हे आपः ! (इदम्) उदक (वः) तुम्हारा (हृदयम्) हृदय[1] है, (अयम् वत्सः) [उदक] यह तुम्हारा वत्स है (ऋतावरीः) हे उदकवाली नदियो ! । (इह) इस स्थान में (शक्वरीः) हे शक्तिशाली आपः ! (इत्थम्) इस प्रकार तुम (एत) आओ, (यत्र) जिस स्थान में (वः) तुम्हारे (इदम्) उदक को (वेशयामि) मैं प्रविष्ट करता हूँ ।

["इदम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। यह उदक "ऋतावरीः" ऋत अर्थात् जलवाली नदियों का हृदयरूप है। हृदय में रक्तरूपी उदक होता है, तुम में भी ऋत अर्थात् उदक विद्यमान है, "ऋतम् उदकनाम" (निघं० १।१२) इस उदक के कारण नदियों को ऋतावरीः कहा है। "ऋतावर्यः नदीनाम" (निघं० १।१३)। उदक नदियों से उत्पन्न होते हैं, अतः उदक नदियों के वत्स हैं। आपः हैं शक्वरीः, शक्तिशाली। इन द्वारा कृषि होती है तथा अन्य कार्य भी सम्पन्न होते हैं। वेशयामि द्वारा कुल्या का वर्णन हुआ है। कुल्या[2] है धारा, नहर।]

सूक्त १४

(१-६)। ब्रह्मा। नानादेवताः गोष्ठः। अनुष्टुप्;
६ आर्षी त्रिष्टुप्।

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥१॥

[हे गौओ !] (वः) तुम्हारा (सुषदा गोष्ठेन) सुखपूर्वक बैठनेवाली गोशाला के साथ, (सम् सृजामसि) संसर्ग हम करते हैं, (रय्या सम्) आहार आदिरूप धन के साथ संसर्ग करते हैं, (सुभूत्या सम्) समृद्धि के साथ संसर्ग करते हैं। (अहर्जातस्य) प्रतिदिन पैदा अर्थात् प्रकट हुए सूर्यसम्बन्धी (यत्) जो (नाम) उदक है, (तेन) उसके साथ (वः) तुम्हारा (सं सृजामसि) हम संसर्ग करते हैं।

["नाम उदकनाम" (निघं० १।१२)। अभिप्राय यह कि प्रतिदिन ताजे उदक के साथ तुम्हारा संसर्ग करते हैं, तुम्हारे पीने के लिये। यथा "शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः" (अथर्व० ४।२१।७)।]

१. जिस स्थान में कि उदक का प्रवेश हुआ है उसे हृदय कहा है, उदकपूर्ण स्थान हृदय-सदृश है।

२. कौ पृथिव्यां लीयते। जोकि पृथिवी में ही लीन हो जाती है, समुद्र तक नहीं पहुँचती।

सं वः॑ सृजत्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑ ।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥२॥

[हे गौओ !] (वः) तुम्हारा (सं सृजतु) संसर्ग करे [शुद्ध उदक आदि के साथ, मन्त्र १] (अर्यमा) राष्ट्र का न्यायाधीश (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे (पूषा) राष्ट्र के पोषण का अधिकारी, (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे (बृहस्पतिः) बृहती-वेदवाणी का अर्थात् धर्म शिक्षा का अधिकारी। (यः) जो (धनंजयः) धनाधिपति (इन्द्रः) सम्राट् है वह (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे [शुद्ध उदक आदि के साथ, मन्त्र १], (मयि) ताकि मुझ [प्रत्येक राष्ट्र-वासी] में, (पुष्यत) हे गाओ ! परिपुष्ट करो (यद्) जो कि (वसु) क्षीर-घृतादि तुम्हारी सम्पत्ति है।

[जैसे राष्ट्र की मनुष्यप्रजा के खाद्य-पेय तथा सुरक्षा के लिये नियम होते हैं, वैसे राष्ट्र के अधिकारी, गौ आदि पशु प्रजा के लिये भी नियम बनाएँ—यह अभिप्राय है।]

संज॒ग्माना॒ अबि॑भ्युषीर॒स्मिन् गो॒ष्ठे क॑री॒षिणीः॑ ।
बिभ्र॑तीः सो॒म्यं मध्व॑नमी॒वा उ॒पेत॑न ॥३॥

[हे गौओ !] (संजग्मानाः) मिलकर गमन करती हुईं, (अबिभ्युषीः) चोर और व्याघ्र आदि के भय से रहित हुईं, (करीषिणीः) खाद के लिये गोबर देती हुईं (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में रहो। तथा (सोम्यम्) सोमसदृश गुणकारी (मधु) मधुर दुग्ध का (बिभ्रतीः) धारण करती हुईं, (अनमीवाः) तथा रोगरहित हुईं, (उपेतन) हमारे समीप आओ।

इ॒हैव गा॑व॒ एत॑ने॒हो शके॑व पुष्यत ।
इ॒हैवोत प्र जा॑यध्वं॒ मयि॑ सं॒ज्ञान॑मस्तु वः ॥४॥

(गावः) हे गौओ ! (इह एव) इस गोशाला में ही (एतन) आओ, (इह उ) इस गोशाला में ही (पुष्यत) परिपुष्ट होओ, परिपुष्टान्न का ग्रहण करो, (शका इव) शक्तिशाली हस्तिनी[1] के सदृश परिपुष्ट होओ। (इह एव) इस गोशाला में ही (प्रजायध्वम्) सन्तानें पैदा करो। (मयि) मुझ गोशालाधिपति में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) ऐकमत्य या संप्रीति (अस्तु) हो।

१. गौएँ भी महाकाया होती हैं, और हस्तिनी भी महाकाया होती है। गौ और हस्तिनी दोनों पद स्त्रीलिङ्गी हैं। इस प्रकार दोनों में साम्य है। हस्तिनी शका है, शक्ति-शालिनी है। मक्षिका शक्तिशाली नहीं।

[ग्वाले के साथ गौएँ संचरणार्थ बाहर जाती हैं, उनके प्रति कहा है कि लौटकर तुम अपनी गोशाला में ही वापिस आओ, भ्रमवश अन्य किसी स्थान में न चली जाओ। सायणाचार्य ने "शका" का अर्थ किया है "मक्षिका", अर्थात् जैसे मक्षिकाएँ प्रभूत संख्या में पैदा हो जाती हैं, वैसे हे गौओ! तुम भी प्रभूत सन्तानों को पैदा करो।]

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥५॥

[हे गौओ!] (गोष्ठः) गोशाला (वः) तुम्हारे लिये (शिवः) सुखकारी (भवतु) हो, (शारिशाकेव[1]) मैना और [शाका] शुक अर्थात् तोते के सदृश (पुष्यत) गोशाला में परिपुष्ट होओ। (उत) तथा (इह एव) इस गोशाला में ही (प्रजायध्वम्) तुम सन्तानें उत्पन्न करो, (वः) तुम्हारा (मया) मेरे अर्थात् अपने साथ (सं सृजामसि) मैं संसर्ग करता हूँ। [मन्त्र ४ में शका पाठ है, शाका पाठ नहीं।]

[शारिः=A bird called sarika (आप्टे)। शारि अर्थात् सारिका स्त्रीलिंगी पद है, अतः सम्भवतः मैना-पक्षिणी है। शाका=शुकः, तोता ?। इस सम्बन्ध में कहा है कि "आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः", सारिका पंजरस्था (आप्टे) अर्थात् अपने मुखदोष के कारण शुक और सारिका बाँधे जाते हैं। सारिका है पिञ्जरे में स्थित। मुखदोष है मनुष्य के सदृश बोलना। शुक और शारि [सारिका] दोनों मनुष्य के सदृश बोल सकते हैं। सृजामसि=सृजामि। मैना और शुक का परिपोषण गृहस्थी प्रायः प्रेम से करते हैं, इसी प्रकार गौओं का परिपोषण भी प्रेमपूर्वक करना चाहिए,—यह सूचित किया है।]

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥६॥

(गावः) हे गौओ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति के साथ (सचध्वम्) तुम सम्बद्ध रहो, (इह) इस स्थान में (वः गोष्ठः) तुम्हारी गोशाला है,

१. शारिशाकेव=शारि है शकुनिः, अर्थात् पक्षिणी (दशपाद्युणादिवृत्तिः १।५६)। तथा शारिः पक्षी (उणा० ४।१२६, दयानन्द)। शारि के सहयोग द्वारा शाका भी पक्षिणी प्रतीत होती है, सम्भवतः मैना। "शुकशारिकम्" भी पाठ है (उणा० ४।१२६, दयानन्द)। इस द्वन्द्व समास द्वारा शाका पद शुक अर्थात् तोता या तोती अर्थ सूचित करता है।

(अयम्) यह गोष्ठ अर्थात् गोशाला (वः) तुम्हारी (पोषयिष्णुः) पोषिका है। (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि द्वारा (बहुला भवन्तीः) बहुत होती हुई, (जीवन्तीः) तथा चिरकाल तक जीवित रहती हुई (वः) तुम्हारे (उप) समीप (जीवाः) जीवित हम (सदेम) स्थित रहें।

[रायस्पोषेण=धन की पुष्टि है, धन की समृद्धि। गौओं के घृतादि के विक्रय द्वारा धन का आधिक्य हो जाता है और धनाधिक्य से गौओं को खरीद कर गौओं का बाहुल्य हो जाता है। जीवाः मनुष्यों का जीवन, गौओं के दुग्ध, दधि तथा घृत के सेवन से बढ़ता है और वे दीर्घायु हो जाते हैं। दुग्धादि शरीर की परिपुष्टि करते हैं। गौओं का दुग्धादि सात्त्विक होता है, सत्त्व के बढ़ने से आयु दीर्घ हो जाती है।]

सूक्त १५

(१-८)। अथर्वा (पण्यकर्मा)। विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी। त्रिष्टुभ्;
१ भुरिज्; ४ व्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा विराडत्यष्टिः;
५ विराड्जगती; ७ अनुष्टुभ्; ८ निचृत्।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

(अहम्) मैं [राष्ट्रपति राजा] (वणिजम्) वाणिज्य अर्थात् व्यापार के कर्त्ता (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली को (चोदयामि) प्रेरित करता हूँ, (सः) वह (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो,(नः) हमारा(पुरः एता) अग्रगामी, अग्रणी(अस्तु) हो। (अरातिम्) अदाता को, (परिपन्थिनम्) मत्प्रदर्शित पथ के विरोधी को (मृगम्) मृग सदृश कृषिविनाशक को (नुदन्) धकेलता हुआ, (सः) वह (ईशानः) धनेश्वर इन्द्र (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धनदाता (अस्तु) हो।

[राजा, व्यापारज्ञ वणिक् को, व्यापाराध्यक्ष नियत करता है। उसे कहता है कि मैंने व्यापार की जो नीति निर्धारित की है, उसके विरोधी को तू धकेल दे और वन्यमृगों को भी धकेल दे, जो कि समीपस्थ ग्रामीण-कृषि का विनाश करते हैं। मन्त्र आधिभौतिक अर्थ को परिपुष्ट करता है 'इन्द्र' को वणिक् कहकर।]

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥२॥

(द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य में अर्थात्

अन्तरिक्ष के वायुमण्डल में, (देवयानाः) व्यवहारियों के (ये पन्थानः) जो मार्ग (संचरन्ति) संचरित होते हैं, (ते) वे मार्ग, (पयसा घृतेन) दुग्ध और घृत द्वारा (मा जुषन्ताम्) मेरी सेवा करें, (यथा) जिस प्रकार कि (क्रीत्वा) खरीद कर (धनम् आहरामि) धन को मैं प्राप्त करूँ।

[देवयानाः=दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवाः वणिजः। ते यत्र यान्ति ते देवयानाः (सायण)। तथा देवाः=दिवु क्रीड़ा विजिगीषा "व्यवहार" आदि (दिवादिः)। संचरन्ति=वे मार्ग जिनमें प्रायः वायुयानों द्वारा संचार होता है। ये मार्ग वायुयानों के आने-जाने के लिये निश्चित किये जाते हैं। दुग्ध-घृत आदि के विक्रय से प्राप्त धन द्वारा देश-देशान्तरों से वस्तुओं का क्रय करके धन के आहरण का कथन हुआ है। क्रीत वस्तुएँ लाकर निजदेश में इनके विक्रय से धन की प्राप्ति होती है।]

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥३॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (तरसे बलाय) राष्ट्र के [दुःखों से] सन्तरण के लिये और शारीरिक बल की प्राप्ति के लिये, (इध्मेन) इध्म द्वारा, (घृतेन हव्यम्) घृतसम्पृक्त हवि को (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ (यावत् ईशे) जितनी कि मुझमें शक्ति है; (ब्रह्मणा वन्दमानः) वेद द्वारा परमेश्वर की स्तुति करता हुआ। तो (इमाम् देवीम् धियम्) मेरी इस दिव्य बुद्धि अर्थात् संकल्प को (शतसेयाय) शत-प्रति-शत दान कर देने के लिये [स्वीकृत कर।]

[जो व्यक्ति राष्ट्र को दुःखों तथा कष्टों से तैराने के लिये, तथा प्रजाजन के शारीरिक बल की वृद्धि के लिये, यावत्-शक्य निज सम्पत्ति लगा देना चाहता है, वह चाहता है कि अवशिष्ट का भी वह प्रजार्थ प्रदान कर दे तथा अवशिष्ट और आहुत सम्पत्ति पर "कर" न लगाया जाय—ऐसी प्रार्थना अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री से करता है। शतसेयाय=शत+षणु दाने (स्वादिः)। तरसे=तॄ प्लवनसंतरणयोः (भ्वादिः)।]

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (यम् अध्वानम्) जिस मार्ग पर (दूरम्) दूर तक (अगाम) हम चले गये हैं, (नः) हमारी (इमाम् शरणिम्) इस आज्ञा भंग का (मीमृषः) तू सहन कर। (प्रपणः) व्यापारिक वस्तुओं का खरीदना अर्थात् क्रय करना, (विक्रयः च) और उसका बेचना (नः) हमारे लिये (शुनम् अस्तु) सुखरूप हो तथा (प्रतिपणः) प्रत्येक वस्तु का बेचना (मा) मुझ प्रत्येक को (फलिनम् कृणोतु) फल लाभ करने वाला करे। (संविदानौ) तुम दोनों एकमत हुए (इदम् हव्यम्) इस हविः का सेवन करो। (चरितम्) खरीद में तथा विक्रय में संचरित अर्थात् लगाया गया धन, (च) और (उत्थितम्) उससे उठा अर्थात् प्राप्त हुआ लाभ, (नः) हम प्रत्येक प्रजाजन को (शुनम् अस्तु) सुखरूप हो।

[(मीमृषः) प्रधानमन्त्री ने व्यापारार्थ जिन देशों में जाने का निर्देश दिया था, क्रय के लिये उन देशों के दूर के देशों में भी चले जाना आज्ञा-भंग है, इसे सहन करने की प्रार्थना व्यापारियों ने की है। हव्य है विक्रय-प्राप्त धनलाभ [उत्थितम्], इसका सेवन व्यापारी तथा राष्ट्र को ऐकमत्य होकर करना चाहिए। "हव्य" को यज्ञिय-हव्य जानना चाहिए, अतः इसके बाँटने में व्यापारी और प्रधानमन्त्री में वैमत्य न होना चाहिए, अपितु धर्म-भावना से इसका विभाग करना चाहिए। यह विभाग राष्ट्र की सम्पत्ति है, व्यक्तिरूप प्रधानमन्त्री की नहीं। मीमृषः=मृष तितिक्षायाम् (दिवादिः; चुरादिः), तितिक्षा है सहन करना। शुनम् सुखनाम (निघं० ३।६)।]

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥५॥

(देवाः) हे व्यवहार अर्थात् व्यापार के दिव्य अध्यक्षो! (धनम्, इच्छमानः) धन चाहता हुआ, (येन धनेन) जिस मूल धन के द्वारा (प्रपणम् चरामि) मैं व्यापारिक वस्तुओं का क्रय करता हूँ, (तत् मे) वह मेरा मूल-धन (भूयः, भवतु) बढ़ता रहे, (कनीयः मा) कम न हो, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (सातघ्नः) लाभ का हनन करनेवाले (देवान्) अन्य विजिगीषु व्यापारियों को (हविषा) हव्यांश द्वारा (निषेध) बाधा डालने से निवारित कर।

[सातघ्नः=सातं लाभं घ्नन्तीति सातघ्नः (सायण)। देवान्=दिवु क्रीड़ा विजिगीषा (दिवादिः), अर्थात् प्रतिस्पर्धा में व्यापार में निजविजय चाहनेवाले व्यापारी। इन्हें हमारे व्यापारों से प्राप्त धन का हिस्सा देकर सन्तुष्ट कर प्रतिस्पर्धा से निवारित कर, यह प्रधानमन्त्री को कहा गया है।]

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

(येन धनेन इच्छमानः) पूर्ववत् (मन्त्र ५)। (तस्मिन्) उस व्यापार में (मे रुचिम्) मुझ व्यापारी की रुचि को (इन्द्रः आ दधातु) सम्राट् स्थापित करे, (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति, अर्थात् राजा, (सविता) प्रसवों तथा राष्ट्र के ऐश्वर्य का अध्यक्ष [Finance minister], (सोमः) जलाध्यक्ष, (अग्निः) तथा अग्रणी प्रधानमन्त्री।

[इन्द्रः= वाणिज्य का अधिकारी (मन्त्र १), अथवा साम्राज्य का सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिः), यह दो विभागों का अधिकारी, अर्थात् मन्त्री है। सोमः=water (आप्टे)। छोटे व्यापारियों की व्यापार में तभी रुचि हो सकती है जबकि कथित अधिकारी, इन्हें बड़े व्यापारियों द्वारा की गई प्रतिस्पर्धा से सुरक्षित कर दें। जलाध्यक्ष का कथन हुआ है कृषि द्वारा किये जानेवाले व्यापार में।]

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥७॥

(वैश्वानर) हे सब नर-नारियों के हितकारी, (होतः)[1] तथा सबके दाता परमेश्वर! (वयम्) हम (नमसा) नमस्कारपूर्वक (त्वा उप) तेरे समीप हुए (स्तुमः) तेरी स्तुति करते हैं। (सः) वह तू (नः) हमारी (प्रजासु) पुत्रादि प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारी आत्माओं में, (गोषु) हमारी इन्द्रियों में, (प्राणेषु) हमारे प्राणों में (जागृहि) जागरित रह।

[राष्ट्र का प्रत्येक प्रजाजन परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि तू हमारी प्रजा आदि की रक्षा के लिये, उनमें व्याप्त हुआ, सदा जागरित रहे, हम सब नमस्कारों द्वारा तेरी स्तुति करते हैं। वैश्वानर=विश्वनरहित (सायण)। वैदिक धर्मानुसार राष्ट्र का प्रत्येक जन परमेश्वर की उपासना तथा स्तुति किया करे, इसका विधान मन्त्र में हुआ है। वैदिक राष्ट्र secular अर्थात् धर्मनिरपेक्ष नहीं, अपितु धर्मभावनाओंवाला है।]

वि॒श्वाहा॑ ते स॒द॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥८॥

(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान [हे अग्नि!] (विश्वाहा) सब दिन (सदम् इत्) सदा ही (ते) तेरे लिये (भरेम) हम आहुतियाँ प्रदान

१. हु दानादनयोः (जुहोत्यादिः)।

करें, (तिष्ठते) अश्वशाला में स्थित (अश्वाय) अश्व के लिये (इव) जैसे [घास-चारा दिया जाता है] (रायस्पोषेण) धन की परिपुष्टि द्वारा, (इषा) तथा अन्न द्वारा (सम् मदन्तः) हृष्ट तथा प्रसन्न होते हुए, (अग्ने) हे यज्ञिय-अग्नि! (ते प्रतिवेशाः) तेरे समीपस्थ रहनेवाले हम (मा रिषाम[1]) न हिंसित हों।

तृतीय अनुवाक समाप्त

१. रुष रिष हिंसायाम् (भ्वादिः; दिवादिः)। यज्ञियाग्नि में प्रति दिन रोगनाशक ओषधियों की आहुतियों से रोगनिवारण होकर प्रजा का स्वास्थ्यसंवर्धन होता है। अतः यह भी राष्ट्रिय धर्म है (अथर्व० १।३१।१-३)।

अनुवाक ४

सूक्त १६

(१-७)। अथर्वा। प्रातः सूक्तम्। बृहस्पतिः तथा बहुदेवताः। त्रिष्टुप्; १ आर्षी जगती; ४ भुरिक् पंक्तिः।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥१॥

(प्रातः) प्रातःकाल [की उपासना में] (अग्निम्) पापदाहक परमेश्वर का, (प्रातः इन्द्रम्) प्रातःकाल परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातः-काल (मित्रावरुणा) सर्वस्नेही अतः वरण करने योग्य परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विनौ) प्राणायाम द्वारा प्राणापान अर्थात् श्वास-प्रश्वास का (प्रातः) प्रातःकाल (भगम्) भगों से सम्पन्न भजनीय परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (पूषणम्) पोषक परमेश्वर का, तथा (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्ड तथा वेद के पति परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) सौम्य स्वभाव-वाले परमेश्वर का, (उत) तथा (रुद्रम्) हमारे कर्मानुसार रौद्र फलप्रद स्वभाववाले परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं।

[मन्त्रोक्त नाम परमेश्वर के हैं और परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुण कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। अग्नि सर्वदाहक है, परमेश्वर भी सब दुरितों का दाहक है। मित्रः=ञिमिदा स्नेहने (भ्वादिः); वरुणः व्रियते वाऽसौ वरुणः (उणा० ३।५३, दयानन्द) (अश्विनौ नासत्यौ, नासाप्रभवौ इति वा, (निरुक्त ६।३।१३; पद ५०, ५१)। सोमम्, रुद्रम्=परमेश्वर है तो सौम्य स्वभाववाला, परन्तु हमारे दुष्कर्मों का उग्रफल देने में वह रुद्ररूप है, रुलाता भी है, ताकि मनुष्य दुष्कर्मों से विरत हो जाय। इस प्रकार रौद्ररूप में भी वह सौम्य स्वभाववाला है। भगम्=समग्रैश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—ये ६ भग हैं, तथा भग=भजनीय, भज सेवायाम् (भ्वादिः)। आह्वान=ध्यान में, ध्याता के चित्त में उपस्थित होना, प्रकट होना, हवा-महे द्वारा परमेश्वर का आह्वान है।]

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

(प्रातर्जितम्) प्रातःकाल की उपासना में सर्वविजयी, (भगम्) ऐश्वर्यशाली तथा भजनीय, (उग्रम्) कर्मों के फल प्रदान में उग्र, (अदितेः पुत्रम्) वेदवाणी के पुत्र रूप परमेश्वर का (वयम् हवामहे) हम आह्वान करते हैं, (यः) जोकि (विधर्ता) विविध जगत् का धारण करता है, (आध्रः चित्) अतृप्त भी, (तुरः चित्) धन से प्रवृद्ध भी, (राजा चित्) राजा भी (मन्यमानः) परमेश्वर का मनन करता हुआ (यम् भगम्) जिस भजनीय के सम्बन्ध में (इति आह) यह कहता है कि (भक्षि) इसका भजन किया कर।

[अदितेः पुत्रम्=अदितिः वाङ्नाम (निघं० १।११), परमेश्वर अदिति अर्थात् वेदवाणी का पुत्र है, यतः वेदवाणी द्वारा वह प्रकट होता है। यथा "स वा ऋग्भ्यो जायत तस्मादृचो जायन्त" अथर्व० (१३।४(४)।३८)। अर्थात् वह परमेश्वर निश्चय से ऋचाओं से पैदा हुआ है, यतः उससे ऋचाएँ पैदा हुई हैं। ऋचाएँ पैदा हुईं निज उत्पादक को जताती हैं। ऋचाओं से पैदा होना, अदिति का पुत्र होना है। ऋचाएँ है वेदवाक् अर्थात् अदिति। आध्रः=आधारयितव्यो दरिद्रः (सायण)। तथा, न ध्रायति, "ध्रै तृप्तौ", न तृप्यति स अध्रः, नञो दीर्घश्छान्दसः, यद्वा आ समन्तात् ध्रः आध्रः। यद्वा अध्र एव आध्रः स्वार्थे तद्धितः। आध्रः अतृप्तः बुभुक्षितो दरिद्रः (महीधर)। तुरः="तु" वृद्धौ, क्विप् लोपः; (अदादिः)+रः (मत्वर्थीयः) यथा, मधुरः=मधु+रः (मत्वर्थीयः), मधुवाला।]

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

(भग) हे भजनीय! (प्रणेतः) हे प्रकृष्ट नेतः! (भग) हे भजनीय! (सत्यराधः) हे अनश्वर धनवाले! (भग) हे भजनीय (नः) हमें (ददत्) देता हुआ तू (इमाम् धियम्) हमारी इस बुद्धि को (उद् अव) उत्कृष्ट कर। (भग) हे भजनीय! (नः) हमें (गोभिः अश्वैः) गौओं और अश्वों के साथ-साथ (प्र जनय) प्रकृष्ट जननशक्ति प्रदान कर; (भग) हे भजनीय! (प्र नृभिः) प्रकृष्ट नर-नारियों द्वारा (नृवन्तः) नर-नारियोंवाले (स्याम) हम हों।

[भग=अथवा, हे भगवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न! तब ही "ददत्" और "राधः" पद सार्थक होते हैं। धनवान् ही तो दे सकता है, निर्धन नहीं। उद् अव=अव धातु नानार्थक है। उत्कृष्ट बुद्धिवाला ही धन प्रदान करता है। अतः दानबुद्धि की प्राप्ति के लिये भग से प्रार्थना की है।]

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥

(उत) तथा (इदानीम्) इस काल में (भगवन्तः) भगवाले (स्याम) हम हों, (उत) तथा (प्रपित्वे) [सूर्य के] पश्चिम में प्रपतनकाल में, (उत) तथा (अह्नाम् मध्ये) दिनों के मध्यकाल में, (उत) तथा (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदयकाल में (मघवन्) हे धनशाली परमेश्वर ! (वयम्) हम (देवानाम्) दाताओं की (सुमतौ स्याम) सुमति में हों, रहें ।

[देवानाम्=देवो दानाद् वा (निरुक्त ७।४।१५) । इदानीम्=अब अर्थात् जब भी कोई प्रत्याशी माँगने के लिये आ जाय । मन्त्र में "मघवन्" पद द्वारा भग के धनवान् स्वरूप का कथन किया है । देवों की सुमति है दान करने की, हम दानी भी इस सुमति में रहें, ऐसी प्रार्थना या इच्छा प्रकट की गई है ।]

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥५॥

(देवः) दाता (भग एव) भजनीय परमेश्वर ही (भगवान् अस्तु) ऐश्वर्यवान् हो, (तेन) उस द्वारा (वयम्) हम (भगवन्तः) ऐश्वर्यवाले (स्याम) हों । (भग) हे भजनीय ! (सर्वः) मैं सर्वरूप हुआ, (तम् त्वा इत्) उस तुझ का ही (जोहवीमि) पुनः-पुनः आह्वान करता हूँ, (भग) हे भजनीय ! (सः) वह तू (इह) इस दानकर्म में (नः) हमारा (पुरः एता) अग्रगन्ता, अगुआ (भव) हो ।

[भावना यह है कि परमेश्वर ही दाता है, सब प्राणियों को दान दे रहा है, उसी के दान द्वारा सब प्राणी जीवित होते हैं । अतः हे परमेश्वर ! तू ही सदा भगवान् अर्थात् ऐश्वर्यशाली हो, और तेरे दिये दान द्वारा ही हम भी ऐश्वर्यवान् हों । मनुष्यदाता की इच्छा पर है कि वह माँगनेवाले को धन दे या न दे । तू तो बिना माँगे सबको दे रहा है । अतः मैं भी सर्वरूप होकर, सबको अपना जानकर तेरा बार-बार आह्वान करता हूँ, ताकि मुझमें सर्वभावना सदा बनी रहे ।]

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥

(अध्वराय) हिंसारहित यज्ञ के लिए (उषसः) उषाएँ (सम् नमन्त) सन्नत होती हैं, प्रह्वीभूत होती हैं, झुकती हैं, (इव) जैसेकि (शुचये पदाय)

शुद्ध-पवित्र स्थान के लिए (दधिक्रावा) आदित्य झुकता है । उषाएँ (मे) मेरे लिए (वसुविदम्) वसुओं को प्राप्त करानेवाले (भगम्) भजनीय परमेश्वर को (अर्वाचीनम्) मेरी ओर (आ वहन्तु) प्राप्त कराएँ, (इव) जैसेकि (वाजिनः अश्वाः) वेगवाले अश्व (रथम्) रथ को (आ वहन्तु) हमारे अभिमुख प्राप्त कराते हैं ।

[अध्वराय=ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरुक्त १।३।८) । दधिक्रावा है आदित्य; "दधत् क्रामतीति वा" (निरुक्त २।७।२७), अर्थात् जो सौरलोक का "धारण" करता हुआ "पादविक्षेप" करता है; क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादिः) । आदित्य की रश्मियों का प्रसार है पादविक्षेप । शुचिपद है द्युलोक, आदित्य उदित हुआ द्युलोक में रश्मियों का विक्षेप करता है । निरुक्त में "दधिक्राः" पद की व्याख्या की है, और अथर्व में दधिक्रावा पद पठित है । दोनों का अर्थ समान है । अध्वर के लिये उषाःकाल तथा आदित्यकाल दोनों उपयुक्त हैं, रात्रीकाल में अध्वर या यज्ञ नहीं होते ।]

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(अश्वावतीः) अश्वोंवाली, (गोमतीः) गोओंवाली, (वीरवतीः) वीरपुत्रोंवाली (भद्राः) कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी (उषसः) उषाएँ (नः) हमारे लिए (सदम्) सदा (उच्छन्तु) चमकती रहें । (घृतम्) घृत मिश्रित दुग्ध को (दुहानाः) देती हुईं (विश्वतः) सब ओर (प्रपीताः) प्रकर्षेण आप्यायित हुईं (यूयम्) तुम हे उषाओ ! (स्वस्तिभिः) उत्तम स्थितियों द्वारा (नः) हमारी (सदा पात) सदा रक्षा करो ।

[अभिप्राय यह कि प्रति प्रातःकाल की उषाओं के चमकते समय हमारे अश्व आदि यथावस्थित रहें, जैसेकि उषाःकाल के पूर्व वे विद्यमान थे । उषाःकालों में हम गोदोहन कर घृतमिश्रित दुग्ध को प्राप्त करें । उषाएँ हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करती हैं ।]

सूक्त १७

(१-९) । विश्वामित्रः । सीता । अनुष्टुभ्; १ आर्षी गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभ्; ३ पथ्यापंक्तिः; ७ विराट् पुरोष्णिक्; ८ निचृत् ।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥१॥

(कवयः) बुद्धिमान् (सीराः) हलों को (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं,

और (पृथक्) पृथक्-पृथक् बैलों में (युगा=युगानि) जुआओं का (वि तन्वन्ति) विस्तार करते हैं। (धीराः) बुद्धिमान् (देवेषु) देवकार्यों के निमित्त (सुम्नयौ) सुख प्राप्त करानेवाले दो बैलों को [हल में] युक्त करते हैं।

[हलों को युक्त करना, बैलों के साथ। तथा प्रत्येक बैल पर जुआ लगाना। देवकार्य हैं यज्ञादि; तथा अतिथिदेव आदि का सत्कार। कृषि से उत्पन्न अन्न द्वारा इनका सत्कार भी देवकार्य है। कृषिकर्म बुद्धिमानों का काम है, जोकि वंशपरम्परा में जारी रहता है। नौकरी तो कुछ काल के लिए होती है, और कृषिकर्म एक स्थिर कार्य है। कवयः=कविः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। धीराः=धी+राः (मत्वर्थीयः)। सुम्नयौ[1]=सुम्नं सुखनाम (निघं० ३।६)+या प्रापणे। हल के साथ दो बैलों को जोतना चाहिये, भूमिकर्षण में एक बैल को जोतना उसके लिए कष्टदायक होता है।]

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२

[हे बुद्धिमानो !] (सीराः) हलों को (युनक्त) युगों के साथ संयुक्त करो, (युगा=युगानि) युगों को (वितनोत) बैलों के कन्धों पर विस्तारित करो। (कृते योनौ) तय्यार की गई (इह) इस भूमि में (बीजम्, आवपत) बीज बोओ। (विराजः) अन्न का (श्नुष्टिः) शीघ्र प्राप्त करानेवाला (सभराः) अन्न से भरा हुआ सिट्टा अर्थात् गुच्छा (नः) हमारा (असत्) हो, तथा (पक्वम्) पका अन्न (सृण्यः) दात्री के (नेदीयः) समीप (आ यवन्) प्राप्त हो।

[आयवन्=एयात् (यजुः० १२।६८), आ इयात्।]

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥

(लाङ्गलम्) हल (पवीरवत्) प्रशंसित फाल से युक्त, (सुशीमम्) सुन्दर-सुखदायक, तथा (सोमसत्सरु) जलवाली भूमि में सुगमता से सरण कर सकनेवाला हो। वह (उद् इत् वपतु) निश्चय से उद्वाप अर्थात् उत्पन्न करे (गाम्, अविम्) गौ और बकरी को, (प्रस्थावत्) प्रस्थान कर सकनेवाले (रथवाहनम्) रथ के वहन करने में समर्थ बैल को (च) और (प्रफर्व्यम्) फुरतीली (पीवरीम्) स्थूल, पुष्टाङ्गी गौ और अजा को[2]।

१. सुम्नयौ बलीवर्दौ (सायण), यातेः "आतो मनिन्" इति विच् (सायण)।
२. कीदृशीम् गामविं च, प्रफर्व्यम्, प्रकर्षेण फर्वति गच्छति, युवतित्वादतिवेगवतीम्, पीवरीम् पुष्टाङ्गीम् (महीधर, यजु० १२।७१)।

सुशीमम्=सु+शम् (सुखनाम निघं० ३।६)।

[सोमसत्सरु=पदपाठ में "सोमसत्ऽसरु" पाठ है, नकि "सोमसत्सरु"। अतः सोमसत् का अर्थ "जलवाली भूमि" किया है। अभिप्राय यह कि हल जैसेकि गीली भूमि में सुगमता से चल सकता है वैसे वह सूखी भूमि में भी सुगमता से चल सकनेवाला होना चाहिये, ताकि भूमि के कर्षण में बैलों को कष्ट न हो। अतः हल का फाल, मुख में लगा लोहखण्ड, अति तीक्ष्ण होना चाहिये। "कर्षणेन धान्यादिसमृद्धौ सत्याम् एतद् गवादिसमृद्धिर्भवति (सायण)। सोमः=water (आप्टे)। सुशीमम्[1]=कर्षकस्य सुखकरम् (सायण)।]

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥४॥

(इन्द्रः) सम्राट् (सीताम्) कृष्टभूमि में हल की लकीर का (निगृह्णातु) निग्रह करे, नियन्त्रण करे, (पूषा) पोषण का अधिकारी (ताम्) उस सीता की (अभि रक्षतु) सर्वतः रक्षा करे। (सा) वह कृष्टभूमि अर्थात् हल की पद्धतिवाली भूमि (उत्तराम्, उत्तराम्) उत्तरोत्तर (समाम्) वर्षों में (पयस्वती) दुग्ध तथा जलवाली हुई (नः) हमें (दुहाम्) दुग्धादि देती रहे।

[इन्द्रः अर्थात् सम्राट्, निज साम्राज्य में, नियम निर्माण करे कि जिसकी भूमि है, और जिसने उसमें बीजावाप किया है, उसपर अधिकार उसी का रहे। यह है "नि गृह्णातु"। पूषा है सीता से प्राप्त पुष्टान्न का अधिकारी, वह उस भूमि की रक्षा करता रहे। पयः के दो अर्थ हैं जल तथा दुग्ध। कृष्टभूमि में बीजावाप हो जाने पर उसके सींचने का भी अधिकारी पूषा है। वह जलप्रबन्ध कर अन्नवती भूमि में जलसेचन का भी प्रबन्ध करे। "उत्तराम् उत्तराम् समाम्" उत्तरोत्तर वर्षों में भी भूमि के पूर्व स्वामी का स्थायित्व बना रहना चाहिए।]

शुनं सुफला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

(सुफालाः) शोभन फालोंवाले हल (शुनम्) सुखपूर्वक (भूमिम्) भूमि को (वितुदन्तु) काटें, (कीनाशाः) किसान (शुनम्) सुखपूर्वक (वाहान्) बैलों के (अनु) पीछे-पीछे (यन्तु) चलें। (शुनासीरौ) वायु और आदित्य

१. सुशेवम्=(यजुः० १२।७१)। अथवा "शीभम् क्षिप्रनाम" (निघं० २।१५)। लाङ्गलम् सुशीभम् सुक्षिप्रकारी (भूमिकर्षणे)।

(हविषा) जल द्वारा (तोशमानौ) किसानों को सन्तुष्ट (कर्तम्) करें और (अस्मै) इसके लिये (ओषधीः) ओषधिरूप व्रीहि-यव आदि को (सुपिप्पलाः) उत्तम फलों से युक्त (कर्तम्) करें। "कर्तम्" का अन्वय दो बार हुआ है।

[हविषा=हविः उदकनाम (निघं० १।१२)। शुनासीरा=शुनो वायुः सीर आदित्यः (निरुक्त ९।४।४०; पदसंख्या ३४), मेघ वायु में भरे हुए, वर्षा करते हैं; आदित्य तीक्ष्ण रश्मियों द्वारा भूमिष्ठ उदक को वाष्पीभूत कर वायु में मेघ को स्थापित करता है। तुदन्तु=तुद व्यथने (तुदादिः) व्यथा है, काटना, भूमि को।]

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥६॥

(वाहाः) बैल (शुनम्) सुखी हों, (नरः) नर-नारियाँ (शुनम्) सुखी हों, (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुखकारी हुआ (कृषतु) भूमि का कर्षण करे। (वरत्राः) रस्सियाँ (शुनम्) सुखपूर्वक (बध्यन्ताम्) बैलों पर बाँधी जाएँ, (अष्ट्राम्) भयदायक कशा को (उदिङ्गय) तू ऊपर उठा, प्रेरित कर।

[हल द्वारा जब कृषि-भूमि में कर्षण हो जाय तब बैल आदि पशु और नर-नारियाँ सुखी हो जाती हैं, क्योंकि कर्षण द्वारा प्रभूत अन्न पैदा हो जायेगा। अष्ट्रा का अर्थ है कशा अर्थात् चाबुक, बैलों में त्रास पैदा करने के लिये। अष्ट्रा=अस गतिदीप्त्यादानेषु; अष इत्येके (भ्वादिः), अर्थात् "अष+त्रस्" (उद्वेगे, दिवादिः), त्रास पैदा करनेवाली, बैलों में भय पैदा करनेवाली कशा अर्थात् चाबुक। उदिङ्गय="उद्" ऊपर, इगि गतौ (भ्वादिः), उद्गत कर, ऊपर उठा।]

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥७॥

(इह स्म) हम इस कृष्ट क्षेत्र में विद्यमान हैं। (मे) मुझ प्रत्येक द्वारा दी गई आहुति का (जुषेथाम्) सेवन करो (शुनासीरा) हे वायु और आदित्य तुम दोनों। (दिवि) द्योतनशील अन्तरिक्ष में (यत्) जो (पयः) जल (चक्रथुः) तुम दोनों ने पैदा किया है, (तेन) उस द्वारा (इमाम्) इस कृष्टभूमि को (उप सिञ्चतम्) सींचो।

[ग्रामनिवासी कृष्टभूमि में उपस्थित होकर वर्षा निमित्त, आहुतियाँ देते हैं और प्रत्येक ग्रामवासी अपने-अपने हाथ से आहुतियाँ देता है। यह वर्षायज्ञ है।]

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥८॥

(सीते) हल द्वारा कृष्ट हे भूभाग! (त्वा वन्दामहे) तेरी हम स्तुति करते हैं, तेरे गुणों का कथन करते हैं, (सुभगे) हे उत्तम-ऐश्वर्य देनेवाली भूमि! (अर्वाची भव) हमारे अभिमुखी तू हो। (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमारे (सुमनाः) मनों को प्रसन्न करनेवाली (असः) तू हो, (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमें (सुफला) उत्तम फल देनेवाली (भुवः) तू हो।

[वन्दामहे=वदि अभिवादनस्तुत्योः (भ्वादिः), स्तुति अर्थ अभिप्रेत है। सीता अन्नोत्पादन द्वारा सब प्राणियों का पालन करती है—यह उसकी स्तुति है, गुणों का कथन है। अर्वाची का अभिप्राय है हमारे प्रति फलोन्मुखी होना। उत्तम-ऐश्वर्य है अन्न और तद्द्वारा प्राप्त अन्य पदार्थ। उत्तम फल है कृषिजन्य अन्न।]

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥

(मधुना घृतेन) मधुर जल द्वारा (सम् अक्ता) सम्यक् अभिव्यक्त हुई (सीता) कृष्टभूमि, (विश्वैः देवैः) सब देवों द्वारा, (मरुद्भिः) और मानसून वायुओं द्वारा (अनुमता) अनुकूलरूप में स्वीकृत हुई (सा) वह (सीते) हे कृष्टभूमि! (नः अभि) हमारे अभिमुख, (पयसा) दुग्ध के साथ (आववृत्स्व) तू आ, (ऊर्जस्वती) अन्नवाली तथा (घृतवत्) घृतवाले दुग्ध को (पिन्वमाना) सींचती हुई।

[घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। अक्ता=अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु (रुधादिः), व्यक्ति=अभिव्यक्ति। विश्वैः देवैः=वायु, आदित्य आदि देव। मरुद्भिः=मानसून वायुएँ, जोकि जल से भरपूर होती हैं (अथर्व० ४।२७।४, ५)। घृतवत्=कृष्टभूमि से अन्न पैदा हुआ और उस अन्न के खिलाने से गौओं से घृतमिश्रित दुग्ध प्राप्त हुआ। (पिन्वमाना=पिवि सेवने, "सेचने चेत्येके" (भ्वादिः)।]

सूक्त १८

भूमिका

सूक्त १८ में तीन अविवाहितों का वर्णन हुआ है; एक पुरुष, तथा दो कुमारियों का। दोनों कुमारियाँ पुरुष के साथ विवाहेच्छुका हैं। वेदानुसार एक पुरुष युगपत् दो पत्नियाँ नहीं रख सकता। इसलिये दो कुमारियों

में विवाह के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा हुई है। एक कुमारी आयुर्वेद की विदुषी है। वह ओषधि का खनन कर, उस द्वारा अविवाहित पुरुष को निजानुकल बनाकर अपना पति बनाना चाहती है (मन्त्र १)। यह गुणों में भी दूसरी कुमारी से उत्तरा है, उत्कृष्टा है और दूसरी कुमारी गुणों की दृष्टि से अधरा-कुमारियों से भी अधरा है, निकृष्टा है (मन्त्र ४)। मन्त्र ४ में सपत्नी का अर्थ है सम्भाव्यमाना सपत्नी, न कि वास्तविक सपत्नी। इसी प्रकार सूक्तवर्णित सपत्नी का अभिप्राय सम्भाव्यमाना पत्नी ही है। ऐसी ओषधियाँ हैं जिनके खिला देने से पुरुष के अस्थिर विचारों में स्थिरता पैदा हो जाय। सम्भवतः खनन द्वारा प्राप्त ओषधि में ऐसा गुण है, अतः आयुर्वेद-विदुषी कुमारी इसका प्रयोग कर पुरुष के विचारों को अपनी ओर बनाये रखने में यत्नशीला है। बायोकैमिक ओषधियों में भी ऐसी औषधियाँ हैं, जो कि पुरुष के अस्थिर विचारों को स्थिर कर सकती हैं। सायण ने इस सम्बन्ध में "पाठा-वीरुध" कही है। सूक्तवर्णित प्रतिस्पर्धा वास्तविक नहीं, अपितु काल्पनिक है। ऐसी स्थिति के उपस्थित हो जाने पर क्या किया जा सकता है—केवल यही दर्शाया है।

(१-६)। अथर्वा। वनस्पतिः। अनुष्टुभ्; ४ चतुष्पदा अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्; ६ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥१॥

(वीरुधां बलवत्तमाम्) विरोहणशील ओषधियों में अतिशय बलवाली (इमाम्) इस (ओषधिम्) ओषधि को (खनामि) खोदकर मैं निकालती हूँ, (यया) जिस द्वारा (सपत्नीम्) सपत्नी को [उत्तरा कुमारी, मन्त्र ४] (बाधते) हटाती है और (यया) जिस द्वारा वह (पतिम्) पति को (संविन्दते) सम्यक् विधि[1] से प्राप्त करती है।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥२॥

(उत्तानपर्णे) ऊपर की ओर फैले हुए पत्तोंवाली, (सुभगे) सौभाग्य प्रदान करनेवाली, (देवजूते) दिव्य प्राकृतिक जीवात्मा द्वारा प्रेरित हुई, (सहस्वति) पराभव करनेवाली हे ओषधि! (मे) मेरी (सपत्नीम्) सपत्नी

१. विवाह विधि से।

को (पराणुद) परे धकेल और (पतिम्) पति को (मे) मेरे लिये (केवलम्) केवल (कृधि) कर दे।

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥३॥

[हे सपत्नि!] पति (ते) तेरा (नाम) नाम भी (नहि जग्राह) नहीं लेता और (नो) न (अस्मिन् पतौ) इस पति में (रमसे) तू रमण करती है, अर्थात् इसे तू पसन्द भी नहीं। अतः (पराम् एव परावतम्) दूर से दूर (सपत्नीम्, गमयामसि) तुझ सपत्नी को हम भेज देते हैं।

[परावतः दूरनाम (निघं० ३।२६)।]

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥४॥

(उत्तरे) हे उत्कृष्ट ओषधि! तेरे कारण (अहम्) मैं (उत्तरा) उत्कृष्ट हो गई हूँ, (उत्तराभ्यः) उत्कृष्टा नारियों से (इत्) भी (उत्तरा) मैं उत्कृष्टा हूँ। (अधः)[1] तदनन्तर (या मम सपत्नी) जो मेरी सपत्नी है (सा) वह (अधराभ्यः) निकृष्टाओं से भी (अधरा) निकृष्टा है।

[पति प्राप्त करनेवाली कुमारी सर्वश्रेष्ठा है, गुणों में। अतः वह पति प्राप्त करने में योग्यता रखती है और सपत्नी गुणों में निकृष्टाओं से भी निकृष्टा है, अतः वह त्याज्या है।]

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥५॥

(अहम्) मैं विवाहेच्छु कुमारी (अस्मि) हूँ, (सहमाना) सपत्नी का पराभव करनेवाली, (अथो) तथा (त्वम्) हे ओषधि! तू (असि) है (सासहिः) अति पराभव करनेवाली; (उभे) हम दोनों (सहस्वती भूत्वा) पराभव करनेवाली होकर, (मे) मेरी (सपत्नीम्) सपत्नी को (सहावहै) हम दोनों पराभूत करें।

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥६॥

१. अधः—अध अनन्तरम् (सायण)। अथवा अधस्कृतः त्वमसि संभाव्यमानेन पत्या। अधस्कृता अपमानिता।

[हे भावी पति !] (ते अभि) तेरे अभिमुख अर्थात् संमुख, (सहमानाम्) पराभव करनेवाली ओषधि को (अधाम्) मैं भाविनी पत्नी ने रख दिया है, (सहीयसीम्) अतिशय से पराभव करनेवाली ओषधि को (उप) तेरे समीप (अधाम्) मैंने रख दिया है; (माम् अनु) मेरी अनुकूलता में (ते) तेरा (मनः) मन (प्र धावतु) शीघ्रता से दौड़कर आए, (इव) जैसेकि (गौः) अर्थात् दुग्धवती गौ (वत्सम्) निज वत्स की ओर (धावतु) दौड़कर आती है, (इव) जैसेकि (वाः) वारि अर्थात् जल (पथा) निम्न मार्ग द्वारा (धावतु) दौड़कर प्रवाहित होता है।

["अभि" अर्थात् संमुख रखना तथा "उप" अर्थात् समीप रखना, इन दो भावों में अन्तर है, भेद है। ओषधि भावी-पति के मन को, भाविनी-पत्नी की ओर आकृष्ट करती है और भावी-पति का मन मानो दौड़कर भाविनी-पत्नी की ओर झुक जाता है।]

तथा

ओषधि है सात्त्विक चित्तवृत्ति। यह ओषधि है, "ओषद्धयन्तीति वा" (निरुक्त ९।३।२७), अर्थात् जो दग्ध करती हुई राजसवृत्ति का पान करती है, उसे विनष्ट करती है। यह चित्तभूमि में दबी पड़ी है। पवित्र जीवात्मा चित्तभूमि से इसे खोद निकालता है। प्रतिस्पर्धी ये दो चित्तवृत्तियाँ हैं, अथवा मन की शिवसंकल्परूपी और अशिवसंकल्परूपी दो वृत्तियाँ हैं, जिनमें आपस में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। शिवसंकल्परूपी वृत्ति "उत्तरा" है, उत्कृष्टा है (मन्त्र ४) और अशिवसंकल्परूपी वृत्ति "अधरा" है, निकृष्टा है। पवित्र जीवात्मा मनोमयी "उत्तरा वृत्ति" को अपना लेता है और अधरा वृत्ति का परित्याग कर देता है। उत्तरावृत्ति को अपना लेना है। इसे अपनाकर जीवात्मा इस मनोमयी शिवसंकल्परूपी वृत्ति का पति बन जाता है (मन्त्र ३)। "उत्तरा चित्त वृत्ति" को "उत्तानपर्णा" कहा है (मन्त्र २)। यह ऊपर की ओर विस्तृत हुई पालन-पोषण करती है। ऊपर की ओर विस्तृत होने का अभिप्राय है मस्तिष्क तक फैल जाना; (उत्+तन् विस्तारे+पॄ पालन-पूरणयोः, जुहोत्यादिः)। उत्तरा चित्तवृत्ति जब मस्तिष्क में फैल जाती है, तब यह 'मस्तिष्क द्वारा' समग्र शरीर को उत्कृष्ट कर देती है। सूक्त में व्यावहारिक विवाह के वर्णनपूर्वक अध्यात्म तत्त्वों का प्रदर्शन अभिप्रेत है।

सूक्त १९

(१-८)। वसिष्ठः। विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः। अनुष्टुप्;
२ पथ्या बृहती; ३ भुरिग्गर्भा; ६ त्र्यवसाना षट्पदा
त्रिष्टुप् ककुम्मती गर्भातिजगती; ७ विराडास्तार-
पंक्तिः; ८ पथ्या पंक्तिः।

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं॑१ बल॑म्।
संशि॑तं क्ष॒त्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥१॥

(मे) मेरी (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मशक्ति (संशितम्) तीक्ष्ण हो, (वीर्यम्) वीरता तथा (बलम्) शारीरिक बल (संशितम्) तीक्ष्ण हो, अमोघ फलवाला हो। (क्षत्रम्) क्षात्रबल (अजरम्) जरारहित अर्थात् जीर्ण न होनेवाला हो, (जिष्णुः) तथा जयशील (अस्तु) हो, वह प्रजाजन (येषाम्) जिनका कि (पुरोहितः) अगुआ (अस्मि) मैं हूँ।

[(पुरोहितः) अगुआ रूप में निहित अर्थात् स्थापित, सम्भवतः प्रधानमन्त्री।]

समहमे॑षां रा॒ष्ट्रं स्या॑मि॒ समोजो॑ वी॒र्यं॑१ बल॑म्।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥२॥

(एषाम्) इनके (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अहम्) मैं पुरोहित (सं स्यामि =सं श्यामि) सम्यक्-तीक्ष्ण करता हूँ, प्रभावशाली करता हूँ, (ओजः, वीर्यम्, बलम्) ओज, वीरता, शारीरिक बल को (सम्, स्यामि) मैं तीक्ष्ण करता हूँ। (अनेन हविषा) संग्रामयज्ञ में या राष्ट्रयज्ञ में दी गई इस हवि द्वारा (अहम्) मैं पुरोहित (मन्त्र १) (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (बाहून्) बाहुओं को (वृश्चामि) काटता हूँ। (एषाम्) इनके अर्थात् शत्रु सैनिकों के।

[हविः के दो अभिप्राय हैं, (१) "कर" रूप में धनप्रदान स्वेच्छा-पूर्वक, (२) युद्ध में योद्धाओं के शरीरों की हविः।]

नी॒चैः प॑द्यन्ता॒मध॑रे भवन्तु॒ ये नः॑ सू॒रिं म॒घवा॑नं पृत॒न्यान्।
क्षि॒णामि॒ ब्रह्म॑णा॒मित्रा॒नुन्न॑या॒मि॒ स्वान॒हम् ॥३॥

(नीचैः पद्यन्ताम्) हम से नीचे हो जाएँ, (अधरे भवन्तु) निकृष्ट अर्थात् पादाक्रान्त हो जाएँ, (ये) जो कि (नः) हमारे (मघवानम्) धनिक (सूरिम्) और प्रेरक राजा को (पृतन्यान्) पृतना अर्थात् सेना द्वारा आक्रान्त करते हैं। (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणोमि)

मैं क्षीण करता हूँ और (स्वान्) अपनों को (अहम्) मैं (उन्नयामि) उन्नत करता हूँ।

[सूरिम्=षू प्रेरणे (तुदादिः)।]

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥४॥

(येषाम्) जिनका (पुरोहितः) अगुआ (अस्मि) मैं हूँ, वे (परशोः) कुल्हाड़े से भी (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (उत अग्नेः) तथा अग्नि से भी (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण हैं। (इन्द्रस्य) विद्युत् के (वज्रात्) वज्र से भी (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं।

[परशु, अग्नि, विद्युत् के वज्र, उत्तरोत्तर अधिक तीक्ष्ण हैं। पुरोहित अर्थात् अग्रणी व्यक्ति कहता है कि जिन प्रजाजनों का मैं मुखिया हूँ, वे अधिकाधिक तीक्ष्ण हैं शत्रुओं के विनाश के लिए।]

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥५॥

(अहम्) मैं अगुआ (एषाम्) इनके (आयुधा) युद्धसाधनों को (सं स्यामि) सम्यक्-तीक्ष्ण करता हूँ, (एषाम्) इनके (सुवीरम्) उत्तम वीरों वाले (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (वर्धयामि) वृद्धियुक्त करता हूँ। (एषाम्) इनका (क्षत्रम्) क्षात्रबल (अजरम्) जरारहित अर्थात् अजीर्ण तथा (जिष्णु) जयशील (अस्तु) हो, (एषाम्) इनके (चित्तम्) मानसिक संकल्प की (विश्वेदेवाः) राष्ट्र के सब दिव्यजन (अवन्तु) रक्षा करें।

[संकल्प है शत्रु का पराजय करना।]

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥६॥

(मघवन्) हे धनवान् सम्राट् ! (वाजिनानि) हस्ति, अश्व, रथादि बल (उद्धर्षन्ताम्) उत्कृष्ट हर्षयुक्त हों, (जयताम् वीराणाम्) जय पाते हुए वीर सैनिकों का (घोषः) विजय नाद (उद् एतु) ऊँचा उठे। (केतुमन्तः) झण्डोंवाले, (उलुलयः) उरु अर्थात् महोच्च (घोषाः) विजयनाद (पृथक्) पृथक्-पृथक् सैनिक वर्ग से (उदीरताम्) उद्गत हों, ऊँचे उठें। (इन्द्रज्येष्ठाः) सर्वज्येष्ठ-सम्राट्-सहित, (देवाः) राष्ट्र के दिव्य अधिकारी, तथा (मरुतः) शत्रुओं को मारनेवाले सेनाधिकारी, (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें।

[उलुलयः=उरुलयः, ऊँचे घोषों को भी लीन कर देनेवाले महानादी घोष, विजयनाद। वाजिनानि=वाजः बलनाम (निघं० २।६); =हस्ती, अश्व, रथादि (सायण)। इन्द्रः=इन्द्रश्च सम्राट् (यजुः० ८।३७)। मरुतः =मारयतीति वा स मरुत् मनुष्यजातिः (उणा० १।९४; दयानन्द)।]

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥७॥

(नरः) हे नेतृरूप सैनिको ! (प्रेत) प्रक्रमपूर्वक युद्धभूमि में जाओ, (जयत) और विजय प्राप्त करो, (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहु (उग्राः सन्तु) उग्र हों। (तीक्ष्णेषवः) तीखे इषुओंवाले, (उग्रायुधाः) उग्र आयुधोंवाले, (उग्रबाहवः) तथा उग्र बाहुओंवाले तुम, (अबलधन्वनः) अबल धनुषोंवालों, (अबलान्) निर्बल शत्रुओं को (हत) मारो, उनका हनन करो।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

(ब्रह्मसंशिते) वेदोक्त विधि द्वारा तेज की गई (शरव्ये) हे शरसंहति ! (अवसृष्टा) धनुष् से विमुक्त हुई तू (परापत) परे शत्रुसेना की ओर जा। (अमित्रान्) शत्रुओं पर (जय) विजय पा, (प्र पद्यस्व) शत्रुओं को तू प्राप्त हो, (एषाम्) इनमें के (वरंवरम्) प्रत्येक श्रेष्ठ का (जहि) हनन कर, (अमीषाम्) इनमें का (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटने पाए।

[शरव्या=यह ऐसा यन्त्र है जिसमें नाना शर होते हैं, जोकि युगपत् शत्रु पर छोड़े जाते हैं। शरव्या=शरसंहतिः (सायण) अथर्व० १।१९।३।]

सूक्त २०

(१-१०)। वसिष्ठः। अग्निः तथा नाना देवताः। अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ८ विराड्जगती।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥१॥

(अग्ने) हे अग्निनामक परमेश्वर ! (अयम् ते योनिः) यह [हृदय] तेरा घर है, (ऋत्वियः) जिसेकि ऋतु अर्थात् काल प्राप्त हो गया है, (यतः जातः) जहाँ से प्रकट हुआ तू (अरोचथाः) प्रदीप्त होता है। (जानन्[1])

---

१. "जानन्" द्वारा अग्नि को चेतन कहा है, अतः अग्नि प्राकृतिक अर्थात् जड़ नहीं।

जानता हुआ (तम्) उस पर (आरोह) तू आरोहण[1] कर, (अध) तदनन्तर (नः रयिम्) हमारी सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा।

[परमेश्वर का नाम है अग्नि, वह अग्नि के सदृश प्रकाशित होता है (यजुः० ३२।१), हृदय-गृह में। योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)। प्रार्थी परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि मेरे हृदय-गृह में तेरे प्रदीप्त होने का काल हो गया है, अतः तू प्रकाशित हो, और प्रकाशित होकर हम योगियों की अध्यात्मसम्पत्तियों को बढ़ा।]

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२॥

(अग्ने) हे अग्नि के सदृश प्रकाशमान परमेश्वर! (इह) इस जीवन में (नः अच्छ) हमारे अभिमुख होकर (वद) हमारे साथ वार्तालाप कर, (नः प्रत्यङ्) हमारे प्रति गति करता हुआ तू (सुमनाः भव) सुप्रसन्न हो। (विशांपते) हे प्रजाओं के पति! (नः प्रयच्छ) हमें प्रदान कर [धन], (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदाः असि) धनदाता है।

[हृदय में प्रकट हुए परमेश्वर के साथ वार्तालाप सम्भव है, जबकि हृदयस्थ जीवात्मा और उसमें प्रकट परमेश्वर, एक-दूसरे के अभिमुख होते हैं। धन प्राकृतिक नहीं, अपितु अध्यात्म है।]

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥३॥

(अर्यमा) कामादि अरियों का नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर! (नः प्रयच्छतु) हमें अध्यात्म सम्पत्ति प्रदान करे, (भगः) षड्विध सम्पत्तियोंवाला परमेश्वर (प्र यच्छतु) इन षड्विध सम्पत्तियों का प्रदान करे, (प्रयच्छतु बृहस्पतिः) प्रदान करे बृहती वेदवाणी; वेदवाणी का पति। (देवीः) मेरी दिव्य चित्तवृत्तियाँ (प्र यच्छन्तु) प्रदान करें मुझे दिव्यचित्तवृत्तियाँ, (उत) तथा (सूनृता देवी) दिव्या-सत्य-प्रियरूपा वाणी (मे) मुझे (प्र दधातु) प्रदान करे सत्य-प्रियरूपा वाणी।

[अर्यमा=अरीन् नियच्छतीति (निरुक्त ११।३।२३)। यद्यपि यह निर्वचन आदित्य के सम्बन्ध में है, तो भी "अदीन् नियच्छतिमात्र" निर्वचन

१. आरोहण का अर्थ है चढ़ना। वेद में चार पैरों पर खड़ी हस्तिनी के सदृश, चार स्तम्भों पर निर्मित शाला का कथन हुआ है (अथर्व० ६।३।१७), जिस पर आरोहण सीढ़ी द्वारा हो सकता है। इसलिए हृदय-गृह पर परमेश्वर का आरोहण कहा है।

का ग्रहण किया है। षड्विध सम्पत्तियाँ=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।]

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥४॥

(सोमम् राजानम्) सर्वोत्पादक अतः सबके राजा परमेश्वर का, तथा (अग्निम्) अग्नि के सदृश प्रकाशमान परमेश्वर का, (अवसे) निज रक्षार्थ, (गीर्भिः) स्तुतिरूपा वेदवाणियों द्वारा (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। तथा (आदित्यम्, विष्णुम्, सूर्यम्, ब्रह्माणम् च बृहस्पतिम्)[1] आदित्य नामक, सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, चतुर्वेदविद्, बृहद्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर का स्तुतिवाणियों द्वारा हम आह्वान करते हैं।

[सोम=षु प्रसवे (भ्वादिः)। आदित्य=परमेश्वर, यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः (यजुः० ३२।२), तथा आदित्यवर्णम्, तमसः परस्तात् (यजुः० ३१।१८)। विष्णुम्=विष्लृ व्याप्तौ (जुहोत्यादिः)। सूर्यम्=षू प्रेरणे (तुदादिः), सूर्य के प्रकाश में प्राणी निज कार्यों में प्रेरित होते हैं। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् परमेश्वर। सूक्त में अग्नि आदि नामों (मन्त्र १) द्वारा नाना देवता अभिमत नहीं, अपितु एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणकर्मों के प्रदर्शक हैं। इन नामों द्वारा एक ही परमेश्वर का आह्वान किया है हृदय में।]

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥५॥

(अग्ने) हे अग्नि नामवाले, या अग्नि के सदृश प्रकाशवाले परमेश्वर! (त्वम्) तू (अग्निभिः) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि आदि अग्नियों के द्वारा (नः ब्रह्म) हमारे अन्न को (च) और (यज्ञम्) यज्ञ को (वर्धय) बढ़ा। (देव) हे परमेश्वरदेव! (त्वम्) तू (नः) हमारे (दातवे) दाता के लिए (रयिम् चोदय) धन को प्रेरित कर, (दानाय) ताकि वह दान करे।

[ब्रह्म=अन्ननाम (निघं० २।७)। अग्नियों में आहुतियों द्वारा वर्षा और तद्-द्वारा अन्न पैदा होता है। दातवे="दातु" पद का चतुर्थ्येकवचन दातु=दाता कर्तरि[2] तु-प्रत्यय। "तु" प्रत्यय औणादिक (१।७२-७५)। सायण पाठ है, दानवे; दत्तवते।]

१. बृहस्पतिः=अथवा बृहती वेदवाणी का पतिः। यथा "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्" (ऋ० १०।७१।१)।
२. दातवे में तुमुन्नर्थ मानने पर दातवे और दानाय में पुनरुक्ति दोष होता है।

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ।६।

(इन्द्रवायू) सम्राट् और वायुमण्डल के अधिपति (उभौ) इन दोनों का (इह) इस यज्ञकर्म में (हवामहे) हम आह्वान करते हैं, (सुहवौ) ये दोनों सुगमता से आह्वानयोग्य हों. अतः इन दोनों को (इह) इस यज्ञकर्म में (हवामहे) हम आहूत करते हैं। (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमारा (सर्वः इत् जनः) सब जनसमूह, (संगत्याम्) पारस्परिक सत्संग में (सुमनाः असत्) सुप्रसन्न मनवाला हो, (च) और (नः) हमें (दानकामः) दान देने की कामनावाला (भुवत्) हो।

[इन्द्र=सम्राट् (यजुः० ८।३७)। वायु है वायुमण्डल का अधिपति, वायुमण्डल में यानों द्वारा धनार्जन का अधिपति (अथर्व० ३।१५।१-६)। सत्संगों में दान की आवश्यकता तो होती ही है, अतः "दानकामः" कहा है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह सत्संगों में सहयोग दे, और दान भी करे।]

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ।।७।।

[हे अग्नि ! मन्त्र ५], (अर्यमणम्) अरियों के नियन्ता को, (बृहस्पतिम्) राष्ट्र की बृहती-सेना के अधिपति को, (इन्द्रम्) सम्राट् को, (वातम्) वायुमण्डल के अधिपति को, (विष्णुम्) वनों तथा ओषधियों के अधिपति को, (सरस्वतीम्) ज्ञानाधिपति महिला को, (च) तथा (वाजिनम्) अन्न के अधिष्ठाता अन्नोत्पादन के अधिपति को (दानाय चोदय) दान देने के लिए प्रेरित कर।

[राष्ट्र के सब अधिकारियों को राष्ट्रोन्नति के लिए दान देने में प्रेरणा की प्रार्थना अग्नि नामक परमेश्वर से की गई है। अर्यमा=अदीन् नियच्छतीति (निरुक्त ११।३।२३), अदिति पद की व्याख्या में। अर्यमा है सेनाध्यक्ष और बृहस्पति है राष्ट्र की बृहती-सेना-का अधिपति। विष्णुः= "ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः" (अथर्व० ३।२७।५)। सरस्वती=सरो विज्ञानं वा विद्यतेऽस्यां सा [वाक्] (उणा० ४।१९०; दयानन्द)। यह महिला है जो कि शिक्षा की अधिकारिणी है। वाजिनम्, सवितारम्=वाजः अन्ननाम (निघं० २।७); सविता है अन्नोत्पादन अर्थात् कृषि का अधिकारी। षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिः)। अर्यमा आदि के आधिभौतिक स्वरूपों के प्रदर्शन में यथातथा प्रयत्न हुआ है। मन्त्र

७वां वाज के प्रसव के सम्बन्ध में है। इस प्रकार मन्त्र १ और ७ में परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है।]

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ।।८।।

(वाजस्य प्रसवे) अन्न की उत्पत्ति में (नु) निश्चय से (संबभूविम) हम मिलकर रहे हैं, (च), और (इमा विश्वा भुवनानि) ये सब उत्पन्न प्राणी (अन्तः) अन्न के भीतर सत्तावान् रहे हैं। (प्रजानन्) इसे जानता हुआ [सम्राट्] (उत अदित्सन्तम्) दान देने की अनिच्छा वाले को भी (दापयतु) दान देनेवाला करे। (च) और [हे सम्राट्] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब वीर पुत्रोंवाली (रयिम्) सम्पत्ति (नि यच्छ) नितरां प्रदान कर। वीरपुत्र=दानवीर पुत्र, दानशूर पुत्र।

[अन्तः=सब प्राणियों की सत्ता अन्नाधीन है। यथा "अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः" (तैत्ति० उपनिषद्) अर्थात् अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष। पुरुष पद सब प्राणियों का उपलक्षक है, प्राणी वीर्यजात ही हैं।]

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ।।९।।

(पञ्च प्रदिशः) पञ्च या विस्तृत सब दिशाएँ (मे) मेरे लिये (दुह्राम्) अभिमत फल का दोहन करें, (उर्वीः) तथा महती, ६ संख्या वाली द्यौ पृथिवी आदि (यथाबलम्) निज शक्त्यनुसार (दुह्राम्) मुझे अभिमत फल का दोहन करें। ताकि (मनसा) मन द्वारा (हृदयेन च) और हृदय द्वारा (सर्वाः आकूतीः) सब संकल्पों को (प्रापेयम्) मैं प्राप्त करूँ।

[पञ्च=पचि विस्तारे (चुरादिः)। ६ उर्वीः=द्यौश्च पृथिवी च, अहश्च रात्री च आपश्च ओषधीश्च (सायण)। मनसा=मनन द्वारा। हृदयेन=हार्दिक भावनाओं द्वारा। दुह्राम् में दुह् धातु के प्रयोग द्वारा प्रदिशः तथा उर्वीः को गोरूप में वर्णित किया है। जैसे कि गौएँ हमें दुग्ध प्रदान करती हैं, वैसे प्रदिशः आदि अभिमत फल का प्रदान करें। द्यौः आदि को धेनवः कहा भी है (अथर्व० ४।३९।१-१०।]

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ।।१०।।

(गोसनिम्) गोदान[1] सम्बन्धी (वाचम्) वेद वाक् का (उदेयम्) मैं कथन अर्थात् प्रवचन करूँ, [हे वाक् !] (वर्चसा) निजज्ञानदीप्ति के साथ (मा अभि) मेरे अभिमुख (उदिहि) उदित हो। (वायु:) वायुनामक परमेश्वर (सर्वतः) सब ओर (आ रुन्धाम्) मेरा आवरण करे, (त्वष्टा) कारगर परमेश्वर (मे) मुझ में (पोषम्) पुष्टि (दधातु) स्थापित करे।

[गोसनिम्=गोः वाङ्नाम (निघं० १।११)+षणु दाने (तनादिः)। वाक् का दान करनेवाली वाणी है वेदवाक्। वेदवाक् ही सब वाणियों की मातृरूपा है। सब वाणियों का मूलस्रोत वेदवाणी ही है। अभ्युदिहि= "उदिहि" द्वारा दृष्टान्तरूप में सूर्योदय अभिप्रेत है, जोकि दीप्ति द्वारा सबको प्रकाशित कहता है। इसी प्रकार वेदवाक् है, जोकि निजज्ञान दीप्ति द्वारा ज्ञेयों का ज्ञान देती है। वायु से अभिप्रेत परमेश्वर है (यजु० ३२।१)। परमेश्वर वायु अर्थात् प्राणरूप होकर सबका आवरण कर रहा है। रुन्धाम् =रुधिर् आवरणे (रुधादिः)। त्वष्टा="त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः" (निरुक्त ८।२।११)। "त्वक्षू तनूकरणे" (भ्वादिः) तनूकरण अर्थात् सूक्ष्मकरण का काम बढ़ई करता है। वह स्थूल काष्ठ से सूक्ष्म चमस, तथा कुर्सी आदि का निर्माण करता है। परमेश्वर भी बढ़ई के सदृश कारीगर है। वह महाव्यापिनी प्रकृति से अल्पकाय पृथिवी आदि और अन्न का उत्पादन कर हम में पोषण स्थापित कर रहा है। उदेयम्="वद व्यक्तायां वाचि" (भ्वादिः), "लिङ्याशिष्यङ्" (अष्टा० ३।१।८६) इत्यङ्। उदेयम् =उद्यासम्, उच्यासम् (सायण)।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

१. परमेश्वर ने गोदान अर्थात् वेदवाणी हम सबको दी है, उसका दान किया है। यथा, "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः" आदि (यजुः० २६।२)। इसे "गोसनिम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। इस वेदवाणी के सम्बन्ध में कहा है कि "वाचम् उदेयम्"।

अनुवाक ५

सूक्त २१

(१-१०)। वसिष्ठः। अग्निः। त्रिष्टुम्; १ पुरोष्णिक्; १,३,८ भुरिक्; ५ जगती; ६ उपरिष्टाद् विराड्बृहती; ७ विराड्गर्भा; ९,१० अनुष्टुम् (९ निचृत्)।

ये अ॒ग्नयो॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तर्ये वृ॒त्रे ये पुरु॑षे॒ ये अश्म॑सु।
य आ॑वि॒वेशौष॑धी॒र्यो वन॒स्पती॒ँस्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥१॥

(ये) जो (अग्नयः) अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं, (ये) जो (वृत्रे) आकाश के आवरण करनेवाले मेघ हैं, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष में, (ये) जो (अश्मसु) नानाविध व्यापी-मेघों में, या सूर्यकान्तादिशिलाओं में हैं। (यः) जो अग्नि (ओषधीः आविवेश) ओषधियों में प्रविष्ट है, (यः) जो अग्नि (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में प्रविष्ट है (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिये (एतत्) यह हविः (हुतमस्तु) प्रदत्त हो।

[मन्त्र में "ये" "बहुवचन" द्वारा नाना अग्नियाँ प्रत्येक वस्तु में दर्शाकर, उन अग्नियों के "एकत्व" को "यः" द्वारा मन्त्र के उत्तरार्ध में दर्शाया है। एकवचन द्वारा एक-परमेश्वराग्नि को दर्शाया है, यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।१); और बहुवचन द्वारा परमेश्वराग्नियों को परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान और कृति रूप में दर्शाया है। परमेश्वर एकाग्निरूप में भी सब में प्रविष्ट है, और इच्छा, ज्ञान, और कृतिरूप में भी सब में प्रविष्ट है। एक-परमेश्वराग्नि के स्वरूप का स्पष्टीकरण मन्त्र (३) आदि में "देवः" आदि पदों द्वारा हुआ है। अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)। पुरुष में भी इच्छा, ज्ञान और कृतिरूप में अग्नियाँ[1] प्रविष्ट हैं, जोकि परमेश्व की इच्छा, ज्ञान और कृतिरूप अग्नियों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। पुरुष की इच्छा आदि की अभिव्यक्ति शरीर के होते होती है, और शरीर का निर्माण परमेश्वर द्वारा होता है।]

यः सोमे॑ अ॒न्तर्यो गोष्व॒न्तर्य आवि॑ष्टो॒ वयः॑सु॒ यो मृ॒गेषु॑।
य आ॑वि॒वेश॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥२॥

१. ज्ञान, इच्छा, कृति अर्थात् संकल्प विषयों का प्रकाश करते हैं, अतः ये अग्नियाँ हैं, "अग्निवत् प्रकाशिका हैं"।

(यः) जो (सोमे अन्तः) चन्द्रमा के भीतर (अग्निः) परमेश्वराग्नि है, (यः) जो (गोषु अन्तः) गमन करनेवाले नक्षत्र आदि में परमेश्वराग्नि है, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में, (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (आविष्टः) सर्वत्र प्रविष्ट परमेश्वराग्नि है। (यः) जो (आविवेश) सर्वत्र प्रविष्ट है (द्विपदः) दो-पायों में, (यः) जो (चतुष्पदः) चौ-पायों में, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिये (एतत्) यह हवि (हुतम् अस्तु) प्रदत्त हो।

[परमेश्वराग्नि सर्वव्यापक होने से सबमें प्रविष्ट है। पदार्थगत है। नाना प्रवेश्यों की दृष्टि से परमेश्वराग्नि को नानारूपों में दर्शाया है। अतः अग्नयः पद का प्रयोग हुआ है। परमेश्वर के प्रत्येक अग्नि स्वरूप के प्रति आहुति समर्पित की गई है।]

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥३॥

(यः) जो (वैश्वानरः) समग्र नर-नारियों का हित करनेवाला, तथा (विश्वदाव्यः) समग्र जगत् के लिये दावाग्नि के सदृश (देवः) परमेश्वर-देव, (इन्द्रेण) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के साथ (सरथम्) एक शरीररथ में आरूढ़ हुआ (याति) गमन करता है, विचरता है। (यम्) जिस (पृतनासु) देवासुर संग्रामों में (साहसिम्) अत्यर्थ पराभव करनेवाले को (जोहवीमि) मैं बार-बार पुकारता हूँ, (तेभ्यः अग्निभ्यः उन वैश्वानर आदि अग्नियों के लिये [निज सहायतार्थ] (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्महवि (हुतम् अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[सरथम्="आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (कठ० उप० १।३।३), अर्थात् जीवात्मा है रथस्वामी और शरीर है रथ। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा। यह और वैश्वानर-देव—ये दोनों, शरीर-रथस्थ हृदय में विद्यमान हैं, और परस्पर सखा हैं। पृतनासु=आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम, जोकि मानुष जीवन में होते रहते हैं। परमेश्वर निज ध्याताओं की आसुर-भावनाओं का पराभव करता है। अग्निभ्यः=इन्द्र और वैश्वानर-देव आदि अग्नियाँ हैं। ये आसुरी-भावनाओं को दग्ध करती हैं।]

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४॥

(यः) जो (देवः) परमेश्वर-देव (विश्वाद्) विश्व को खा जाता है [प्रलयकाल में] (यम्, उ) जिसे ही (कामम्) कामनावाला या काम्य (आहुः) कहते हैं, (यम्) जिसे (दातारम्) दाता तथा (प्रतिगृह्णन्तम्) हमारी

भक्ति-श्रद्धा को स्वीकार करनेवाला (आहुः) कहते हैं। (यः) जो (धीरः) धीमान्, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सर्वत्र विद्यमान, (अदाभ्यः) न खाया जा सकनेवाला है, (तेभ्यः अग्निभ्यः) परमेश्वर के उन अग्निस्वरूपों के लिये (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्म हविः (हुतम्, अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[परमेश्वर विश्वाद् है, विश्व+अद् भक्षणे (अदादिः), वह विश्व का भक्षण करता है, अतः अग्निरूप है। वह कामनावाला है, अतः काम है। इसे उपनिषदों में "अकामयत" द्वारा कहा है। कामना द्वारा जगत् को वह प्रकाशित करता है, इसलिये भी वह अग्नि है। अग्नि प्रकाशक होती है। वह धीर है, बुद्धिमान् है, ज्ञानवान् है। ज्ञान ज्ञेयों को प्रकाशित करता है, इसलिये भी वह अग्निरूप है।]

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

[हे परमेश्वराग्नि!](यम्, त्वः) जिस तुझको, (होतारम्) दाता तथा अत्तारूप में (भौवनाः) भुवनवासी (त्रयोदश) १३ मास,[1] तथा (पञ्च)[2] पाँच प्रकार के (मानवाः) मननाभ्यासी मनुष्य, (मनसा) मन या मनन द्वारा (अभि) साक्षात् (संविदः) सम्यक्तया जानते हैं, उस (वर्चोधसे) दीप्तिधारी के लिये, (यशसे) यशस्वी के लिये, (सूनृतावते) प्रिय तथा सत्य वेदवाणी

१. मासों में संविदुः की शक्ति नहीं, मास जड़ हैं। अतः मास का अभिप्राय है मास-निवासिनः, उपचारात्। यथा मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

२. पाँच प्रकार के मानव यथा, "पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्" गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि (निरुक्त ३।२।८)। होत्रम् का अभिप्राय है अग्निहोत्र आदि यज्ञ। पितरः और देवाः के साथ पठित "गन्धर्वाः, असुराः रक्षांसि" पद भी श्रेष्ठार्थवाचक हैं। गन्धर्वा हैं गानविद्याज्ञातारः, असुराः हैं प्रज्ञानवन्तः "असुः प्रज्ञानाम" (निघं० ३।९)। रक्षांसि हैं रक्षक। परमेश्वर को भी रक्षस् कहा है, यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः" (अथर्व० १३।३।२५)। परमेश्वर रक्षस् है, वह सबका रक्षक है। १३ मास हैं, १२ मास संवत्सर के और १ अधिमास यथा "अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते" (अथर्व० १३।३।८)। यह चान्द्र-मास है। सौरवर्ष के दिन अधिक होते और चान्द्रवर्ष के दिन ३० कम होते हैं। उनकी पूर्ति के लिए १३वाँ अधिमास है। अधिमास=अधिक मास।

मानवाः=मननाभ्यासिनः। यह अर्थ यहाँ संगत प्रतीत होता है। यद्यपि अद्भुत है। ऐसा अद्भुत अर्थ भी है "मानुष=मनुष्यहितोऽयमादित्यः" (मा ते राधांसि) मन्त्र ऋ० १।८४।२० पर निरुक्त १३ (१४), ३ (२), खं० ३७ (५०)।

वाले के लिये, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन सब तेरे आग्नेय स्वरूपों के लिये, (एतत्) यह प्राकृतिक तथा अध्यात्म अर्थात् आत्महविः (हुतम् अस्तु) आहुति रूप में प्रदत्त हो, समर्पित हो ।

[परमेश्वर अग्निरूप है। यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।१)। परमेश्वर के नानाविध आग्नेयस्वरूपों के प्रति प्राकृतिक तथा आत्महविः समर्पित की है। चांद, सूर्य, विद्युत्, तथा नक्षत्र तारागण परमेश्वराग्नि के ही नानारूप हैं, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ।]

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥६॥

(उक्षान्नाय) वर्षा द्वारा सींचनेवाला आदित्य जिसका अन्न है, उसके लिये, (वशान्नाय) तथा वशा जिसका अन्न है उसके लिये, (सोमपृष्ठाय) उत्पन्न जगत् का जो पृष्ठ अर्थात् आधार है इसके लिये, (वेधसे) जगत् का, या विधियों का विधान करनेवाले के लिये, (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) समग्र नर-नारियों का हित करनेवाला पारमेश्वररूप जिनमें ज्येष्ठ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिये (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्महविः (हुतम्, अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो ।

[उक्षा=उक्ष सेचने (भ्वादिः), "आदित्याद् जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नम्" । वशा="वशेदं सर्वमभवत्, देवा मनुष्या असुराः पितर ऋषयः" (अथर्व० १०।१०।२६) अर्थात् यह दृश्यमान जगत् तथा देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि "वशा" हैं। अर्थात् उक्षा और दृश्यमान जगत्, तथा देव आदि जिसके अन्त हैं। प्रलयकाल में आदित्य तथा वशोक्त सब परमेश्वराग्नि के अन्नरूप हो जाते हैं। परमेश्वर अन्नाद है, मन्त्राभिप्रेत अन्न का अदन करता है। यह सृष्टिकाल में भी हो रहा है, और महाप्रलय-काल में भी। परमेश्वर अन्न भी है। उपासक इसके अन्नरस अर्थात् आनन्दरस का पान करते हैं, और यह अन्नाद भी है। यथा "अहमन्नम्, अहमन्नादः" (तैत्ति० उप० वल्ली ३ । खण्ड १०)।

सोमपृष्ठाय=सोम है उत्पन्न जगत् (षु प्रसवे, भ्वादिः, अदादिः)। परमेश्वर उत्पन्न जगत् की पीठ है, आधार है। जैसे अश्व की पीठ अश्वारोही का आधार होती है।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः=परमेश्वर है वैश्वानर, सब नर-नारियों का हितकारी। सबका हितकारी होने से यह सर्वज्येष्ठ अग्नि है। अग्निरूप होकर यह पाप-मल को भस्मीभूत कर देता है और प्रलय में जगत् को भी।]

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनु संचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

(ये) जो अग्नियाँ (दिवम्) द्युलोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) अनुप्रवेश करके (सं चरन्ति) संचार करती हैं, (ये) जो (विद्युतम्) विद्योतमान राशिचक्र में विचरती हैं। (ये) जो (दिक्षु अन्तः) सब दिशाओं के भीतर हैं, (ये) जो (वाते अन्तः) वायु के भीतर उल्काग्नियाँ हैं, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिये (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्म हविः (हुतमस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो ।

[उल्का=(अथर्व० १९।९।८, ९)। दिक्षु=अथर्व० (१९।८।१)। ये अग्नियाँ हैं परमेश्वर का तेजःस्वरूप, जो कि इनमें भासित हो रहा है, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक० उप० २।२।१०)।]

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

(हिरण्यपाणिम्) हिरण्य जिसके हाथ में है (सवितारम्) उस सर्वप्रेरक या सर्वोत्पादक परमेश्वर का, (इन्द्रम्) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का, (बृहस्पतिम्) बृहती वेदवाणी के पति का, (वरुणम्) अपांपति का, (मित्रम्) स्नेहकारी [वर्षा द्वारा] मेघ का, (अग्निम्) यज्ञियाग्नि का तथा (अङ्गिरसः विश्वान् देवान्) अङ्गों तथा अङ्गी शरीर के सब रसों का (हवामहे) हम कथन करते हैं, ये सब (इमम्, क्रव्यादम्,[1] अग्निम्) इस कच्चे मांस का भक्षण करनेवाली शवाग्नि को (शमयन्तु) शान्त करें। "हिरण्यपाणिम्" द्वारा यह दर्शाया है कि परमेश्वर ही सबकी रक्षा दान द्वारा कर रहा है।

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥९॥

[सविता आदि के प्रभाव द्वारा, मन्त्र ८] (क्रव्याद् अग्निः शान्तः) कच्चे मांस की भक्षक अग्नि शान्त हो गई है, (पुरुषरेषणः) पुरुषहिंसक क्रव्याद् अग्नि (शान्तः) शान्त हो गई है। (अथो) तथा (यः) जो अग्नि (विश्वदाव्यः) विश्व का दहन करनेवाली दावाग्नि है (तम् क्रव्यादम्) उस क्रव्याद् अग्नि को (अशीशमम्) मैंने शान्त कर दिया है।

---

१. क्रव्यम्=क्रवि हिंसाकरणयोश्च (भ्वादिः)। हिंसा द्वारा प्राप्त मांस अर्थात् शरीर।

[विश्वदाव्यः=हृदयस्थ ताप-संतापरूपी अग्नि। यह अग्नि सब पुरुषों को दावाग्नि के सदृश दग्ध करती रहती है। "अशीशमम्" उक्ति परमेश्वर की है।]

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥१०॥

(सोमपृष्ठाः) सोमौषधि जिनकी पीठ पर विद्यमान है, ऐसे (ये) जो (पर्वताः) पर्वत हैं, तथा (उत्तानशीवरीः) ऊपर-ताने अर्थात् विस्तृत वायु-मण्डल में शयन करनेवाले जो (आपः) जल हैं; (वातः) प्रवाही वायु, (पर्जन्यः) मेघ, (आत्) तदनन्तर (अग्निः) यज्ञियाग्नि है (ते) उन्होंने (क्रव्यादम्) कच्चे मांस का भक्षण करनेवाली शवाग्नि अर्थात् श्मशाग्नि को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है, प्रभावरहित कर दिया है।

[सोम है वीरुधों का अधिपति यथा "सोमो वीरुधामधिपतिः।" (अथर्व० ५।२४।७)। आपः हैं ऊपर अर्थात् वायुमण्डल में शयन किए हुए जल, जिनकी जागृति वर्षाकाल में होती है तथा वायु आदि, क्रव्यादग्नि को शान्त कर देते हैं। मनुष्य की आयु १०० वर्षों की कही है। १०० वर्षों से पूर्व मृत्यु अन्नादि के दोषादि द्वारा होती है। इस मृत्यु में शरीर कच्चे मांस-वाला होता है, पूर्णतया परिपक्व मांसवाला नहीं होता, यह "क्रव्य" होता है, इसे भक्षण करनेवाली श्मशानाग्नि क्रव्यादग्नि है। क्रव्यम्=क्रुवि हिंसा-करणयोश्च। सोम आदि के सेवन से क्रव्यादग्नि शान्त हो जाती है।]

सूक्त २२

(१-६)। वसिष्ठः। वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः। अनुष्टुप्;
२ विराट् त्रिष्टुप्; ३ पञ्चपदा परानुष्टुम् विराड् जगती;
४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती।

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः सं बभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥१॥

(हस्तिवर्चसम्) हाथी के तेज जैसा तेज (प्रथताम्) राष्ट्र में फैले, (बृहद् यशः) यह तेज महायशरूप है [यश का उत्पादक है], (यत्) जो तेज कि (अदित्याः) अदीना अर्थात् न क्षीण होनेवाली प्रकृति की तनू[1] से

१. हाथी महाकाय है, उसकी उत्पादक-माता भी महाकाया होनी चाहिए। प्रकृति विस्तार में महाकाया है। इसे द्योतित करने के लिए "तनू" का प्रयोग हुआ है, तनु विस्तारे (तनादिः)।

(सं बभूव) सम्पन्न हुआ है। (विश्वे देवाः) प्रकृतिजन्य सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियों ने तथा (सजोषाः अदितिः) प्रेमवाली प्रकृति ने, (सर्वे) इन सबने, (तत् एतत्) प्रसिद्ध इस तेज को (मह्यम्) मुझे (सम्, अदुः) परस्पर मिल कर दिया है।

[हस्तिवर्चस है महाबलरूपी तेज। सजोषाः=प्रकृति प्रेममयी माता रूप है, जिसने कि हमें शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि तथा खाद्य-पेय अन्न प्रदान किया है और हमारी रक्षा के लिये पृथ्वी, वायु तथा आदित्य आदि प्रदान किये हैं।]

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥

(मित्रः च) मित्रों को बढ़ानेवाला मन्त्री, (वरुणः च) और निज प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति, (इन्द्रः) सम्राट्, (रुद्रः च) और रौद्रकर्मा युद्ध-मन्त्री, (चेततु) इनमें से प्रत्येक [राष्ट्र में] सचेत रहे, सावधान रहे। (विश्वधायसः) सब प्रजाजनों का धारण-पोषण करनेवाले अन्य अधिकारी-वर्ग (ते) वे (मा) मुझ साम्राज्य के स्वामी को, (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (अञ्जन्तु) कान्तियुक्त करें। "च" पद समुच्चयार्थक हैं।

[मित्रः=मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व (अथर्व० २।६।४), अर्थात् हे अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! तू मित्र अर्थात् स्नेही "मित्र" नामक मन्त्री द्वारा मित्रधा होकर, मित्र राजाओं के धारण करने में यत्न किया कर। अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। वरुणः="इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। विश्वधायसः=विश्व+धा (युक्)+असुन्, प्रथमा विभक्ति बहुवचन। अञ्जन्तु=अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्ति-गतिषु (रुधादिः)।]

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्व१न्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥३॥

(येन वर्चसा) जिस वर्चस् के साथ (हस्ती संबभूव) हाथी पैदा हुआ है, (येन) जिस वर्चस् के साथ (राजा मनुष्येषु) राजा मनुष्यों में हुआ है, [जिस वर्चस् के साथ] (अप्सु अन्तः) मेघीय जलों में विद्युत् पैदा होती है, (येन) जिस वर्चस् के साथ (अग्रे) पूर्वकाल से (देवाः) दिव्यजन (देवताम् आयन्) देवत्व को प्राप्त हुए हैं, (तेन वर्चसा) उस वर्चस् के साथ (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (माम्) मुझको (अद्य) आज (वर्चस्विनम् कृणु) वर्चस्वी कर।

[वर्चस्=वर्च दीप्तौ (भ्वादिः)। हस्ती आदि में दीप्ति अर्थात् तेज पृथक्-पृथक् रूपवाला है। हस्ती का तेज है बल, शारीरिक बल। राजा आदि में भी तेज अपने-अपने ढंग का है। व्यक्ति जोकि प्रजाओं द्वारा "राजा" निर्वाचित हुआ है, वह प्रधानमन्त्री से कहता है कि आज जबकि मैं राजासनस्थ हुआ हूँ, तू मुझे वर्चस्वी कर, राज्य में मेरे वर्चस् को बढ़ा। निर्वाचन काल में राज्याधिकारी अधिकार से वञ्चित कर दिये जाने चाहिएँ, केवल प्रधानमन्त्री ही निर्वाचन का प्रबन्ध करे—यह भाव प्रतीत होता है।]

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः।
यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥४॥

(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान हे अग्नि! (आहुतेः) आहुति से (यत्) जो (ते) तेरा (बृहत् वर्चः) महावर्चस् (भवति) हो जाता है, (यावत्) जितना बड़ा (सूर्यस्य वर्चः) सूर्य का वर्चस् है, (च) और जितना बड़ा (आसुरस्य) प्राणवान् (हस्तिनः) हाथी का वर्चस् है, (पुष्करस्रजा) पद्ममाला धारण करनेवाले (अश्विना) हे दो अश्वियो! (तावत्) उतना बड़ा वर्चस् (मे) मुझमें (आ धत्ताम्) तुम स्थापित करो।

[जातवेदः=जाते-जाते विद्यते वा (निरुक्त ७।५।२०) आसुरस्य=असुर एव आसुरः, स्वार्थेऽण्। असुरः=प्राणवान्, यथा असुरत्वम्=प्राणवत्वम् (निरुक्त १०।३।३३)। मे=मह्यम्। अश्विना=रथाश्वों और अश्वारोहियों के अश्व; दो प्रकार के अश्वों के नियन्ता दो सेनापति। पुष्करस्रजा=दोनों सेनापतियों के सत्कारार्थ पद्मपुष्पमालाएँ। मे वर्चः आधत्ताम्=मुझ निर्वाचित राजा में दोनों सेनापति वर्चस् का आधान करें।]

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥५॥

(चतस्रः प्रदिशः) चार प्रकृष्ट-दिशाएँ (यावत्) जितने प्रदेश में व्याप्त हैं तथा (चक्षुः) रूपग्राहक आँख (यावत्) जितने प्रदेश को (समश्नुते) सम्यक् व्याप्त करती है, जितने प्रदेश तक देख सकती है, (तावत्) उतना (इन्द्रियम्) ऐन्द्रियिक बल (समैतु) मुझे प्राप्त हो, (मयि) और मुझमें (तद्) वह अर्थात् उत्तम (हस्तिवर्चसम्) हाथी का वर्चस् (ऐतु) प्राप्त हो। हस्तिवर्चस् है, बल का अतिशय।

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥६॥

(सुषदाम्) सुख से स्थित हुए। (मृगाणाम्) मृगों के मध्य, (हस्ती) हाथी, (हि) निश्चय से (अतिष्ठावान्) बल में सबको अतिक्रान्त करके स्थित हुआ है; (तस्य) उस हाथी के (भगेन) यश द्वारा (वर्चसा) तथा तेज द्वारा, (अहम्) मैं (माम्) अपने-आपका (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता है।

[भगेन=यशसा, यथा "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।" नवनिर्वाचित राजा, जल द्वारा अभिषिक्त न होकर, अपने-आपको यश और तेज द्वारा अभिषिक्त होने का अभिलाषी है। वह चाहता है कि राज्य में उसका यश और तेज बढ़े।]

सूक्त २३

(१-६)। ब्रह्मा। चन्द्रमाः, योनिः। अनुष्टुम्; ५ उपरिष्टाद् भुरिग् बृहती; ६ स्कन्धग्रीवी बृहती।

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत्।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥१॥

[हे नारी!] (येन) जिस कारण से (वेहत्) गर्भघातिनी (बभूविथ) तू हुई है, (तत्) उसे (त्वत्) तुझसे (नाशयामसि) हम [वैद्य] नष्ट करते हैं। (इदम् तत्) इस प्रसिद्ध कारण को (त्वत् अप) तुझसे अपगत कर, (अन्यत्र दूरे) अन्यत्र दूर (निदध्मसि) हम स्थापित करते हैं [फेंक देते हैं, सायण।]

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥२॥

(ते योनिम्) तेरी योनि में (पुमान् गर्भः) पुमान् गर्भ (आ एतु) आए (इव) जैसे कि (बाणः) बाण (इषुधिम्[1]) इषुओं को धारण करनेवाले निषङ्ग में स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। (अत्र) इस प्रसूतिकाल में या इस तेरे घर में (दशमास्यः) दसवें मास में पैदा होनेवाला (ते वीरः पुत्रः) तेरा वीर पुत्र (आ जायताम्) आजाय या उत्पन्न हो।

१. इषुधिः=इषुओं को रखने की थैली। युद्धकाल में यह योद्धाओं की पीठ पर बंधी रहती है। इसे निषङ्ग तुणीर तथा तर्कश भी कहते हैं।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३॥

[हे नारी!] (पुमांसम्) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र को (जनय) तू जन्म दे, (तम् अनु) उसके अनन्तर (पुमान्) पुमान् पुत्र (जायताम्) पैदा हो। (भवासि) तू हो (जातानां पुत्राणाम्) उत्पन्न हुए पुत्रों की, (च) और (यान्) जिन्हें तू (जनयाः) पैदा करेगी, उनकी (माता) माता।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥४॥

(यानि) जिन (भद्राणि बीजानि) भद्र बीजों को (ऋषभाः) ऋषभ-गण की ओषधियाँ (जनयन्ति) पैदा करती हैं, (तैः) उन बीजों [के सेवन] द्वारा (त्वम्) तू (पुत्रम् विन्दस्व) पुत्र प्राप्त कर, (सा) वह तू [हे नारी!] (प्रसूः) प्रसव करनेवाली होकर, (धेनुका) अल्पकाया, दूध देनेवाली गौ बन।

[बीजानि पद द्वारा प्रतीत होता है कि "ऋषभाः" ओषधियाँ हैं, जिनके भद्रबीजों के सेवन से नारी पुत्र प्रसव कर नवजात शिशुओं को दुग्ध पिला सकती है। बीज भद्र होने चाहिए, दूषितावस्था के नहीं। ऋषभाः को मन्त्र ६ में वीरुध् कहा है, और ओषधयः भी, तथा "मूलम्" द्वारा इनकी जड़ों को भी सूचित किया है।]

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

(ते) तेरे लिए (प्राजापत्यम्) प्रजोत्पादक यज्ञ (कृणोमि) मैं पति करता हूँ, [अभिप्राय है गर्भाधान संस्कार], (गर्भः) गर्भ (ते योनिम्) तेरी योनि को (आ एतु) प्राप्त हो। (नारि) हे नारि! (त्वम्) तू (पुत्रम् विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर, (यः) जो पुत्र कि (तुभ्यम्) तेरे लिए (शम् असत्) सुखदायी हो, (शम् उ) और सुख देनेवाली ही (तस्मै) उस पुत्र के लिए (त्वम्) तू (भव) हो।

["आ योनिं गर्भं एतु ते" द्वारा स्पष्ट है कि मन्त्र में गर्भाधान का वर्णन है। इस निमित्त किये जानेवाले यज्ञ को "प्राजापत्य" कहा है। प्रजापति है परमेश्वर। वह समग्र प्राणियों का पति है, रक्षक है। पति भी सन्तानोत्पत्ति कर, सन्तानों का पति अर्थात् रक्षक बनना चाहता है। अतः गर्भाधानसम्बन्धी यज्ञ अर्थात् संस्कार करता है। ताकि गर्भाधान के समय पति-पत्नी की भावनाएँ यज्ञमयी हों।]

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६॥

(यासाम् वीरुधाम्) जिन विरोहणशील ओषधियों का (पिता) पिता (द्यौः) द्युलोक है, (माता पृथिवी) और माता पृथिवी है, (समुद्रः) समुद्र (मूलम्) मूल कारण (बभूव) है; (ताः दैवीः ओषधयः) वे दिव्य ओषधियाँ, (पुत्रविद्याय) पुत्र प्राप्ति के लिए, (त्वा प्रावन्तु) तुझे सुरक्षित करें।

[द्यौः पिता है, वर्षारूपी वीर्यप्रदाता। पृथिवी माता है, ओषधियाँ पृथिवी से प्राप्त होती हैं। समुद्र है "मूलम्" अर्थात् मूलकारण, ये सामुद्रिक ओषधियाँ हैं, जो आसन्न समुद्र-तट[1] पर पैदा होती हैं।]

सूक्त २४

(१-७)। भृगुः। वनस्पतिः, प्रजापतिः। अनुष्टुप्;
२ निचृत्पथ्यापंक्तिः।

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥१॥

(पयस्वतीः) सारवाली हैं (ओषधयः) ओषधियाँ, (पयस्वत्) सार-वाला है (मामकम् वचः) मेरा वचन। (अथो) तथा (पयस्वतीनाम्) सार-वाली (सहस्रशः) हजारों ओषधियों को (अहम्) मैं (आ भरे) प्राप्त करूँ।

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे ॥२॥

(अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ (पयस्वन्तम्) जलवाले को, जिसने कि (बहु धान्यम्) बहुत धान्य (चकार) पैदा किया है। (संभृत्वा नाम यः देवः) संभरण-पोषण करने में जो प्रसिद्ध व्यवहारकुशल दिव्य व्यक्ति है, (तं वयम् हवामहे) उसका हम आह्वान करते हैं, (यः यः) और जो-जो [संभरण-पोषण करनेवाला व्यवहार कुशल] (अयज्वनः) राष्ट्र-यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में नियत है उस-उसका भी हम आह्वान करते हैं।

[पयस्वान् है मेघ। मेघ है जलवाला। इस द्वारा वर्षा से धान्य बहुत पैदा होता है। संभृत्वा=संपूर्वात् भृञः[2] क्वनिप् (अष्टा० ३।२।७५), तुक् (अष्टा० ६।१।७१), (सायण), (यः यः) जो जो "संभृत्वा"। देवः=

१. यथा "गङ्गायां घोषाः"=गङ्गातटे घोषाः, उपचारात्।
२. भृञ् धारणपोषणयोः, तथा भृञ् भरणे।

दिवु क्रीडा विजिगीषाव्यवहार आदि (दिवादिः) अर्थात् व्यवहारकुशल "राज्यकर" का अधिकारी (यः यः) जो-जो भी "राज्यकर" के संग्रह करने में, राष्ट्रयज्ञ के न करनेवालों के घर-घर में नियुक्त हैं, उनका आह्वान है, उन द्वारा संगृहीत "राज्यकर" की राशि के परिज्ञानार्थ । "अयज्वनः गृहे" जात्येकवचन है, अभिप्राय है "अयज्वनां गृहेषु" । "राज्यकर" स्वेच्छापूर्वक देना, यह प्रत्येक भूमिपति का कर्तव्य है, तो भी उनकी सुविधा के लिए संग्रह करनेवाले नियुक्त किये गये हैं] ।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥३॥

(इमाः याः) ये जो (पञ्च) विस्तृत (प्रदिशः) प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, और (पञ्च) विस्तृत (मानवीः) मानुष (कृष्टयः) कृषि करनेवाली प्रजाएँ हैं, ये (इह) इस राज्य में (स्फातिम्) समृद्धि को (समावहान्) हम परस्पर मिलकर प्राप्त करें, प्रवाहित करें, (इव) जैसेकि (नदीः) नदियाँ (वृष्टे) वर्षा में (शापम्) शापरूप मल को प्रवाहित कर देती हैं ।

[पञ्च=पचि विस्तारवचने (चुरादिः) । कृष्टयः मनुष्यनाम (निघं० २।३), सम्भवतः कृषि करनेवाले मनुष्य ।]

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥४॥

(उत्सम्) जैसेकि चश्मा, (शतधारम्, सहस्रधारम्) सौ धाराओं वाला तथा हजार धाराओंवाला (उत्) उद्धृत हुआ (अक्षितम्) क्षीण नहीं होता, (एव) इसी प्रकार (अस्माक=अस्माकम्) हमारा (धान्यम्) धान्य (अक्षितम्) क्षीण नहीं होता, (सहस्रधारम्) और हजारों का धारण-पोषण करता है । उत्=उद्भृतम् (सायण) ।

[मन्त्र २ में बहुधान्यम्, तथा मन्त्र ३ में स्फातिम् के कारण हमारा धान्य अक्षित है ।]

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥

[हे कृषि करनेवाले ! मन्त्र ३] (शतहस्त) सौ हाथोंवाला होकर (समाहर) धान्य आदि का संग्रह कर, और (सहस्रहस्त) हजार हाथोंवाला होकर (संकिर) सम्यक् दान कर । (इह) इस राज्य में (कृतस्य) किये दान की, (च) और (कार्यस्य) भावी काल में किये जाने योग्य दान की (स्फातिम्) वृद्धि को (सम् आवह) संप्राप्त कर ।

[कृषक के लिए कहा है कि तू जितना धान्य प्राप्त करता है, उससे अधिक दान देने के लिए प्रयत्न कर । संकिर=सम्+कॄ विक्षेपे (तुदादिः) । विक्षेप है फेंकना । इस द्वारा सम्पत्ति में मोह त्याग सूचित किया है ।]

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥६॥

(गन्धर्वाणाम्) पृथिवी के धारण करनेवाले पतियों का (मात्रा) हिस्सा है (तिस्रः) तीन और (गृहपत्याः) गृहपत्नी की मात्राएँ हैं, हिस्से में चार (तासाम्) उन मात्राओं में (या) जो (स्फातिमत्तमा) अतिसमृद्धियुक्त मात्रा है, (तया) उस मात्रा के साथ (त्वा) हे गृहपत्नी ! (अभिमृशामसि) हम तेरा स्पर्श करते हैं ।

[अभिमृशामसि द्वारा राज्याधिकारी गृहपत्नी को आश्वासन देते हैं । गृहपत्नी जब प्राप्त सम्पत्ति की अधिकारिणी हो, तो वह गृहजीवन में स्वतन्त्रता अनुभव कर सकती है । और पति-पत्नी परस्पर के सहयोगपूर्वक अधिक सुखी रह सकते हैं ।]

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥७॥

(प्रजापते) उत्पन्न सन्तानों के रक्षक ! [हे सद्गृहस्थ] (उपोहः) धन की प्राप्ति (च) और (समूहः) उसका समूहीकरण अर्थात् बढ़ाना, (ते) तेरे लिए, (क्षत्तारौ) क्षतिनद से तैरानेवाले हैं; (तौ) वे दोनों (इह) इस गृहस्थ में (स्फातिम्) समृद्धि को, (अक्षितम्) तथा न क्षीण होनेवाले (बहुम्) बहुत प्रकार की (भूमानम्) बहुतायत को (आ वहताम्) प्राप्त कराएँ, (वह प्रापणे) ।

[उपोहः=उप+वह प्राप्तौ (भ्वादिः) । समूहः=सम्+वह प्राप्तौ । क्षत्तारौ=क्षत्+तॄ संतरणे (भ्वादिः) ।]

सूक्त २५

(१-६) । भृगुः (जायाकामः) । मित्रावरुणौ, कामेच्छः । अनुष्टुभ् ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥१॥

(उत्तुदः) अति व्यथाकारी काम (उत् तुदतु) हे पत्नी ! तुझे व्यथित करे, (स्वे शयने) निज शय्या पर (मा धृथाः) तू धारित न हो । (कामस्य)

कामवासना की (या भीमा इषुः) जो भयानक इषु है (तया) उस द्वारा (त्वा) तुझे (हृदि) हृदय में (विध्यामि) मैं वींधता हूँ।

[रुष्ट हुई पत्नी के प्रति उसका पति कहता है कि तुझे काम के बाण द्वारा वींधता हूँ, इससे तू शय्या पर सुख से शयन न कर सकेगी।]

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥

(आधीपर्णाम्) मानसिक चिन्तारूपी पंखोंवाली, (कामशल्याम्) अभिलाक्षारूपी लोहाग्रवाली, (संकल्पकुल्मलाम्) संकल्परूपी फूलती हुई कलीवाली, (ताम्) उस कामेषु को (सुसंनतां कृत्वा) उत्तम प्रकार से तेरी ओर नत करके, झुकाकर, (कामः) काम (त्वा) तुझे (हृदि विध्यतु) हृदय में वींधे।

[पर्ण को पुंख भी कहते हैं अर्थात् खिलती हुई कली (उणा० ४।१८८; दयानन्द)। खिले फूल, मेघगर्जना, वसन्त ऋतु आदि कामोत्तेजक हैं—ऐसा कामविज्ञ कहते हैं।]

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥३॥

(सु संनता) उत्तम प्रकार से झुकी हुई, (प्राचीनपक्षा) प्रगति देनेवाले पंखवाली (व्योषाः) विविध प्रकार से जलानेवाली (कामस्य इषुः) काम की इषु (या) जोकि (प्लीहानम्) तिल्ली को (शोषयति) सुखा[1] कर देती है, (तया) उस द्वारा (त्वा) तुझे (हृदि विध्यामि) हृदय में मैं पति वींधता हूँ।

[व्योषाः=वि+उष दाहे (भ्वादिः)। सम्भवतः असफल कामवासना चिन्ता तिल्ली (spleen) को सुखा देती हो।]

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥४॥

(व्योषया शुचा) विदाहयुक्त शोक द्वारा (विद्धा) वींधी हुई, (शुष्कास्या) दाह के कारण रुद्ध गलेवाली तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) आ। और तू (मृदुः) मृदुभाषिणी, (निमन्युः) मन्युरहित, (प्रियवादिनी) प्रिय

१. प्लीहा अर्थात् तिल्ली रक्त का निर्माण करती है। चिन्ता रक्त को सुखा देती है। यह है प्लीहा का शोषण। Spleen=a blood forming organ (your guide to Health) पूना, इण्डिया।

बोलनेवाली, (अनुव्रता) मेरे अनुकूल कर्मोंवाली हुई, (केवलो) केवल मेरी हो जा।

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥५॥

(परि मातुः) माता के पास से, (अथो) मा (परि पितुः) पिता के पास से, (त्वा) तुझे (अजन्या) निज प्रेरणा द्वारा (आ अजामि) पूर्णतया मैं प्रेरित करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (मम क्रतौ असः) मेरे कर्मों में सहयोगिनी तू हो जाय और (मम चित्तम् उप) मेरे चित्त के समीप (अयसि) तू आ जाय।

[विवाहित पत्नियाँ रुष्ट होकर माता-पिता की शरण में चली जाती हैं, वे ही उनके स्वाभाविक आश्रय होते हैं।]

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥६॥

(मित्रावरुणौ) हे स्नेही तथा वरणीय परमेश्वर! (अस्यै) इसके (हृदः) हृदय से (चित्तानि) संकल्पों या विचारों को (व्यस्यतम्) फेंक दे, निकाल दे। (अथ) तदनन्तर (एनाम्) इसे (अक्रतुम् कृत्वा) कर्म तथा प्रज्ञा से रहित कर, (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्) कर दे।

[मित्रावरुणौ—एक ही परमेश्वर के गुण-कर्म के भेद से दो नाम हैं। मित्रपद द्वारा परमेश्वर के स्नेह का कथन किया है और वरुणपद द्वारा परमेश्वर की वरणीयता का। निरुक्तकार की दृष्टि में केवल तीन देव हैं, अग्नि, इन्द्र, [वायु] और आदित्य। प्रत्येक के गुणकर्म के भेद से प्रत्येक के नाना दैवत नाम हैं। यथा—"तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्म-पृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः" (निरुक्त ७।२।५)। "तथा तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः।" (निरुक्त ७।२।५)]

पञ्चम अनुवाक समाप्त

अनुवाक ६

सूक्त २६

(१-६) । अथर्वा । रुद्रः, तथा अग्न्यादि बहुदेवताः । त्रिष्टुभ्, १-६ पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा ?, १ त्रिष्टुभ्, २, ५, ६ जगती; ३, ४ भुरिक् ।

येऽ३स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥१॥

(अस्याम् प्राच्यां दिशि) [हमारे राष्ट्र की] इस पूर्व की दिशा में (ये) जो तुम (हेतयः) हननकर्त्ता (नाम) नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (अग्निः) आग्नेय हैं। (ते) वे तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमें (अधिब्रूत) राष्ट्र-रक्षा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान का कथन करो, (तेभ्यः वः) उन तुम के लिये (नमः) नमस्कार हो, (तेभ्यः वः) उन तुम के लिये (स्वाहा) हमारी सम्पत्तियों की आहुति हो, प्रदान हो।

[देवाः=दिवु क्रीड़ा विजिगीषा आदि (दिवादिः)।]

येऽ३स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥२॥

(अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) [हमारे राष्ट्र की] इस दक्षिण दिशा में (ये) जो तुम (अविष्यवः) "स्वेच्छापूर्वक रक्षा करनेवाले" (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक हो, (तेषाम् वः) उन तुम की (कामः) कामना अर्थात् इच्छा ही (इषवः) इषु हैं। (ते नो···) पूर्ववत्।

[कामः=राष्ट्र-रक्षा के लिये स्वेच्छापूर्वक कामना। अविष्यवः=अव (रक्षणे, भ्वादिः)+असुन्+क्यच् (इच्छा)+उः। स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र-रक्षा करना, न कि भृति के कारण। स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र-रक्षा की कामना राष्ट्रिय-शत्रुओं के विनाश में सर्वोत्तम इषुरूप है।]

येऽ३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥३॥

(ये) जो (अस्याम् प्रतीच्याम् दिशि) इस पश्चिम दिशा में (वैराजाः

नाम) अन्नस्वामी, अर्थात् इस नामवाले, (देवाः) व्यवहारी अर्थात् व्यापारी (एव) तुम हो (तेषां वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (आपः) जल हैं। (ते नो···) पूर्ववत्।

[मन्त्रोक्त देव वैश्य हैं, जोकि अन्नस्वामी हैं। विराट्=अन्नम् (सायण)। इषु है आपः अर्थात् जल। जल के द्वारा अन्नोत्पत्ति होती है। इसलिये सूक्त २७, मन्त्र ३ में प्रतीची दिशा का अधिपति वरुण कहा है, "वरुण अपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। राष्ट्र-रक्षा के लिये अन्न पर्याप्त चाहिए, ताकि अन्न द्वारा परिपुष्ट सैनिक और प्रजाजन राष्ट्र-रक्षा कर सकें। स्वाहा=सूक्तियां, प्रशंसाएँ। वैश्यों से अन्न प्राप्त कर राष्ट्राधिकारी उनकी प्रशंसा करते हैं। स्वाहा=सु आह (निरुक्त ८।३।२०; पदसंख्या १३)।]

येऽ३स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।
ते नो मृडत नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥४॥

(ये) जो (अस्याम् उदीच्यां दिशि) इस उत्तर की दिशा में (प्रविध्यन्तः) प्रकर्षेण बींधनेवाले, (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक (स्थ) हो, (तेषां वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (वातः) वायु हैं, या वायव्यास्त्र हैं। (ते नो···) पूर्ववत्।

[वातः=निरुक्तकार ने "अप्वा" का कथन किया है (६।३।१२; पदसंख्या ४८)। अप्वा=यह अस्त्र है शत्रु पर फेंकने के लिये। यह प्रक्षेप्ता से अपगत हुआ, वा=वायुरूप होकर, या गतिवाला होकर शत्रु की ओर जाता है। अप्वा[1]=अप्+वा (गतौ, अदादिः)। निरुक्तकार ने इसे "व्याधिर्वा भयं वा" कहा है और निर्वचन दिया है "यदनया विद्धोऽपवीयते"[1] (६।३।१२)। यह वायुरूप हुआ शत्रु की ओर जाता है। देखो (अथर्व० ३।१।३, ५, ६, तथा ३।२।१, ५, ६)। अप्वा वस्तुतः भयरूप है शत्रुओं के लिये।]

येऽ३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥५॥

(ये) जो (अस्याम् ध्रुवायां दिशि) इस स्थिर भूमिरूपा दिशा में

१. अप्वा और अपवीयते में शब्दसाम्य भी है और अर्थसाम्य भी। अप्वा=अप्+वा (गतौ); अपवीयते=अप+वी (गतौ; अदादिः)।

(निलिम्पाः) नितरां लिप्त, (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) मोद-प्रमोद में रत रहते (स्थ) हो (तेषाम् वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु हैं (ओषधीः) ओषधियाँ । (ते नो...) पूर्ववत् ।

[ध्रुवा दिशा है पृथिवी, अतः पार्थिव जीवनों में लिप्त मनुष्य । दिव्=मोद-प्रमोदरूपी जीवनोंवाले (दिवादिः) । ये ओषधियाँ उत्पन्न कर राष्ट्र की सेवा करते हैं । अन्नरूपी ओषधियों का वर्णन मन्त्र ३ में हुआ है । अतः ओषधीः पद रोगनिवारक ओषधियों के लिये है, युद्ध में आहत सैनिकों के लिये तथा सब प्रजा के लिये रोगोपचार में ओषधियाँ चाहिएँ । स्वाहा=प्रशंसावचन हो उनके लिये ।]

ये॒॑स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥६॥

(ये) जो (अस्याम् ऊर्ध्वायाम् दिशि) इस ऊर्ध्व दिशा में (अवस्वन्तः) रक्षा करनेवाले, (नाम) अर्थात् इस नामवाले, (देवाः स्थ) विजिगीषु सैनिक तुम हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड-का-पति परमेश्वर है । (ते नो...) अर्थ पूर्ववत् । (स्वाहा) उनकी रक्षा के लिये सर्वस्व समर्पण हो ।

[ऊर्ध्वादिशा द्युलोक की ओर अपरिमित परिमाण में विस्तृत है, अतः उसका पति बृहस्पति कहा है, जोकि "बृहतामपि-पति" है । वह ही इषुरूप होकर सबकी रक्षा कर रहा है । अवस्वन्तः=अवनं रक्षणं तद्वन्तः (सायण) ।]

सूक्त २७

(१-६) । अथर्वा । रुद्रः, अग्निः आदि बहुदेवताः । आष्टिकम्,
१-६ पञ्चपदा ककुम्मती गर्भाष्टिः;
२ अत्यष्टिः; ५ भुरिक् ।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो॒॑स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

(प्राची दिक्) पूर्व की दिशा है, (अग्निः अधिपतिः) अग्नि अधिपति है । (असितः) यह सीमाबद्ध नहीं, (रक्षिता) रक्षण करता है, (आदित्या इषवः) आदित्य की रश्मियाँ (इषवः) इषुरूप हैं । (तेभ्यः) उनके प्रति (नमः) हमारा प्रह्वीभाव हो, (अधिपतिभ्यः नमः) उन अधिपतियों के प्रति प्रह्वीभाव

हो, (रक्षितृभ्यः नमः) उन रक्षकों के प्रति प्रह्वीभाव हो, (इषुभ्यः नमः) इषुरूप उनके प्रति प्रह्वीभाव हो, (एभ्यः) इन सबके प्रति (नमः) प्रह्वीभाव (अस्तु) हो । (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम् वयम् द्विष्मः) और जिसके साथ प्रतिक्रियारूप हम द्वेष करते हैं (तम्) उसे (वः जम्भे) तुम्हारी दाढ़ में (दध्मः) हम स्थापित करते हैं ।

[अभिप्राय है द्वेष्टा को आदित्य रश्मियों के प्रति सुपुर्द करते हैं । यन्त्र द्वारा आदित्य रश्मियों को एकत्रित कर उन द्वारा उसे जला देते हैं । नमः=णम प्रह्वत्वे शब्दे च । प्रह्वीभाव है उनके प्रति झुकना, उन्हें स्वोपरि शक्ति मानकर उनका प्रयोग करना ।]

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो॒॑स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा है, (तिरश्चिराजी) टेढ़ी रेखा वाला (इन्द्रः) इन्द्र[1] [विद्युत्] (रक्षिता) रक्षा करता है, (पितरः) पालक वायुएँ (इषवः) इषु हैं । (तेभ्यो नमः आदि) पूर्ववत् ।

[दक्षिण समुद्र से जब मानसून वायु चलती है, तब यह मेघ भरी होती है और इसमें इन्द्र अर्थात् विद्युत् टेढ़ी रेखा में चलती हुई चलती है, जोकि मेघ को ताड़ित कर वर्षा करती है[2] ।]

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो॒॑स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

(प्रतीची दिक्) पश्चिम की दिशा है, (वरुणः अधिपतिः) वरुण अधिपति है, (पृदाकुः) वह पालनप्रदान करता है, (रक्षिता) अतः रक्षा करता है, (अन्नम् इषवः) अन्न उसके इषु हैं । (तेभ्यः नमः आदि) पूर्ववत् ।

[वरुणः=अपामधिपतिः (अथर्व० ५।२४।४) । अतः वरुण भी वर्षा द्वारा अन्नप्रदान करता है अन्न इषु हैं । अन्न खाने से शरीर में शक्ति बढ़ती

---

१. इन्द्र मध्यस्थानी देवता है ।

२. वर्षा प्रथम पश्चिम दिशा से प्रारम्भ होती है । तत्पश्चात् प्रधानवर्षा दक्षिण समुद्र से मानसून वायुओं में प्रकट होती है । इन्हें पितरः कहा है, ये पितृवत् हमारी रक्षा करती हैं । यह वैज्ञानिक तथ्य है कि प्रथम वर्षा का प्रारम्भ पश्चिम से, और तत्पश्चात् प्रधानवर्षा का दक्षिण समुद्र से आगमन होना ।

है। और शक्ति के बढ़ने से रोगकीटाणु शरीर पर प्रहार नहीं कर पाते, अतः अन्न इषु हैं। पृदाकुः=पृदाकु सर्प भी सम्भव है। वर्षाऋतु में मेघ अन्तरिक्ष में नाना आकृतियाँ धारण करते हैं, उनमें पृदाकु की भी आकृति सम्भावित है। कवि ने एक-मेघाकृति को गज अर्थात् हाथी रूप भी कहा है। यथा मेघ के सम्बन्ध में कहा है, "वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षादियं ददर्श"। पृदाकुः=पृ (पालनम्)+दा (दानम्) कुः (करोतीति)। मन्त्र में पृदाकु मेघ की एक आकृतिविशेष है, यह वर्षा द्वारा अन्न प्रदान करती है।]

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

(उदीची दिक्) उत्तर की दिशा है, (सोमः अधिपतिः) सौम्य स्वभाव वाला अधिपति है, (स्वजः) स्वयम् अर्थात् स्वभावतः उत्पन्न हुआ है, (रक्षिता) रक्षा करता है, (अशनिः इषवः) व्याप्त प्रकाश इषुरूप हैं। (तेभ्यः नमः···आदि) पूर्ववत्। अशनिः=अशूङ् व्याप्तौ (भ्वादिः)। अशनि उत्तरध्रुव में व्याप्त होकर वहाँ के अन्धकार के विनाश के लिये इषुरूप है।

[सोमः=सौम्यस्वभाव वाला है उत्तरदिशास्थ Aurora (औरोरा) यथा "A luminous meteoric Phenomenon of eletrical charactor seen in and towards the Polar regions with a tremulous motion and giving forth streams of light. Aurora Borealis, northern lights. (चेम्बरज, २०वीं शतक, कोश)। "औरोरा" यह प्रकाशमान घटना है, जोकि वैद्युत है, और उत्तरदिशा सम्बन्धी है, जोकि उत्तरध्रुव में दृष्टिगोचर होती है, यह चञ्चलगतिवाली है, और प्रकाशमयी धाराओंरूपी है, इसे उत्तरीय प्रकाश कहते हैं। ये धाराएँ प्रकाशमयी हैं, और शीतल हैं। अतः सौम्यस्वभाव वाली हैं।]

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा अर्थात् स्थिरा, पृथिवीरूपा, दिशा है, (विष्णुः) रश्मियों से व्याप्त आदित्य (अधिपतिः) अधिपति है। (कल्माषग्रीवः) यह कृष्णवर्णवाली लताओं को मालारूप में ग्रीवा में धारण किये हुआ है, (रक्षिता) हमारा रक्षक है, (वीरुधः) विविधरूप में आरोहण करनेवाली

लताएँ और वृक्ष आदि इसके (इषवः) इषु हैं। (तेभ्यः नमः···) आदि पूर्ववत्।

[विष्णुः=व्यश्नोतेर्वा (निरुक्त १२।२।१८), विष्णु अर्थात् आदित्य रश्मियों द्वारा व्याप्त होता है। रश्मियों द्वारा व्याप्त आदित्य को "अवि" भी कहा है (अथर्व० १०।८।३१), अवि है रक्षक, इसके सम्बन्ध में कहा है कि "यस्या रूपेणेमे वृक्षा हरितस्रजः"। विष्णु अर्थात् आदित्य के ताप और प्रकाश द्वारा वीरुधें प्राप्त होती हैं, ये इषुरूप हैं, रोगों की विनाशिका हैं। अवशिष्ट मन्त्र के अर्थों तथा भावार्थों के लिये देखो मन्त्र (१)।]

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपर की दिशा है, (बृहस्पतिः) बृहत् अर्थात् महाविस्तारी द्युलोक,[1] (अधिपतिः) अधिपति है, (श्वित्रः) यह श्वित्र है, (रक्षिता) रक्षक है। (वर्षम् इषवः) वर्षा इसके इषु हैं।

[बृहस्पतिः="बृहत् चासौ पतिः," अथवा "बृहताम् अधिपतिः," द्युलोकें। श्वित्रः=श्वेतते वर्णविशिष्टो भवतीति। कुष्ठभेदो वा (उणा० २।१३; दयानन्द)। द्युलोक चमकते ताराओं द्वारा श्वेतवर्णवाला है, तथा श्वेतवर्णी ताराओं के मध्यवर्ती स्थानों में आकाश की नीलिमा के कारण कुष्ठरोगरूपी भी है। द्युलोक की ओर से वर्षा आती है। यह वर्षा इषुरूप है; गर्मी, सोखा, अन्नादि के अभाव की विनाशिका है। अवशिष्ट मन्त्रार्थ तथा भावार्थ के लिये देखो मन्त्र (१)।]

सूक्त २८

(१-६)। ब्रह्मा। यमिनी। अनुष्टुप्; १ अतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा अतिजगती; ४ यवमध्याविराट् ककुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः।

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥

---

१. ऊर्ध्वादिक् में ही ग्रह, उपग्रह, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण निवास करते, तथा विचर रहे हैं, अतः ऊर्ध्वादिक् ही वस्तुतः संसार या ब्रह्माण्ड है। शेष दिशाएँ तो लगभग शून्यसदृश हैं।

(एषा) यह सृष्टि (एकैकया) एक-एक के (सृष्टया) सर्जन द्वारा अर्थात् क्रमशः (सम्बभूव) निर्मित हुई है, (यत्र) जिस सृष्टि में (भूतकृतः) भूतसृष्टि के सदृश उत्पन्न करनेवालों ने (विश्वरूपाः) विश्व का निरूपण करनेवाली (गाः) वेदवाणियों का (असृजन्त) सर्जन किया। (यत्र) जहाँ (यमिनी) यम-नियमों का उपदेश करनेवाली वेदवाणी (अपर्तुः[1]) ऋतु अर्थात् समय को अपगत करके (विजायते) विधिविरुद्ध रूप में प्रकट की जाती है, तो (सा) वह वेदवाणी मानो (रिफती[2], रुशती) हिंसित होती हुई तथा विनष्ट होती हुई (पशून्) पञ्चविध पशुओं का (क्षिणाति) क्षय कर देती है। [वेदोक्त कर्मों से रहित पुरुष भी पशुसदृश हैं।]

[गाः=गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। गाः बहुवचन में है। वेदवाणियाँ चार हैं, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व। भूतकृतः=भूतकाल की सृष्टियों के सदृश वेदवाणियों को आविर्भूत करनेवाले अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा हैं चार ऋषि। विश्वरूपाः=वेदवाणियाँ विश्व के घटकों का निरूपण करती हैं, यतः उनमें सब विद्याएँ मूलरूप में विद्यमान हैं। एकैकया =एक-एक करके, अर्थात् क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, युगपत् नहीं। पहिले विराट् पैदा हुआ, उसके अतिविरेचन से तारा-नक्षत्र पैदा हुए, तदनन्तर आदित्य, आदित्य परिवार, पृथिवी, और प्राणिजगत् पैदा हुआ। पशून्=तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः (अथर्व० ११।२।९)।]

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥२॥

(एषा) यह [यमनियमोंवाली वेदवाणी] (क्रव्याद्) मांस खानेवाली, तथा (व्यद्वरी) विविध रूप में खानेवाली (भूत्वा) होकर (पशून्) पञ्चविध पशुओं [मन्त्र १] का (संक्षिणाति) सम्यक् क्षय कर देती है। (उत) इसलिये (एनाम्) इस वेदवाणी को (ब्रह्मणे) वेदवाणी के अधिकारी को (दद्यात्) दे, (तथा) इस प्रकार (स्योना) यमिनी वेदवाणी सुखकरी, (शिवा) तथा कल्याणकारी (स्यात्) हो जाय।

[वेदवाणी का तो सर्वत्र प्रचार होना चाहिये, "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" (यजु० २६।२) तथापि यमनियमों का प्रतिपादक वेदभाग ब्राह्मी प्रकृति के व्यक्ति को ही देना चाहिये। क्रव्याद्=क्रव्य+अद् भक्षणे।]

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥३॥

[हे आध्यात्मिका वेदवाणी !] (पुरुषेभ्यः) हम गृहस्थ-पुरुषों के लिये (शिवा भव) कल्याणकारी हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः) हमारी गौओं और अश्वों के लिये (शिवा) कल्याणकारी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब कृषिक्षेत्र के लिये (शिवा) कल्याणकारी हो। (इह) इस गृहस्थजीवन में (नः) हमसब के लिये (शिवा) कल्याणकारी (एधि) हो।

[आध्यात्मिका वेदवाणी का प्रसार उन गृहस्थों में भी होना चाहिये, जिनका जीवन आध्यात्मिक हो, ताकि उस आध्यात्मिकता में वे गृह्यप्रबन्ध किया करें।]

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव । पशून् यमिनि पोषय ॥४॥

(इह) इस गृहस्थ में (पुष्टिः) पोषण हो, (इह) इसमें (रसः) दुग्ध-घृत आदि रस हो, (इह) इसमें (सहस्रसातमा) हजारों सुखों की अतिशय-दान करनेवाली (भव) तू हो। (यमिनि) हे यमनियमोंवाली वेदवाणी ! (पशून्) पञ्चविध पशुओं को (पोषय) परिपुष्ट कर।

[सहस्रसातमा=सहस्र+षण्ड (दाने, तनादिः)+तमप्। मन्त्र में गृहस्थजीवन को आध्यात्मिक बनाने का निर्देश हुआ है।]

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभि संबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥५॥

(यत्र) जिस गृहस्थ में (सुहार्दः) उत्तम हार्दिक भावनाओंवाले, (सुकृतः) तथा उत्तम कर्मोंवाले, (स्वायाः) निज (तन्वः) तनू के (रोगम् विहाय) रोग को त्याग कर, (मदन्ति) मोद-प्रमोद करते हैं, (तम् लोकम्) उस गृहस्थ लोक में, (यमिनि) हे यमनियमोंवाली वेदवाणी ! (अभि)

१. अपर्तुः=ऋतु अर्थात् शिष्यों के आयुः-काल अर्थात् योग्यताकाल का विचार न करके दी गई यमिनी अर्थात् आध्यात्मिक वेदवाणी स्वयं भी विनष्ट होती है, निष्फला होती है, और ग्रहण करनेवालों और उनकी सम्पत्तियों को भी नष्ट कर देती है। यथा—विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ (निरुक्त २।१।३)॥ इस उद्धरण में कहा है कि विद्या ब्राह्मण की निधि है, इसका प्रदान ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता और ब्रह्मवेत्ता उसे प्रदान न करे जो कि निन्दक है, कुटिल है, और संयमी नहीं है।

२. रिफ हिंसायाम् (तुदादिः) रुश हिंसायाम् (तुदादिः)। अपात्रों और कुपात्रों को दी गई यमिनी वेदवाणी उनके लिये क्रव्याद् हो जाती है (मन्त्र २)।

साक्षात् (सम्बभूव) तूँ सम्यक् प्रकार से सत्तावाली हुई है। (सा) वह वेदवाणी (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों की (च) और (पशून्) पशुओं की (मा हिंसीत्) हिंसा न करे।

[जिस गृहस्थ में आध्यात्मिक वेदवाणी की सम्यक्-सत्ता होती है, उस गृहस्थ में, असामयिक मृत्यु नहीं होती, क्योंकि गृहस्थी वेदवाणी में कथित जीवन-चर्या करते हैं। "लोकम्" का अभिप्राय पदलोक नहीं, अपितु गृहस्थलोक है। यथा "पितृलोकात् पतिं यतीः" (अथर्व० १४।२।५२; विवाह प्रकरण)। इस प्रकरण में कहा है कि "उशती-कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः"। इससे स्पष्ट है कि "लोक" पद पितृगृह का भी वाचक है।]

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभि संबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥६॥

(यत्र) जिस गृहस्थ में (सुहार्दाम्) उत्तम हार्दिक भावनाओंवालों का तथा (सुकृताम्) सुकर्मियों का (लोकः) स्थान है, या दर्शन होता है, (यत्र) जिस गृहस्थ में (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र करनेवालों का (लोकः) स्थान है, या दर्शन होता है, (तं लोकम्...) आदि, पूर्ववत्।

[लोकम्=लोकृ दर्शने (भ्वादिः)। मनु ने गृहस्थ के लिये पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है, उनमें अग्निहोत्र भी एक महायज्ञ है।]

सूक्त २९

(१-८)। उद्दालकः। शितिपादविः देवता; ७ कामः देवता; भूमिः देवता। अनुष्टुप्, १-३ पथ्यापंक्ति; ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टाद्दैवी बृहती ककुम्मतीगर्भा-विराड् जगती; ८ उपरिष्टाद् बृहती।

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥१॥

(इष्टापूर्तस्य षोडशम्) यज्ञों और सामाजिक उपकारों के (यत्) जिस १६वें भाग को भी (राजानः) राजा लोग (विभजन्ते) राष्ट्र-कर रूप में विभक्त कर लेते हैं, (अमी) तो ये राजा लोग (यमस्य) नियन्ता मृत्यु के (सभासदः) सभासद् होते हैं। (तस्मात्) उस पाप से, (अविः दत्तः) राष्ट्र के प्रति समर्पित किया गया प्रत्येक [राजा] का आत्मा, जोकि शरीर-रक्षक है, वह (प्रमुञ्चति) दण्ड से प्रमुक्त कर देता है, जबकि वह राजा

(शितिपात्) शुभ्रगतिक अर्थात् शुभ्राचारी हुआ (स्वधा[1]) अपने राष्ट्र का धारण-पोषण करनेवाला हो जाता है।

[यज्ञ और सामाजिक उपकार के काम राष्ट्र की रक्षा करते हैं। उन पर राष्ट्र-कर लगाना वैदिक प्रथा के विरुद्ध है। जो राजा इन रक्षा के कामों पर राष्ट्र-कर लगाते हैं, वे पापकर्म करते हैं। परन्तु जो-जो राजा निज आत्मा को राष्ट्ररक्षा के निमित्त सुपुर्द कर देता है, वह राष्ट्र का अवि अर्थात् रक्षक होकर शुद्धाचारी हो जाता है, वह राष्ट्रदण्ड से प्रमुक्त कर दिया जाता है। वेद में वेदवक्ता—ब्रह्मज्ञ पर शुल्क लगाना निषिद्ध है (अथर्व० ५।१९।३), क्योंकि इसका धन सोम आदि यज्ञों के निमित्त होता है, सोम आदि यज्ञ ही इसके दायाद अर्थात् सम्पत्ति के खानेवाले, उत्तराधिकारी होते हैं (अथर्व० ५।१८।६)। प्रजोपकारी कर्मों पर तथा यज्ञकर्मों पर व्यय किये गए धन पर "राज्य-कर" लगाना पापकर्म है। स्वधा [छान्दस प्रयोग]=स्व+धाः; धा=धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। शितिपात् या शितिपाद् की विशेष व्याख्या के लिये देखो (मन्त्र २) की व्याख्या। अथवा स्वधा अन्ननाम है, (निघं० २।७) अर्थात् इष्टापूर्त के १६वें विभाग को राज्यकर में विभक्त करनेवाला राजा यम अर्थात् मृत्यु का अन्नरूप हो जाता है, प्रजा द्वारा मार दिया जाता है।]

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥२॥

(आ भवन्) समग्र [राष्ट्र] में सत्तावाला, (प्रभवन्) प्रभाववाला अर्थात् प्रभु हुआ, (भवन्) तथा विद्यमान हुआ, (आकूतिप्रः) संकल्पों को पूर्ण करनेवाला, (शितिपात्) शुष्क अर्थात् निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाला [राजा], (अविः) प्रजारक्षक हुआ, (दत्तः) प्रजा द्वारा निर्वाचित अर्थात् समर्पित किया, (न उपदस्यति) नहीं क्षीण होता।

[मन्त्र (१) में धार्मिक तथा प्रजोपकारी कार्यों में लगाए धन पर भी राज्य-कर लगानेवाले राजाओं में, प्रत्येक राजा के लिए प्रायश्चित्त विधान किया है। उसी राजा का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है। जो राजा प्रायश्चित्त कर लेता है, राष्ट्र में वह (अविः) प्रजारक्षक हुआ, [न कि अनुचित राज्य-कर लगाकर प्रजारक्षक हुआ], (शितिपात्) शारीरिक

१. इष्टापूर्त पर राज्यकर लगाना, तथा राजा के स्वोपभोग के लिए 'राजकर' लगाना वेद-निषिद्ध है। केवल राष्ट्रोन्नति के लिए "राष्ट्रकर" या साम्राज्य-कर लगाना वेदानुमोदित है।

पाद आदि अङ्गों में निर्मल हुआ, संकल्पों को पूर्ण कर लेता है, और प्रजा का प्रभु बनकर रहता है, तथा प्रजा द्वारा दण्डित नहीं होता। ऐसा राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित हुआ शासन के लिये समर्पित किया जाता है। शितिपात्=“जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः” (यजु० २०।९) में, सम्राट् कहता है कि “मैं जङ्घाओं और पादों द्वारा धर्मरूप हूँ, धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरी प्रतिष्ठा, दीर्घस्थिति या ख्याति प्रजा पर निर्भर है। सम्राट् की यह धार्मिक भावना “शितिपात् या शितिपाद्” में निहित है। आकूतिप्रः=आकूतिः (संकल्प)+प्रः (प्रा पूरणे, अदादिः)। दस्यति (दसु उपक्षये, दिवादिः)।]

यो ददा॑ति शि॒तिपा॑दमविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम्।
स नाक॑म॒भ्यारो॑हति॒ यत्र॑ शु॒ल्को न क्रि॒यते॑ अब॒लेन॒ बली॑यसे ॥३॥

(यः) जो प्रजावर्ग (लोकेन संमितम्) लोक द्वारा सम्यक्—मापे गये, जाँचे गए, (शितिपादम्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाले, (अविम्) रक्षा करनेवाले व्यक्ति को (ददाति) राष्ट्र के लिए देता है; (सः) वह प्रजावर्ग (नाकम्) सुखविशेष को [स्वर्गीय या मोक्षसम्बन्धी सुख को] (अभि) लक्ष्य कर, (आरोहति) आरोहण करता है, बढ़ता है, (यत्र) जहाँ (अबलेन) बलहीन द्वारा (बलीयसे) अधिक बलवान् के लिए (शुल्कः[1]) “राज-कर” (न क्रियते) नहीं किया जाता, दिया जाता। “राज-कर” भिन्न है “राज्य-कर” से।

[यः=प्रजावर्ग। प्रजावर्ग, लोकसम्मत व्यक्ति को निर्वाचित कर राष्ट्र के लिए समर्पित करता है, ताकि वह “अवि” अर्थात् राष्ट्र-रक्षक होकर शासन करे, और राजवर्ग अनुचित स्वभोगार्थ “राज-कर” बलात्कार न ले सके। इससे प्रजावर्ग सुखविशेष को प्राप्त करता है। मन्त्र में “अध्यारोहति” पाठ नहीं, अपितु “अभ्यारोहति” पाठ है। मन्त्र (१) में “राजानः विभजन्ते” की ओर निर्देश है। इसे “अबलेन बलीयसे” द्वारा निर्दिष्ट किया है।]

पञ्चा॑पूपं शि॒तिपा॑दमविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम्।
प्र॒दा॒तोप॑ जीवति पितॄ॒णां लो॒केऽक्षि॑तम् ॥४॥

(पञ्चापूपम्) पाँच इन्द्रियों की अपवित्रता से निज को सुरक्षित

1. शुल्कः=अधिकबलस्य राज्ञो न्यूनबलेन परिसरवर्त्तिना राज्ञा देयः “कर” विशेषः (सायण)।

करनेवाले, (शितिपादम्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाले, (लोकेन संमितम्) प्रजावर्ग द्वारा सम्यक् प्रकार से माप लिये गये, जाँच लिये गए (अविम्) रक्षा करनेवाले व्यक्ति को (प्रदाता) प्रदान करनेवाला (उप जीवति) जीवित करता है, (पितृणां लोके) पितरों की लोकसभा में (अक्षितम्) न क्षीणकाल तक।

[पञ्च=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। अपूपम्=अ+पूञ् पवने (क्र्यादिः)+पा (रक्षणे) पितृणाम् लोके=यथा “सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदामि पितरः सङ्गतेषु।” (अथर्व० ७।१२।१-४)। उपजीवति=इन पितरों के लोक में प्रदाता का नाम सदा विश्रुत रहता है।]

पञ्चा॑पूपं शि॒तिपा॑दमविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम्।
प्र॒दा॒तोप॑ जीव त सूर्या॒मा॒सयो॒रक्षि॑तम् ॥५॥

मन्त्र में तीन पादों का अर्थ, पूर्ववत्, मन्त्र (४) में। “सूर्यामासयोः” सप्तमी विभक्ति द्विवचन। “मास” शब्द चन्द्रमस् पद का उत्तरांश है। यथा देवदत्तः दत्तः। अभिप्राय यह सूर्य और चन्द्र में, अर्थात् दिन और रात्री में। सूर्य का काल है दिन, और चन्द्रमा का काल है रात्री। अर्थात् दिन-रात प्रदाता का नाम अक्षीण रूप में विश्रुत रहता है।

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत्।
दे॒वौ स॑वा॒सिना॑विव शि॒तिपा॒न्नोप॑ दस्यति ॥६॥

(शितिपात्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाला [रक्षक राजा, मन्त्र ४] (इरा इव) भूमि की तरह (न उपदस्यति) नहीं क्षीण होता, (समुद्रः इव पयो महत्) समुद्र जैसे महा जलराशि द्वारा क्षीण नहीं होता, तथा (इव) जैसे (सवासिनौ देवौ) सहवासी दो देव अश्विनौ क्षीण नहीं होते वैसे शितिपात् (नोप दस्यति) नहीं क्षीण होता।

[इरा=पृथिवीनाम (निघं० १।१)। शितिपात्—राजा, यतः अवि है, प्रजारक्षक है, अतः वह राजपद से क्षीण नहीं होता, प्रजा द्वारा पदच्युत नहीं किया जाता।]

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् काम॒ः कामा॑यादात्।
कामो॑ दा॒ता काम॑ः प्रतिग्र॒ही॒ता काम॑ः समु॒द्रमा वि॑वेश।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑गृह्णा॒मि कामै॒तत् ते॑ ॥७॥

(कः) किसने (इदम्) यह राजपद (अदात्) दिया है, (कस्मै) किसके लिये दिया है । (कामः) कामना ने (कामाय अदात्) कामना के लिये दिया है । (कामः दाता) कामना देनेवाली है, (कामः प्रतिग्रहीता) कामना ग्रहण करनेवाली अर्थात् स्वीकार करनेवाली है, (कामः) कामना (समुद्रम् आविवेश) हृदय-समुद्र में प्रविष्ट हुई है । (कामेन) कामना द्वारा (त्वा) तुझ राजपद को (प्रतिगृह्णामि) मैं राजा स्वीकार करता हूँ । (काम) हे कामना ! (एतत्) यह राजपद (ते) तेरे लिये या तेरा है ।

[अभिप्राय यह कि प्रजा ने यदि राजा को राजपद दिया, तो अपनी कामना की पूर्ति के लिये दिया, ताकि उसकी सुरक्षा हो सके, और राजा ने जो राजपद ग्रहण किया, वह इसलिये की प्रजा में उसका मान और यश हो सके । इस प्रकार प्रदान-और-प्रतिग्रह परस्पर की स्वार्थपूर्ति के लिये हैं । इस प्रदान और प्रतिग्रह की कामना का स्रोत हृदय-समुद्र है । हृदयात्समुद्रात् (यजु० १७।९३) तथा (अथर्व० १६।३।६) । इस प्रकार सांसारिक व्यवहार "प्रदान-प्रतिग्रह," स्वार्थपूर्ति के अधीन हैं । कामना के सम्बन्ध में तत्वदर्शन की व्याख्या के लिये देखो याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद (अध्याय ४ । ब्राह्मण ५ । सन्दर्भ ६ बृहदारण्यक उपनिषद्) ।]

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८॥

[हे राजपद !] (त्वा) तुझे (भूमिः) राष्ट्रभूमि (प्रतिगृह्णातु) स्वीकार करे, तथा (इदम्) यह (महत् अन्तरिक्षम्) राष्ट्र का महा अन्तरिक्ष स्वीकार करे । (प्रतिगृह्य) तुझे हे राजपद ! स्वीकार करके (अहम्) मैं राजा (मा प्राणेन) न प्राण से, (मा आत्मना) न शरीररथ जीवात्मा से, (मा प्रजया) न प्रजा से (वि राधिषि) कहीं वर्जित हो जाऊँ ।

[विराधिषि=वि+राध (संसिद्धौ, स्वादिः), संसिद्धि से विमुक्त होना । मा विराधिषि=मैं कहीं संसिद्धि से विमुक्त न हो जाऊँ । अभिप्राय यह कि राजपद का ग्रहण करना विपत्ति से रहित नहीं । विरोधी प्रजा के उत्थान हो जाने से राजा स्वयम् और उसका परिवार विपत्तिग्रस्त हो सकता है । अतः मानों राजपद मैंने स्वीकार नहीं किया, अपितु राष्ट्रभूमि ने और राष्ट्र के अन्तरिक्ष ने स्वीकार किया है । मैं तो इनका प्रतिनिधि होकर राजपद को स्वीकार कर रहा हूँ । प्रजा जब भी चाहे मैं प्रतिनिधित्व का परित्याग कर दूंगा ।

जितने भूखण्ड पर जिसका राज्य होता है, उतने भूखण्ड के ऊपर का महत् अन्तरिक्ष भी उसीका होता है, यह दर्शाने के लिये भूमि के साथ

अन्तरिक्ष का भी कथन हुआ है । अन्तरिक्ष वहीं तक होता है, जितनी ऊँचाई तक कि वायुमण्डल होता है, यतः अन्तरिक्ष का देवता वायु है ।]

सूक्त ३०

(१-७) । अथर्वा । चन्द्रमाः; सांमनस्यम् ।
५ विराड्जगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः; ७ त्रिष्टुप् ।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

[हे सद्गृहस्थो !] (वः) तुम्हारे लिये (सहृदयम्) समानहृदय, (सांमनस्यम्) समान मन, (अविद्वेषम्) द्वेष का अभाव (कृणोमि) मैं परमेश्वर नियत करता हूँ, (अन्यो अन्यम्) परस्पर एक-दूसरे को (अभि हर्यत) कामना किया करो, एक-दूसरे को चाहा करो । (अघ्न्या जातं वत्समिव) गौ जैसे नवजात वत्स को चाहती है ।

[हृदयों की समानता है भावनाओं की समानता, परस्पर प्रेम । मनों की समानता है विचारों की समानता । दो प्रकार की समानता हो जाने पर पारस्परिक द्वेष का अभाव हो जाता है । तथा परस्पर के साथ मिलने की कामना अर्थात् इच्छा किया करो, जैसेकि गौ नवजात निज वत्स को चाहती है, उसके साथ प्रेम करती है । अघ्न्या का अर्थ है, न-हन्तव्या, जिसका कि हनन न करना चाहिये ।]

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

(पुत्रः) पुत्र (पितुः अनुव्रतः) पिता के अनुकूल कर्मों को करनेवाला हो, (मात्रा संमनाः भवतु) और माता के साथ समान मनवाला हो । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिये (मधुमतीम्) मधुर अर्थात् मीठी, (शन्तिवाम्) तथा शान्तिप्रद (वाचम्) वाणी को (वदतु) बोला करे । व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१) ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

(मा) न (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (द्विक्षत्) द्वेष करे, (मा) न (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन के साथ द्वेष करे। (सम्यञ्चः) सम्यक् व्यवहारोंवाले, (सव्रताः) तथा समान कर्मोंवाले (भूत्वा) होकर, (भद्रया) सुखदायक तरीके के साथ (वाचम् वदत) वाणी बोला करो।

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः।
तत् कृ॑ण्मो ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥४॥

(येन) जिस द्वारा (देवाः) माता-पिता आदि देव (न वियन्ति) न विरुद्ध-विरुद्ध मार्ग पर चलते हैं, (नो च) और न (मिथः) परस्पर (विद्विषन्ते) विद्वेष करते हैं, (तत्) उस (ब्रह्म) अर्थात् वेद को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) हम नियत करते हैं, जोकि (पुरुषेभ्यः) गृहस्थ पुरुषों के लिये (संज्ञानम्) गृहजीवन सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान देता है। देवाः=मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव (तैत्तिरीय उपनिषद् अनुवाक ११, सन्दर्भ २)। गृहस्थ पुरुषों के लिये वेदस्वाध्याय नियत किया है, ताकि उन्हें गृहस्थधर्मों का सम्यक्-ज्ञान हो सके।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ स॒ध्रीचीना॑न् वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥५॥

(ज्यायस्वन्तः) बुजुर्गों की सत्तावाले, (चित्तिनः) निज-निज कर्त्तव्यों में सचेत, (संराधयन्तः) मिलकर गृह्यकार्यों को सिद्ध करते हुए, (सधुराः) गृहशकट की समान धुरा में (चरन्तः) मिलकर चलते हुए (मा वि यौष्ट) परस्पर वियुक्त अर्थात् पृथक् न होओ। (अन्यो अन्यस्मै) एक-दूसरे के लिये (वल्गुः) शोभन अर्थात् प्रियवचन (वदन्तः) बोलते हुए (एत) घर में आया करो, (सध्रीचीनान् वः) साथ-साथ गृहकार्यों में चलते हुए तुम्हें (संमनसः) एक-विचारोंवाले (कृणोमि) मैं परमेश्वर करता हूँ।

[सधुराः=शकट की एक-धुरा में लगे बैल जैसे परस्पर मिलकर चलते हैं, वैसे गृहस्थ-शकट की धुरा में लगकर तुम सब परस्पर मिलकर चला करो। एत=बाहर के कामों से निवृत्त होकर जब घर आया करो, तो एक-दूसरे के प्रति प्रियभाषण किया करो।]

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि।
स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥६॥

(समानी प्रपा) एक-पानीयशाला हो, (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) अन्न का सेवन (सह) साथ-साथ हो। (समाने योक्त्रे) एक-जुए में (वः) तुमको (सह) साथ-साथ (युनज्मि) मैं जोतता हूँ; (सम्यञ्चः) परस्पर संगत हुए अर्थात् मिलकर (अग्निम्) अग्निहोत्र की अग्नि की (सपर्यत) पूजा किया करो, (इव) जैसे कि (नाभिम् अभितः) रथचक्र की नाभि अर्थात् केन्द्र के चारों ओर (अराः) अरा लगे होते हैं।

[अभिप्राय यह, गृहवासियों का खाना-पीना एक-सा और साथ-साथ बैठकर होना चाहिए। अन्नभागः=भज सेवायाम्। समाने योक्त्रे=सधुराः चरन्तः (मन्त्र ५)। सपर्यत=सपर पूजायाम् (कण्ड्वादिः)। अराः=जैसे रथचक्र के केन्द्र के चारों ओर अरा लगे रहते हैं, वैसे अग्निहोत्र में अग्नि-कुण्ड के चारों ओर बैठकर अग्निहोत्र किया करो। अराः=spokes.]

स॒ध्रीची॒नान् वः॒ संम॑नसस्कृणो॒म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न्।
दे॒वा इ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु ॥७॥

गृहकार्यों के सम्पादन में (वः) तुम्हें, (सध्रीचीनान्) साथ-साथ चलनेवालों अर्थात् सहोद्योगियों को (संमनसः) एकमनवाले, एकविचारवाले (कृणोमि) मैं परमेश्वर करता हूँ, (संवननेन) तथा पारस्परिक मेल, सहमति द्वारा (सर्वान्) सबको (एकश्नुष्टीन्) एकविध अन्न का भोजन करनेवाले करता हूँ। (देवाः) मातृदेव तथा पितृदेव या अन्य दिव्यगुणी (इव) जैसे (अमृतम्) निज अमरपन की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सौमनसः) प्रसन्नचित्त होते हैं, वैसे (सायम् प्रातः) सायम् तथा प्रातःकाल (वः) तुम्हारे (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (अस्तु) हो।

[देवाः अमृतम्=गृहस्थ में रहते मातृदेव तथा पितृदेव, गृह्यकार्यों में व्यापृत रहते हुए भी, निज अमरपन को न भूलें, उसकी सदा रक्षा करते रहें। श्नुष्टीन्=अश भोजने (क्र्यादिः)। एकश्नुष्टिम्=एकविधस्य अन्नस्य भुक्तिम् (सायण)।]

सूक्त ३१

(१-११)। ब्रह्मा। पापनाशनम्। अनुष्टुप्; ४ भुरिज्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।

वि दे॒वा ज॒रसा॑वृत॒न् वि त्वम॑ग्ने॒ अरा॑त्याः।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥१॥

(देवाः) सूर्य, चन्द्र आदि देव (जरसा) जीर्णावस्था से (वि अवृतन्) वियुक्त हैं, पृथक् हैं, (अग्ने) हे यज्ञियाग्नि ! (त्वम्) तू (अरात्याः) अदान से (वि) वियुक्त है, पृथक् है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप से (वि) वियुक्त हो जाऊँ (यक्ष्मेण वि) और यक्ष्मरोग से वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा सम्) स्वस्थ तथा दीर्घायु से सम्पन्न हो जाऊँ।

[सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य-तत्त्व जब से पैदा हुए हैं, निज शक्तियों द्वारा तरुणावस्था में हैं। यज्ञियाग्नि में भी जो हवि डाली जाती है, वह सुसंस्कृत होकर वायुमण्डल में फैल जाती है। अतः यज्ञियाग्नि अदानी नहीं। मैं रोगी भी सब पापों से और यक्ष्मरोग से वियुक्त होकर स्वस्थ आयु से संयुक्त हो जाऊँ, ऐसी अभिलाषा या प्रार्थना है। पापों से वियुक्त हो जाने पर, रोगों से वियुक्त होकर, स्वस्थ आयु प्राप्त होती है।]

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥२॥

(पवमानः) पवित्र व्यक्ति (आर्त्या) पीड़ा से (वि) वियुक्त होता है, (शक्रः) धर्म में शक्तिशाली (पापकृत्यया) पापकर्म से (वि) वियुक्त होता है; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥३॥

(ग्राम्याः पशवः) ग्राम के पशु (आरण्यैः) अरण्य के पशुओं से (वि) वियुक्त हैं, (आपः) जल (तृष्णया) पिपासा से (वि असरन्) वियुक्त हैं; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥४॥

(इमे) ये (द्यावापृथिवी) द्यौ-और-पृथिवी (वि इतः) विगत हैं, परस्पर वियुक्त हैं, (पन्थानः) मार्ग (दिशंदिशम्) प्रतिदिशा में (वि) विगत होते हैं, अर्थात् केन्द्र स्थान से भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य३हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥५॥

(त्वष्टा) सूर्य (दुहित्रे) निज दुहिता के लिये (वहतुम्)[1] विवाह की (युनक्ति) योजना करता है, (इति) इस हेतु (विश्वम् भुवनम्) समग्र भूत-जात (वियाति) विगत हो जाता है; (अहम्) मैं भी (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

[त्वष्टा=सूर्य, यथा—"त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः" (निरुक्त ८।२।१३)। सूर्य की दुहिता है सौररश्मि। इसकी एकरश्मि चन्द्रमा में जाकर चन्द्रमा के गृह को प्रकाशित करती है, यह है सौरदुहिता का चन्द्रमा के साथ विवाह। "अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। आदित्य-तोऽस्य दीप्तिर्भवति" (निरुक्त २।२।६)। तथा "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु० १८।४०), अर्थात् सूर्य की रश्मि उत्तम सुखदायी है, और चन्द्रमा उस गो-नामक रश्मि को धारण करता है। तथा "अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥" (ऋ० १।८४।१५), पद ५४ (निरुक्त ४।४), अर्थात् सूर्य की रश्मियों ने सूर्य से पृथक् होकर चन्द्रमा के घर में जाना मान लिया, स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सूर्य की दुहिता का विवाह चन्द्रमा के साथ होता है। इस विवाहकाल में "वि याति" की भावना निम्नलिखित है—

वेदानुसार बाल-विवाह निषिद्ध है और युवा-विवाह अनुमोदित है। शुक्लपक्ष में चन्द्रमा का युवापन पूर्णिमा के दिन होता है। इस दिन आदित्य भी अस्तंगत हुआ होता है और द्युलोक के नक्षत्र और तारागण भी चन्द्रमा

---

१. वहतुम्=विवाह (अथर्व० १४।१।१४)।

के पूर्ण प्रकाश में दृष्टिगोचर नहीं होते और छिप जाते हैं । यह है "विश्वं भुवनं वियाति" ।]

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥६॥

(अग्निः) जाठराग्नि (प्राणान्) प्राणों को (सं दधाति) शरीर के साथ सम्बद्ध करती है, (चन्द्रः) चन्द्रमा (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) सम्बद्ध है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) सम्बद्ध हो जाऊँ ।

[चन्द्र ओषधियों में रसाधान करता है, ओषधियों के सेवन से हमें प्राणशक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार चन्द्र का प्राणों के साथ सम्बन्ध है । मन्त्र के पूर्वार्ध में "वि" द्वारा "वियोग" न कहकर, "सम्" द्वारा सम्बन्ध अर्थात् संयोग कहा है । इससे "समायुषा" के भाव को परिपुष्ट किया है ।]

प्रा॒णेन॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॒ समै॑रयन् ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥७॥

(देवाः) परमेश्वर की दिव्य शक्तियों ने (विश्वतोवीर्यम्) समग्रवीर्यों वाले (सूर्यम्) सूर्य को (प्राणेन) प्राण द्वारा (समैरयन्) सम्यक्-प्रेरित किया है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त होऊँ ।

[देवाः=दिव्य शक्तियाँ हैं, कामना अर्थात् इच्छा; सर्वज्ञता, तथा कृति शक्ति । परमेश्वर ने सूर्य में प्राण प्रदान किया है, जिस द्वारा वह उत्पत्तिकाल से चमकता और चमका रहा है । सौर परिवार में सूर्य सर्वाधिक वीर्यवान् है, शक्तिसम्पन्न है ।]

आयु॑ष्मतामायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥८॥

(आयुष्मताम्) दीर्घ आयुवालों तथा (आयुष्कृताम्) दीर्घ और स्वस्थ आयु करनेवालों के (प्राणेन) प्राण द्वारा (जीव) तूँ जीवित रह, (मा मृथाः) और न मृत्यु को प्राप्त हो । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब

पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ आयु से सम्पन्न होऊँ ।

[प्राणेन=प्राणवायुना (सायण) । पृथिवी, चन्द्रमा, आदित्य, स्वयम् दीर्घ आयुवाले, और प्राणियों को आयु प्रदान करते हैं । पृथिवी जीवन के लिये अन्नरूपी प्राण प्रदान करती, चन्द्रमा ओषधियों में रस प्रदान कर जीवन के लिये रसरूपी प्राण प्रदान करता है, और आदित्य ताप-प्रकाशरूपी प्राण प्रदान करता है । पृथिवी "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः ।"]

प्रा॒णेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥९॥

[हे जीव !] (प्राणताम्) प्राण लेनेवाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण धारण करने के सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहाँ प्राण ले और (इह एव भव) यहाँ ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु से (सम्) सम्बद्ध होऊँ ।

उदायु॑षा समायु॒षोदोष॑धीनां॒ रसे॑न ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥१०॥

(आयुषा) आयु द्वारा (उत्) उत्थान करूँ, (आयुषा) आयु द्वारा (सम्) समुन्नत होऊँ, (ओषधीनाम् रसेन) ओषधियों के रस द्वारा (उत्) उत्थान करूँ । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु से (सम्) सम्बद्ध होऊँ ।

[ओषधियों के रसों के सेवन द्वारा आयु स्वस्थ होती और समुन्नत होती है । इससे पापों के करने से सेवक बचा रहता, तथा यक्ष्म आदि रोगों से छुटकारा पा लेता है ।]

आ प॒र्जन्य॑स्य वृ॒ष्ट्योद॑स्थामा॒मृता॑ व॒यम् ।
व्य॑१हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥११॥

(आ) सब ओर अर्थात् सर्वत्र (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा के कारण, (वयम्) हम (उदस्थाम) स्वास्थ्य में उन्नत तथा खड़े हो गए हैं, (अमृताः) और मृत्यु से रहित हो गये हैं । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब

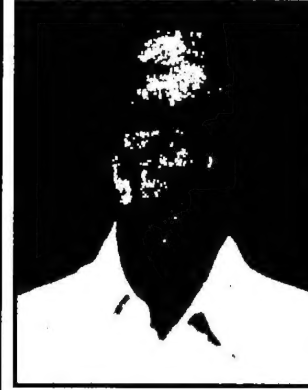
पापों से (वि) वियुक्त हो गया हूँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो गया हूँ, और (समायुषा) स्वस्थ तथा दीर्घायु से सम्पन्न हो गया हूँ।

[मेघ की सर्वत्र वर्षा से वायु का सूखापन तथा गर्मी शान्त हो जाती है, और रोगी अपने को सुखी अनुभव करने लगते हैं। यह अनुभूति शीघ्र मृत्यु से बचाती है। इसे अमृत कहा है।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त

॥ तृतीय काण्ड समाप्त ॥

भाष्यकार का परिचय



नाम—प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी— श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता— श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान— मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा— प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठाशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन— सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान— सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

अन्य लेखन— **१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।**
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार— विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन— १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।

श्रीमहालक्ष्मी